॥ ओ३म् ॥

उपनिषद्-भाष्य

(ईश, केन, कठ)

भाष्यकार तथा सम्पादक :

आचार्य राजवीर शास्त्री

प्रकाशक :

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

४र्थ संस्करण, जून २०१०

उपनिषद्-भाष्य

प्रकाशक/विक्रय-केन्द्र

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
मुख्यालय :
४२७, नयाबांस, दिल्ली-६
चलभाष कार्यालय : ९६५०५२२७७८, ९६५०६२२७७८

मूल्य : ५० रु०

दयानन्दाब्द	:	१८७
विक्रमाब्द	:	२०६७
सृष्टि-संवत्	:	१,९६,०८,५३,१११
पूर्व प्रकाशित	:	९,५००
प्रस्तुत ४र्थ संस्करण	:	२,०००
कुल योग	:	११,५००

शब्दयोजना :
वैदिक प्रेस, फोन: २२०८१६४६

मुद्रक :
व्रजवासी आर्ट प्रैस लि०
ए-८१, सैक्टर-५,
नोएडा-२०१३०१ (उ०प्र०)

विषय-सूची

ईशावास्योपनिषद् की विषय-सूची

केनोपनिषद् की विषय-सूची

कठोपनिषद् की विषय-सूची

प्राक्कथन

उपनिषदों का महत्त्व–

मनुष्य सांसारिक दु:खों से सन्तप्त होकर सृष्टि के आदिकाल से परमशान्ति तथा शाश्वत सुख की खोज करता रहा है । सांसारिक भोगों के सुख क्षणिक तथा नश्वर होते हैं, उनमें शाश्वत-सुखों की आशा करना मरु-मरीचिकाओं में जल समझने के समान ही है । सांसारिक भोगों को भोगते-भोगते मानव समस्त जीवन बिता देता है, किन्तु परम सुख प्राप्त नहीं होता । महाराज भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि–

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ॥ (भर्तृहरि०)

अर्थात् भोग भोगे नहीं जा सकते, हमें ही भोग खा जाते हैं । अर्थात् जीवन समाप्त हो जाता है कि भोग-कामनाओं की तृप्ति नहीं होती । मनु जी के शब्दों में भोगों को भोगने से–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (मनु०)

कभी भी वासनाओं की शान्ति नहीं होती, प्रत्युत कामनाओं की वैसी ही वृद्धि होती है, जैसे घृतादि से अग्नि प्रचण्ड हो जाती है । धन-धान्यादि से सम्पन्न देश इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उन देशों में भौतिक सुखों की न्यूनता न होते हुए भी सुख व शान्ति कहाँ ? उपनिषत्कार ने ठीक ही कहा है कि–

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । (कठोप० २।२७)

अर्थात् मनुष्य सांसारिक धनों या पदार्थों से कभी तृप्त नहीं हो सकता । समस्त वैदिक दर्शनों का भी यही लक्ष्य रहा है कि शाश्वत-सुख (मोक्ष) कैसे उपलब्ध हो सके । संसार की प्राचीनतम पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान वेदों में मोक्ष-प्राप्ति या परम सुख का उपाय शुद्धान्त:करण करके धर्मानुष्ठान करते हुए परब्रह्म का जानना ही है । वेद में कहा है–

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।
(यजु० ३१।१८)

यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः । (यजु० २५।१३)

अर्थात् परब्रह्म को जानकर ही मृत्यु=दु:खों से पार होकर मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है, इससे भिन्न और कोई उपाय नहीं है । क्योंकि उस परमब्रह्म का आश्रय (शरण) अमृत=मोक्ष सुखप्रद है और जिसकी अकृपा या उपासना न करना ही मृत्यु=दु:खों का कारण है । उस परब्रह्म को जानने व प्राप्त करने के लिए ऋषि-मुनियों ने जीवन भर तपस्यारत होके जो ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) प्राप्त किया है, उसी का संग्रह उपनिषद् ग्रन्थों में है । इसलिए इन्हें ब्रह्मज्ञान की उत्कृष्टतम पुस्तकें भी माना जाता है ।

'उपनिषद्' शब्द का यौगिकार्थ भी इसी बात की पुष्टि करता है। इस शब्द में 'उप' तथा 'नि' दो उपसर्ग तथा 'षद्लृ' धातु है । जिसका अर्थ यह है-**'उप सामीप्येन नितरां सीदन्ति प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद् ।'** अर्थात् उपनिषद् वह विद्या है, जिसके द्वारा परब्रह्म का ज्ञान होने से परब्रह्म के सामीप्य को प्राप्त किया जा सके । और उपनिषत्=परब्रह्म-ज्ञान का प्रतिपादन करने से 'ईशादि' ग्रन्थों का नाम भी उपनिषद् प्रसिद्ध हुआ । श्री शङ्कराचार्य जी ने उपनिषत् की व्याख्या करते हुए लिखा है-**"सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषद् वाच्या संसारस्यात्यन्तावसादनात् उपपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात् ग्रन्थोऽप्युपनिषद् उच्यते ।"** (बृहदा० भूमिका) अर्थात् यह उपनिषद् नामक ब्रह्मविद्या संसार के अत्यन्त अवसादन=उच्छेद करने के लिए है । उपपूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ होने से । किन्तु यह सत्य नहीं है । उपनिषत् से दु:खोच्छेद होता है, संसारोच्छेद नहीं । यह-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने से **'रहस्य'** नाम से भी जानी जाती है । व्याकरण महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने उपनिषत् को **'रहस्य'** नाम देकर लिखा है-

चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः ।

(महा० पस्पशा०)

महर्षि पाणिनि ने **'जीविकोपनिषदावौपम्ये'** (अ० १।४।६९) सूत्र में 'उपनिषत्' शब्द का 'छिपाने अर्थ' में प्रयोग किया है । उपनिषत्कृत्य गत: ।' अर्थात् किसी बात को छिपाकर अथवा 'रहस्यात्मक' बनाकर चला गया । इससे भी उपनिषद् विद्या का रहस्यात्मक स्वरूप ही प्रकट होता है । कठोपनिषद् में नचिकेता के तीसरे वरदान के रूप में आत्मविद्या के पूछने पर यमाचार्य ने उसको अनेक प्रकार के प्रलोभन

दिये और अन्त में उसको योग्यतम विद्याधिकारी समझ कर आत्मविद्या का उपदेश करते हुए इस विद्या के विषय में कहा था–

आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ (कठो० २।७)

अर्थात् इस विद्या का उपदेष्टा तथा श्रोता दोनों ही विरले होते हैं। कोई आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाला ही इस विद्या का उपदेश कर सकता है । दूसरे पुरुषों की इसमें गति ही नहीं होती । और **'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः'** के अनुसार आत्मज्ञान परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है ।

भारतीय तत्त्वदर्शी परमात्म-द्रष्टा ऋषि-मुनियों ने इस रहस्यात्मक विद्या का पूर्णरूप से ज्ञान करके विश्व को सर्वप्रथम उपदेश दिया था। इसलिए भारत देश को विश्व के दार्शनिक आज भी आध्यात्मिक क्षेत्र में विश्व का गुरु मानते हैं । इस उपनिषद्-विद्या से वैदिक धर्मी ही नहीं, प्रत्युत अनेक विधर्मी व विदेशी भी इन्हें पढ़कर मन्त्रमुग्ध से रह गए हैं। इस्लामधर्मावलम्बी दाराशिकोह; मंसूर, सर्मद, फैजी तथा बुल्लाशाह की उपनिषद्-भक्ति से कौन भारतीय परिचित नहीं है ? दाराशिकोह ने औपनिषद-सिद्धान्तों को स्वीकार ही नहीं किया, प्रत्युत फारसी भाषा में इसका अनुवाद भी किया और उन सिद्धान्तों को अपने जीवन का सर्वस्व भी बनाया । मंसूर और सर्मद ने तो सिर देकर भी उपनिषद्-सिद्धान्तों को नहीं छोड़ना चाहा । पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर, शोपेनहार और गोल्डस्टकर आदि ने उपनिषदों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है ।

विदेशी विद्वानों के विचार–

१."उपनिषद् वेदान्तदर्शन के आदिस्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे मानवी भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच गई मालूम होती है ।" (मैक्समूलर)

२. "सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जाने वाला हो । वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं । उपनिषद् मेरे जीवन रूपी सरोवर में अमृत सींचने वाले हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनता का धर्म होगा ।" (शोपेनहार दार्शनिक)

३. "वेदान्त सब से ऊंचे दर्जे का मन्त्र है जिसे पूर्वीय विचारधारा ने प्रवृत्त किया है ।" (डॉ० गोल्डस्टकर)

४. "संसार में सुकरात, अरस्तु, अफलातून आदि सैकड़ों धुरन्धर विद्वान् हो चुके हैं, परन्तु सब से अधिक विद्वान् वे थे, जिन्होंने उपनिषदों की रचना की । इनसे बढ़कर न कोई विद्वान् हुआ है और न भविष्य में कोई होगा ।" (मिस्टर होम)

५. "उपनिषदों का ज्ञान प्रत्येक निराशावादी के हृदय के लिए अति सन्तोषजनक और शान्ति-उत्पादक होता है । ये परमात्मा की प्राप्ति के लिए ऐसे ही हैं जैसे प्रातःकालीन वाटिका का भ्रमण मन को आह्लादित करता है । अञ्जील में तो खुदा मनुष्यों की खोज में है, परन्तु उपनिषदों में मनुष्य परमात्मा की खोज में फिरता है ।" (पादरी मर्डक)

६. "जिन समस्याओं को रोमन, ग्रीक सुलझा न सके, जिन प्रश्नों ने मध्यकालीन और आधुनिक विज्ञान-वेत्ताओं को परेशान कर रक्खा है, उन सब का उत्तम और समुचित उत्तर दर्शनों (उपनिषदों) में विद्यमान है ।" (सर डब्ल्यू० हण्टर)

७. "सन् १७७५ में एंक्वेटिल डूपारन को दाराशिकोह द्वारा अनूदित फारसी की पाण्डुलिपि देखने को मिली । उसने फारसी का अनुवाद फ्रेंच तथा लैटिन भाषा में किया । उसमें डूपारन महोदय लिखते हैं"-

"ये उपनिषद् योगविद्या और ब्रह्मविद्या के भण्डार हैं । जैसे-जैसे मनुष्य इनका स्वाध्याय करता है, मनुष्य का हृदय शान्त होता जाता है। उसकी विचार-शक्ति बढ़ती है, मन की विकलता घटती है और विचारों में उत्तेजना तथा मन में आनन्द प्रतीत होता है ।"

८. "उपनिषद् ग्रन्थ अनमोल रत्न हैं, जो मनुष्य जाति के लिए धार्मिक स्फूर्ति एवं बल तथा आत्मिक जीवन के लिए सब से अधिक पवित्र एवम् उपजाऊ पदार्थ और उत्तम समूह हैं ।" (रेवरेण्ड ए० आयंस गेडन)

इस प्रकार उपनिषदों का महत्त्व विदेशी, स्वदेशी तथा अन्य मतावलम्बियों में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । यथार्थ में ब्रह्मविद्या का अमृत जिसने भी थोड़ा सा चखा, वह इसे फिर नहीं छोड़ सका । इस विद्या के मर्मज्ञ को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह उसे वाणी से वर्णन नहीं कर सकता । उपनिषत्कार स्वयं कहते हैं-**"न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।"**

भारतीय विद्वानों के–
उपनिषदों के सम्बन्ध में विचार–

१. "उस महान् प्रभु परमात्मा की पूंजी केवल उपनिषदों में ही सम्पूर्णतया और विस्तारपूर्वक लिखी है जो कि वेद और वेदान्त का एक विशेष भाग हैं ।" (राजा राममोहनराय)

२. "वेद तो सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं के भण्डार हैं, जो परमात्मा ने मनुष्यों को दान दे रक्खे हैं । परन्तु उपनिषद् ईश्वर के एकत्व और अध्यात्मविद्या का उपदेश करते हैं, जो सम्पूर्ण वर्तमान विज्ञान और पदार्थविद्या की भी माता हैं । इसके सिद्धान्त आत्मा को अत्यन्त शान्तिदायक हैं ।" (पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर)

३. "चक्षु-सम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवी का धर्म बनने लगा है ।" (विश्वकवि डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

४. "उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझे शक्ति का सन्देश देता है उपनिषत् कहते हैं–हे मानव ! तेजस्वी बनो, वीर्यवान् बनो, दुर्बलता को त्यागो ।''' उपनिषत् शक्ति की विशाल खान हैं ।''' मुक्ति अथवा स्वाधीनता-दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता आध्यात्मिक स्वाधीनता, यही उपनिषदों के मूल मन्त्र हैं ।" (स्वामी विवेकानन्द)

उपनिषदों का अमर सन्देश–

१. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥
(कठो० ३।१४)

अर्थात् अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्यो ! उठो, जागो और अपने श्रेष्ठ (विद्वान् व योगी) पुरुषों के पास जाकर ब्रह्मज्ञान को सीखो । यह ब्रह्मज्ञान का मार्ग तेज उस्तरे की धार के समान अत्यन्त दुर्गम है, ऐसा परमात्मा के साक्षात्कार करने वाले उपदेश करते हैं ।

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । (ईशावास्योप०)

हे मनुष्यो ! जीवन भर श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा करो ।

३. **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥** (ईशावा०)

अनासक्ति भाव से संसार के भोगों को भोगो और किसी के धन या वस्तुओं की इच्छा मत करो ।

४. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ॥ (कठो० १/२७)

मनुष्य की धन से कभी तृप्ति नहीं हो सकती ।

५. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ (कठो० २।२४)

परमात्मा की प्राप्ति केवल बाह्यप्रदर्शन भजन कीर्त्तन से तबतक कदापि नहीं हो सकती, जबतक पाप-कर्मों में लगा हुआ है, अशान्त=इन्द्रियों के विषयों में फंसा हुआ है । असमाहित=विक्षिप्त चित्त वाला है और अशान्त मन=जिसका मन तृष्णा में फंसा हुआ है । चाहे कितना ही विद्वान् हो जाए, उसे उपर्युक्त दुष्कर्म छोड़ने पर ही परमात्मज्ञान हो सकता है ।

६. भस्मान्तं शरीरम् ॥ (ईशावास्योप०)

शरीर का अन्तिम संस्कार भस्मान्त=दाह-क्रिया ही है । तत्पश्चात् मृतक के लिए कोई मृतकश्राद्ध या संस्कार शेष नहीं रहता । संसार के सभी शारीरिक सम्बन्धों का अन्त भी भस्म ही है ।

७. ओ३म् क्रतो स्मर ॥ (ईशावास्यो०)

ओ३म् परमात्मा का मुख्य नाम है । हे क्रतो=कर्मशील जीव ! तू ओ३म् का ही स्मरण किया कर ।

८. स पर्यगाच्छुक्रम् अकायम् । (ईशावास्यो०)

वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, सर्वशक्तिमान् तथा स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीरों से रहित है ।

९. विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (ईशावास्यो०)

परमात्मा की प्राप्ति विद्या=आत्मा और शुद्धान्तःकरण के संयोगरूप धर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से होती है ।

१०. ओ३म् खं ब्रह्म ॥ (ईशावास्यो०)

वह परमात्मा किसी स्थान विशेष में नहीं रहता । वह तो आकाश के समान व्यापक, ओ३म्=सब का रक्षक तथा ब्रह्म=गुण, कर्म, स्वभाव से सब से बड़ा है ।

११. सत्यमेव जयते नानृतम् ॥ (मुण्डको०)

सत्य ही की विजय होती है, झूठ की नहीं ।

१२. न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ॥ (श्वेताश्वतर०)

उस परमात्मा का कोई कारण नहीं है, और न ही उसका कोई कार्य ही है—अर्थात् परमात्मा इस जगत् का उपादानकारण नहीं है ।

१३. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति ॥ (श्वेताश्वतर०)

मनुष्य एकमात्र परब्रह्म को जानकर ही मृत्यु=दुःख से मुक्त हो सकता है ।

उपनिषद् विषयक महर्षि दयानन्द के वचन—

१. "वेदान्तसूत्रों के पढ़ने से पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को पढ़के छः शास्त्रों के भाष्यवृत्ति-सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें ।" (सत्यार्थ० तृतीय समु०)

२. "छठा (शास्त्र) वेदान्त शास्त्र जो कि ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषत् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौधायन वृत्त्यादि व्याख्या सहित वेदान्त-शास्त्र है ।।" (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्यविषयः)

३. "वेदों के छः उपाङ्ग अर्थात् जिनका नाम षट्शास्त्र है ।" (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामा०)

४. "शारीरकसूत्राणि तत्रोपनिषन्मन्त्राणां व्याख्यानमस्ति ।"
(पत्रविज्ञापन २)

अर्थात् शारीरक सूत्रों में उपनिषत् के मन्त्रों का व्याख्यान है ।

५. "केन से लेकर बृहदारण्यक पर्यन्त नव उपनिषद् ब्राह्मणग्रन्थान्तर्गत होने से उनकी भी "ब्राह्मणानीतिहासान्०" इस वचन से इतिहास संज्ञा है।"
(ल० ग्र० सं० ३६४ पृ०)

६. उपनिषदों में जीव और परमात्मा को भिन्न बहुत स्थानों पर दिखाया है । सब जीवों में परमात्मा अन्तर्यामी रूप में स्थित है, क्योंकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषद् में व्याख्यात हैं ।
(स० प्र० २९५ पृ०)

७. "एक ईशावास्य उपनिषत् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है ।" (ल० ग्र० सं० ३६४ पृ०)

८. "वेदों में पराविद्या न होती तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहां से आती ? 'मूलं नास्ति कुतः शाखा:' ? क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता, तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था ? क्योंकि कारण के विना कार्य होना असम्भव है ।" (ल० ग्र० सं० ३६६ पृ०)

९. "जैसी यह (अल्लोपनिषद्) उपनिषद् बनाई है, वैसी बहुत सी उपनिषदें मत-मतान्तर वाले पक्षपातियों ने बना ली हैं। जैसी कि स्वरोपनिषद्, नृसिंहतापनी, रामतापनी, गोपालतापनी बहुत सी बना ली हैं ।"
(सत्यार्थ० चतुर्दश समु०)

१०. "कालाग्निरुद्रोपनिषद् किसी 'रखोडिया' मनुष्य अर्थात् राख धारण करने वाले ने बनाई है ।" (सत्यार्थ० एकादशसमु०)

११. "जाबालोपनिषद्' मिथ्या है ।" (दया० शा० सं० ५६, ६२)

१२. "नारदपरिव्राजकोपनिषद्" आजकल के पाखण्डी साम्प्रदायिकों का वचन । (स० प्र० १३४ पृ०)

१३. 'सन्ध्याविषयक विशेष निरूपण सान्ध्योपनिषद् में है ।'
(स० प्र० १४३ पृ०)

उपर्युक्त महर्षि दयानन्द के वचनों से अनेक बातें स्पष्ट हो रही हैं। उनमें कतिपय निम्नलिखित हैं—

१. उपनिषदों तथा वेदान्तदर्शन का प्रतिपाद्य विषय एक ही है ।

२. महर्षि दयानन्द ने ईशादि दश उपनिषदों को ही विशेषतः प्रामाणिक माना है । क्योंकि वे वेद-मूलक हैं ।

३. उपनिषदों में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन है, उसका मूल वेदों में है ।

४. उपनिषदों की गणना उपाङ्गों में है ।

५. केन से बृहदारण्यक पर्यन्त नव उपनिषदें ब्राह्मणान्तर्गत ही हैं।

६. उपनिषदों में जीव-ब्रह्म का भेद स्पष्टरूप से माना है ।

७. उपनिषदें ब्रह्मविद्या का आदिस्रोत नहीं । आदिस्रोत तो वेद हैं। उपनिषत्कारों ने वेदों को पढ़कर ही ब्रह्मविद्या को सीखा ।

८. वेदों में पराविद्या तथा अपराविद्या दोनों का ही वर्णन है ।

९. महर्षि ने प्रामाणिक दश उपनिषदों से भिन्न श्वेताश्वतर०, मैत्रायणी तथा कैवल्योपनिषत् के भी वेदमूलक प्रमाणों को माना है । सर्वांश में इनकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की है ।

शाङ्कर-भाष्य की कतिपय अवैदिक मान्यताएं-

१. "एवं श्रुतिस्मृतिविरोधान्न कर्मसाधनममृतत्वं न्यायविरोधाच्च । कर्मसाधनत्वे मोक्षस्य चतुर्विधक्रियान्तर्भावादनित्यत्वं स्यात् । यत्कृतकं तदनित्यमिति कर्मसाध्यस्य नित्यत्वादर्शनात् । नित्यश्च मोक्षः सर्ववादिभि-रभ्युपगम्यते ।"

अर्थात् इस प्रकार श्रुति-स्मृतियों से विरोध होने के कारण तथा युक्ति से भी विरुद्ध होने से अमृतत्व कर्मसाध्य नहीं है । यदि इसे कर्मसाध्य माना जायेगा तो मोक्ष भी चार प्रकार की क्रियाओं (उत्पाद्य, विकार्य, सङ्कार्य और प्राप्य) के अन्तर्गत होने से अनित्य हो जायेगा । **क्योंकि जो क्रियासाध्य होता है वह अनित्य होता है, इस नियम के अनुसार क्रियासाध्य की नित्यता नहीं देखी जाती, किन्तु मोक्ष को तो सभी सिद्धान्त वालों ने नित्य माना है ।**

(श्वेताश्वतर० अ० १ । शाङ्करभाष्य)

समीक्षा—श्री शङ्कराचार्य जी ने "मोक्ष को कर्मसाध्य नहीं माना। क्योंकि यदि मोक्ष कर्म-साध्य हो तो वह अनित्य हो जाए । और मोक्ष को सभी नित्य मानते हैं ।" ये शंकराचार्य जी की बातें सत्य नहीं हैं । मोक्ष दुःखों से निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति का ही नाम है । जीवों को सुख

व दुःखों की प्राप्ति अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही ईश्वर की व्यवस्था से होती है । मोक्ष भी हमारे कर्मों का ही फल है । मोक्ष में जीवों का लय नहीं होता, अर्थात् वे मुक्त जीव परब्रह्म के सान्निध्य से मोक्ष के सुख को भोगते हैं । और सान्तकर्मों का फल अनन्त कभी नहीं हो सकता । अतः मोक्षसुख को नित्य=सदा रहने वाला मानना एक अवैदिक धारणा है । अद्वैतवाद में जीव की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है । इनके अनुसार जीव का ब्रह्म में लय होना ही मोक्ष है । किन्तु यह मान्यता शास्त्रविरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती । मोक्ष में जीव कैसे सुख भोगते हैं, इसका वर्णन करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है-

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग् भवति० । (श०का० १४)

इस से स्पष्ट होता है कि जीव मोक्ष में ब्रह्म में लीन नहीं होता अपितु पृथक् रहता हुआ मोक्ष सुख को भोगता है । महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

"जो मुक्ति में जीव का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगेगा? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो महामूढ़ हैं । क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना । देखो वेदान्तशारीरक सूत्रों में "अभावं बादरिराह ह्येवम्" । जो वादरि व्यास जी का पिता है वह मुक्ति में जीव का और उसके साथ मन का भाव मानता है ।" (सत्यार्थ० ९ समु०)

इसी विषय को ऋ० भू० के मुक्ति विषय में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं-

"जब जीव मुक्त दशा को प्राप्त होता है तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ मोक्ष में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है । 'तथा-(भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यास जी के मुख्यशिष्य जो जैमिनि थे, उनका ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है वैसा ही शुद्ध सङ्कल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है ।"

इससे स्पष्ट होता है कि वेदान्तदर्शनकार मोक्ष में जीव का लय नहीं मानता । और मोक्ष से जीवों की मोक्षावधि के समाप्त होने पर पुनरावृत्ति भी होती है । इस विषय में वेद में लिखा है-

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥

(ऋ० १।२४।१-२)

इन मन्त्रों का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"**(प्रश्न)** हम लोग किसका नाम पवित्र जानें ? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है । हम को मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता है और माता तथा पिता के दर्शन कराता है ?"

उत्तर—हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हम को मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है । वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है ।"

(सत्यार्थ० नवमसमु०)

मुक्ति की अवधि तथा मुक्ति से पुनरावृत्ति का वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।

इसकी व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है—"वे मुक्तजीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तबतक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं ।"

'परान्तकाल' की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं—इसकी संख्या यह है कि ४३ लाख २० सहस्रवर्षों की १ चतुर्युगी, २ सहस्र-चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे ३० अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शतवर्षों का 'परान्तकाल' होता है ।"

(सत्यार्थ० नवम समु०)

और जीवों का सामर्थ्य तथा कर्म सान्त होने से उनका फल अनन्त कैसे हो सकता है । इससे ईश्वर की न्यायव्यवस्था भी स्थिर व सच्ची नहीं कहला सकती है । इस विषय में महर्षि दयानन्द ने बहुत ही स्पष्ट लिखा है—

"प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित

हैं, पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है ? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिए अनन्त सुख नहीं भोग सकते । जिनके साधन अनित्य हैं, उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता । और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहिए ।" (सत्यार्थ नवम समु०)

इसलिए मुक्ति में जीवों का लय मानना, मुक्ति को नित्य मानना, मुक्ति को कर्मों का फल न मानना, इत्यादि श्री शङ्कराचार्य जी की बातें वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से सत्य नहीं हैं ।

२. **'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।'** (ईशा० ११) **'तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयस्करं परम्" इत्यादिना कर्मणामप्यमृतत्व-प्राप्तिहेतुत्वमवगम्यते । सत्यम् अवगम्यत एव तदपेक्षितशुद्धिद्वारेण न साक्षात् ।** (श्वेताश्वतर० अ० १ । शाङ्करभाष्यम्)

प्रश्न—किन्तु "जो विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) इन दोनों को साथ-साथ जानता है ।" "तप और ज्ञान ये ब्राह्मण के निःश्रेयस् के उत्कृष्ट साधन हैं ।" इत्यादि वाक्यों से तो कर्मों का भी अमृतत्व की प्राप्ति में हेतु होना जान पड़ता है ।

उत्तर—ठीक है, जान तो पड़ता ही है, परन्तु ज्ञान के लिए अपेक्षित चित्तशुद्धि के द्वारा ही कर्म का अमृतत्व में हेतुत्व है, साक्षात् नहीं ।

समीक्षा—उपर्युक्त स्थल पर श्री शङ्कराचार्य जी ने कर्मों का फल चित्तशुद्धि तक ही माना है, अमृत=मोक्ष में साक्षात् नहीं । यथार्थ में श्री शङ्कराचार्य जी के पूर्वमिथ्याग्रह का ही यह परिणाम है कि वे सत्य बात को भी स्वीकार नहीं कर सकते । वेदादि के प्रमाणों में जो बात नहीं कही, उस बात की बलात् व्याख्या करना दुराग्रह ही कहलाता है । मन्त्र में तो 'उभयं सह' ज्ञान और कर्म को साथ-साथ लिखा है, फिर उसकी विपरीत व्याख्या क्यों ? और क्या विना ज्ञान के कर्मों का करना सम्भव है ? चित्तशुद्धि के लिए भी जो आवश्यक योगाङ्गों के अनुष्ठानादि कर्म हैं, क्या वे विना ज्ञान के हो जायेंगे ? ज्ञान और कर्म की ऐसी सीमा बांधना कि चित्तशुद्धि तक कर्म तथा बाद में ज्ञान से मोक्ष होता है, कोई युक्तियुक्त बात तथा प्रामाणिक नहीं है । और इस बात को स्वयं श्री

शङ्कराचार्य जी ने वेदविरुद्ध माना है (अगले उद्धरण) में यथार्थ में सहसा ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के विना कर्म नहीं होता । इन दोनों के साथ-साथ उत्तरोत्तर परिष्कृत होते-होते ज्ञान की पराकाष्ठा पर मोक्ष होता है । मोक्ष प्राप्ति के अन्तिम क्षण तक शुभकर्म निष्काम भाव से करने आवश्यक हैं । क्योंकि शुभकर्मों का फल ही मोक्ष होता है ।

३. यावज्जीवं यथाकामं पुण्य-पापादिकं कुर्वत्यपि विदुषि न कर्मलेपो भवति विद्यासामर्थ्यादिति । तथा हि-'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (ईशावा० उ० १) **इत्यारभ्य 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** (ईशा० उ० १) **इति विदुषः सर्वकर्मत्यागेनात्मपालनमुक्त्वानियोज्ये ब्रह्मविदि त्यागकर्त्तव्यतोक्तिरप्ययुक्तैवोक्तेति चकितः सन् वेदो विदुषस्त्याग-कर्त्तव्यतामपि नोक्तवान् ।"** (श्वेताश्वतर० अ० १। शा० भा०)

अर्थात् विद्वान् स्वेच्छा से जीवनपर्यन्त पुण्यपापादिरूप-कर्म करता भी रहे तो भी ज्ञान के सामर्थ्य से उसे उन कर्मों का लेप नहीं होगा । तात्पर्य यह है कि **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** यहां से लेकर **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इस प्रथम मन्त्र से सर्वकर्म परित्यागपूर्वक आत्मरक्षा का प्रतिपादन करने पर वेद यह देखकर कि जिसके लिए कोई भी विधि नहीं की जा सकती, उस ब्रह्मवेत्ता के लिए सर्वकर्म परित्याग का विधान करना भी अनुचित ही है, यह जानकर चकित हुआ, अतः वेद ने विद्वान् के लिए कर्मत्याग की भी विधि नहीं कही है ।

समीक्षा—श्री शङ्कराचार्य जी का यह मन्तव्य कि ब्रह्मवेत्ता के लिए कर्म करने की आवश्यकता नहीं, यह स्वयं कल्पित तथा अवैदिक है और उपर्युक्त उद्धरण में शङ्कर स्वामी को इस सत्य बात को स्वीकार करना पड़ा है । उपनिषद् में ब्रह्मज्ञानियों (क्रियावान्=कर्म करने वालों) को सब से श्रेष्ठ मानते हुए लिखा है—**क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥"** (मुण्डक० ३।१।४)

वेद में तो जीवन भर शुभ कर्मों को करने का आदेश दिया है । और यह कितने आश्चर्य की बात है कि मुमुक्षु विद्वान् जीवन पर्यन्त कितने ही पाप-पुण्य कर्म करते रहें, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता, ज्ञान के सामर्थ्य से । अनासक्ति भाव से शुभकर्म करता हुआ जीव मोक्ष को प्राप्त करता है, यह तो सत्य है किन्तु पापकर्म भी करता रहे और उनसे लिप्त न होवे, यह कैसे सम्भव है ? कर्मों का फल तो अवश्य ही

मिलेगा, चाहे शुभ हों या अशुभ । मोक्ष शुभकर्मों का ही फल है । विद्वान् ज्ञान-सामर्थ्य से पापकर्मों के फल से कभी मुक्त नहीं हो सकता । ऐसी अवैदिक व असत्य धारणाओं से अद्वैतवादी साधु स्वयं को पापी बनाते हैं और संसार को पापमार्ग पर चलने का निर्देश करते हैं । यह कितना बड़ा दुष्कर्म है ।

४. "ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दितविद्यां तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद् विनाशनात् परब्रह्मगमयितृत्वाद् गर्भजन्म-मरणाद्युपद्रवावसादयितृत्वाद् उपनिषत् ।"

(श्वेताश्वतर० अ० १ । शा० भा०)

अर्थात् जो मोक्षकामी पुरुष दृष्ट और श्रुत विषयों से विरक्त हो उपनिषद् शब्द से कही जाने वाली विद्या का निश्चय पूर्वक तत्परता से अनुशीलन करते हैं, उनकी संसार की बीजभूता अविद्या का विशरण-विनाश हो जाने के कारण उन्हें परब्रह्म के पास ले जाने वाली होने से उनके जन्म-मरणादि उपद्रवों का अवसादन करने वाली होने के कारण यह उपनिषद् है ।

समीक्षा—मुमुक्षु ब्रह्मविद्या से अज्ञान का नाश करते हैं, यह सत्य है । किन्तु अविद्यानाश से संसार का भी नाश हो जाता है यह कार्य कारण से विरुद्ध होने से असम्भव बात है । क्योंकि इस संसार को मिथ्या या अविद्या का कार्य कभी नहीं माना जा सकता । यह संसार मूल प्रकृति का कार्य है । उसका अविद्या से क्या सम्बन्ध ? और 'उपनिषद्' शब्द 'उप' तथा 'नि' पूर्वक 'सद्' धातु से बना है । इन उपसर्गों के सम्पर्क से 'सद्' धातु का विनाश अर्थ में वैदिक-साहित्य में कहीं प्रयोग भी नहीं मिलता । अतः यौगिकार्थ की दृष्टि से तथा कार्य-कारण भाव की दृष्टि से अविद्या नाश से संसार का नाश कभी नहीं हो सकता । यह पूर्वाग्रहवश ही कल्पित व्याख्या की गई है ।

अद्वैतमतखण्डन—

अद्वैतभाव—यदि ब्रह्म ही एक माना जाए, जीव की कोई सत्ता न मानी जाए तो कौन किसकी उपासना करे ? 'उपासना करना' क्रिया कौन करे ? इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए दो ब्रह्म मानने पड़ेंगे । एक ब्रह्म

जन्म लेकर संसार में आने वाला और दूसरा अजन्मा । जो ब्रह्म जगत् में उत्पन्न होकर शरीरादि धारण करता है, उसी में उपासना गुण रहता है । और यह अजन्मा ब्रह्म की उपासना करने वाला ब्रह्म ही जीव है । यदि इसे जीव न मानकर ब्रह्म ही माना जाए तो ब्रह्म दो प्रकार वा दो गुण वाला माना जायेगा । और एक ही वस्तु में दो परस्पर विरुद्ध गुण या धर्म कदापि नहीं रह सकते । जैसे घट उत्पन्न होने से उत्पत्तिधर्मक है और उसे कोई भी आकाश के समान अनुत्पत्ति धर्म वाला नहीं मान सकता । जैसे रात-दिन, प्रकाश-अन्धकार आदि परस्पर विरुद्ध एक समय या एक स्थान पर नहीं होते, वैसे ही ब्रह्म भी परस्पर दो विरोधी गुण वाला सम्भव नहीं । और उनके पक्ष की सिद्धि में कोई भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलेगा ।

अद्वैतवादी आकाश का उदाहरण दिया करते हैं । जैसे एक ही आकाश अनेक घटों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है परन्तु तो भी आकाश परिच्छिन्न नहीं कहाता, प्रत्युत व्याप्त बना रहता है । वैसे ही एक ही ब्रह्म सब भूतों में व्याप्त है, भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, किन्तु वह परिच्छिन्न नहीं होता ।

यह आकाश का दृष्टान्त उनके अद्वैतपक्ष को सिद्ध नहीं करता । **यदि आकाश कोई वस्तु ही नहीं है तो दृष्टान्त के मिथ्या होने से अद्वैतपक्ष खण्डित हो जाता है ।** जैसे वन्ध्या पुत्र व गगनकुसुम का कोई दृष्टान्त नहीं दे सकता, वैसे ही अद्वैतपक्ष वालों को अपनी मान्यता के विरुद्ध आकाश का भी दृष्टान्त नहीं देना चाहिए । क्योंकि अविद्यमान वस्तु के दृष्टान्त से किसी साध्य वस्तु की सिद्धि भी नहीं हो सकती । यदि घटस्थानीय जड़ अन्तः-करण ही परब्रह्म को भिन्न-भिन्न करने वाले अद्वैतवादी मानते हैं तो घटादि में एक ही आकाश की भांति सब अन्तःकरणों में एक ही ब्रह्म के विद्यमान होने से सब के मन की बातों का ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता । और जो आकाश व घड़े के दृष्टान्त से जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें घट, आकाश तथा परमेश्वर को स्वीकार करने से अद्वैतवाद कहां सिद्ध हुआ?

और यदि 'अद्वैत' शब्द ब्रह्म का विशेषण है तो दूसरा ब्रह्म नहीं, ऐसा अर्थ करना चाहिए । क्योंकि जिसके साथ अन्य को पृथक् करने वाला विशेषण होता है, वह उसी के दूसरे भाव को हटाता है । जैसे

किसी ने किसी से कहा—देवदत्त अद्वितीय पण्डित है । यहां यही अर्थ होता है कि उसके तुल्य दूसरा नहीं है, अन्य चेतनादि का निषेध नहीं हो सकता । इसी प्रकार 'अद्वैतब्रह्म' कहने से द्वितीय ब्रह्म का ही निषेध होगा, जीवात्मा व वृक्षादि संसार का निषेध नहीं हो सकता ।

अन्य ब्रह्म का निषेध भी तीन प्रकार से होता है—(एक ब्रह्म का सजातीय कोई दूसरा ब्रह्म नहीं है । (द्वितीय) विजातीय पदार्थों में ब्रह्म के तुल्य सामर्थ्यवाला वा बड़ा कोई नहीं है । तथा (तृतीय) उस ब्रह्म में मनुष्यादि के शरीर के समान अवयवावयविभेद नहीं है, क्योंकि वह व्यापक व निराकार है ।

सृष्टि के विषय में नवीन वेदान्तियों का सिद्धान्त है कि न सत् की उत्पत्ति और न असत् की अर्थात् कभी कोई वस्तु किसी प्रकार उत्पन्न होती ही नहीं न कुछ है, केवल भ्रममात्र सब दीखता है । 'न निरोधो०' इत्यादि गौड कारिकाओं में यह स्पष्ट लिखा है कि न किसी वस्तु वा संसार की उत्पत्ति होती, न प्रलय होता, न कोई बद्ध-दु:खी, न दु:ख से बचने का कोई उपाय तथा न कोई मुक्त, न कोई मुक्ति का चाहने वाला है, इत्यादि प्रकार से सब का अभाव समझ लेना ही परमार्थ की सिद्धि है ।

नवीन वेदान्तियों की यह मान्यता शास्त्रविरुद्ध तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है ही, किन्तु इनके मान्यग्रन्थ गीता के भी विरुद्ध है । गीता में लिखा है—**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥** (गीता २।१६) सत् (भाव) तथा असत् (अभाव) दोनों के सम्बन्ध में एक निश्चित सिद्धान्त है—जो नहीं है वह कभी होगा भी नहीं, और जो है, उसका कभी अभाव नहीं होगा । उसका रूपान्तर तो सम्भव है परन्तु नाश कभी नहीं हो सकता ।

अत: जो कुछ संसार में दिखाई दे रहा है, न तो यह मिथ्या ही है, और न ही इसका अभाव ही होगा ।

नवीन वेदान्तियों का ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है । जैसे बाजीगर ऐसी-ऐसी वस्तुओं को दिखा देता है, जो उसके पास नहीं होतीं । तात्पर्य यह है कि अभाव से भाव दीख पड़ता है । इसी प्रकार परब्रह्म एक ऐन्द्रजालिक है, वह अपना खेल दिखा रहा है । वे अपने पक्ष में निम्न प्रमाण भी देते हैं—

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ॥" (बृहदा० २।५।१९) अर्थात्

इन्द्र=परब्रह्म माया=छलकपट से अनेक रूपों को प्राप्त हो रहा है । इसका उत्तर यह है कि सब कुछ मिथ्या कहने वालों की दृष्टि से ऐन्द्रजालिक भी मिथ्या है । यदि उसको सत्य मानोगे तो 'सब मिथ्या है' यह कथन असत्य हो जाएगा और यदि ऐन्द्रजालिक अभावात्मक वस्तुओं को दिखा देता है तो खरगोश के सींग या वन्ध्या का पुत्र क्यों नहीं दिखा देता ? यदि कहो कि वह उन ही वस्तुओं को दिखा सकता है, जो संसार में हैं तो स्पष्ट है कि वह बाजीगर भावात्मक वस्तुओं को ही दिखाता है, और वे उसके पास होती भी हैं । इस दृष्टान्त से अद्वैतवाद की सिद्धि नहीं हो सकती ।

अद्वैतवाद-वेदान्तदर्शन के भी विरुद्ध है–

ब्रह्म का लक्षण करते हुए वेदान्त-दर्शन में लिखा है–

जन्माद्यस्य यतः । वेदा० १।१।२॥

अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय जिससे होती है, वह ब्रह्म है । अतः ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति में निमित्तकारण है । ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता । क्योंकि उपादान कारण परतन्त्र और परिणामी होता है और ब्रह्म एकरस तथा स्वतन्त्र है । संसार में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता, जो एक ही उपादानकारण तथा निमित्तकारण हो । और जगत् को देखने से भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्म उपादानकारण नहीं हो सकता । क्योंकि उपादानकारण के गुण कार्य में अवश्य आते हैं । ब्रह्म के चेतनादि गुण जगत् में नहीं पाए जाते, अतः ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण ही है ।

नवीन वेदान्तियों का मकड़ी का दृष्टान्त भी उनकी मान्यता को सिद्ध नहीं करता । क्योंकि **मकड़ी की आत्मा चेतन और जाला जड़ है ।** जड़ और चेतन को एक मानना मूर्खों का काम है । यदि मकड़ी का शरीर और आत्मा एक होते तो मृतक मकड़ी कभी भी दृष्टिगोचर न होती । मृतक मकड़ी को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि चेतन आत्मा इससे पृथक् है । अतः **शरीर मकड़ी के जाले का उपादान कारण है और चेतनात्मा निमित्तकारण है ।** यह दृष्टान्त ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण ही सिद्ध करता है, उपादान कारण नहीं ।

नवीन वेदान्तियों का यह रज्जू-सर्प का दृष्टान्त भी उनकी मान्यता

का खण्डन करता है । इस दृष्टान्त से वेदान्ती ब्रह्म को विवृतोपादान मानते हैं । **विवृत समान आकृति अथवा समान धर्म वालों में ही होता है और प्रथम से उन दोनों वस्तुओं का ज्ञान भी हो, तब भ्रम होता है ।** किन्तु भिन्न आकृति गुणों वालों में कदापि भ्रम नहीं होता । रस्सी में सर्प का तो भ्रम हो सकता है, हाथी घोड़े का नहीं । सीपी में चांदी का भ्रम हो सकता है किन्तु लोहे व सुवर्ण का नहीं । अतः जबकि ब्रह्म और जगत् में न तो आकृति मिलती है, न धर्म तो ब्रह्म में जगत् का भ्रम कैसे हो सकता है ? दूसरे विवृत किसी को किसी का किसी में होता है। जैसे मनुष्य को सर्प का भ्रम रस्सी में, थोड़ा प्रकाश व थोड़े अन्धकार के कारण होता है । जिससे स्पष्ट है कि **विना चार चीजों के भ्रम या विवृत नहीं हो सकता,** किन्तु अद्वैतवादियों के पास ब्रह्म के सिवाय कोई वस्तु ही नहीं, फिर भ्रम या विवृत कैसे हो सकता है? और सर्वज्ञ ब्रह्म को भ्रम कहना कितनी बड़ी महाभ्रान्ति है ? **प्रकृति अचेतन है, उसमें भ्रम सम्भव ही नहीं । अल्पज्ञ जीव को ही भ्रम हो सकता है किन्तु वेदान्ती उसकी सत्ता ही स्वीकार नहीं करते ।** अतः किसी भी प्रकार अद्वैतवाद की मान्यता सत्य सिद्ध नहीं होती और वेदान्तियों की यह प्रतिज्ञा कि–

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।"

सर्वथा निराधार एवं मिथ्या ही है । और उस परब्रह्म को जगत् का उपादान मानने का खण्डन स्वयम् उपनिषद् में स्पष्टरूप से किया गया है ।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

श्वेताश्व० ६।८।।

अर्थात् उस परब्रह्म का कोई कार्य तथा कारण नहीं है । यदि परब्रह्म जगत् का उपादानकारण होता तो जगत् को परब्रह्म का कार्य अवश्य मानना पड़ता ।

नवीन वेदान्तियों का मायावाद–

न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा मीमांसादि शास्त्र जगत् का उपादानकारण 'प्रकृति' अथवा 'परमाणु' को मानते हैं । वेदों में इसका नाम 'स्वधा' है।

उपनिषदों में इसका नाम 'माया' तथा 'अजा' आता है । जैसे कि कहा गया है—**मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् ।** श्वेता० ४।११।। **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्० ।।** इत्यादि स्थलों पर 'माया' तथा 'अजा' शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हैं । इन शब्दों से यह भी स्पष्ट है कि **'मिमीते मानयुक्तं करोतीति माया ।'** अर्थात् जो इस संसार को एक विशेष मानयुक्त=कार्याकार बनाए, उसका नाम माया है । और **"न जायते इत्यजा"** जो उत्पन्न न हो, इससे उसका नाम 'अजा' है । और यह सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुणयुक्त, अनादि व शाश्वत=नित्य है ।

नवीन वेदान्ती इस प्रकृति का खण्डन करके माया को जगत् का उपादान कारण मानते हैं । इनके मतानुसार माया का अर्थ मिथ्या है और यह प्रकृति के समान कोई भावात्मक पदार्थ नहीं है । यह माया न सत् है, न असत्, न निराकार है और न साकार । उसे यह सदसद् से विलक्षण एवं निर्वचनीय बताकर लोगों की जिज्ञासा को अपूर्ण ही छोड़ देते हैं और इसे सब प्रकार के प्रश्नों से बचने का उपाय मान बैठे हैं । शाङ्करभाष्य के टीकाकारों का कथन है—

"मायावादे स्वप्नवत्सर्वं समञ्जसम् ।।" (स्वामी गोविन्दानन्द)

"अनेन स्फुटतो मायावादः स्वप्नदृगात्मा ।।" (श्री वाचस्पति मिश्र)

अर्थात् मायावाद के अनुसार यह जगत् स्वप्न के समान है । जैसे **स्वप्न का द्रष्टा अपने मन से ही विना किसी परिणाम के स्वप्नों की सृष्टि को रच लेता है, इसी प्रकार ब्रह्म माया-शक्ति से सृष्टि को रच लेता है ।**

प्रथम तो 'माया' शब्द की परिभाषा ही वेदान्तियों की स्वयं कल्पित ही है । इनके लक्षण की पुष्टि किसी भी प्रमाण से नहीं होती। उपनिषदों में प्रकृति का पर्यायवाची 'माया' शब्द को माना है । किन्तु उसकी अन्य विशेषताएं इन वेदान्तियों की कल्पनामात्र ही हैं । और इनका यह मायावाद (स्वप्नसदृश) वेदान्तदर्शन के भी विरुद्ध है । वहां स्वप्नवाद का स्पष्ट रूप से खण्डन करते हुए लिखा है—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।। (ब्र०सू० २।२।२८)

अर्थात् यह संसार स्वप्न के तुल्य कदापि नहीं है । क्योंकि स्वप्न तथा संसार के पदार्थों में वैधर्म्य=अत्यन्त भेद पाया जाता है । **स्वप्न के पदार्थ निद्रादोष मिट जाने पर मिट जाते हैं, किन्तु संसार के पदार्थ**

इनकी मानी हुई माया के मिट जाने पर भी नष्ट नहीं होते ।

जिन आद्य श्री शङ्कराचार्य आदिकों का मिथ्याज्ञान नष्ट होना ये मानते हैं, तब भी यह संसार पूर्ववत् ही था और अब भी विद्यमान है । और जैसा 'माया' शब्द का अर्थ वेदान्तियों ने माना है, इसकी पुष्टि किसी शास्त्र से नहीं होती । 'माया-शब्द' कहीं भी मिथ्यार्थ में शास्त्रों में नहीं आता। शास्त्रों में 'माया' शब्द 'शक्ति' 'प्रज्ञा' आदि अर्थों में ही प्रयुक्त है । माया पद का शब्दिक अर्थ भी 'मीयते ज्ञायतेऽनयेति माया' मिथ्यार्थ का खण्डन करता है और जब ये 'माया' को मिथ्या ही मानते हैं तो–**मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम् ।** (श्वेता० ४।१०)

माया वाले ब्रह्म को भी मिथ्या क्यों नहीं मानते ? अतः यह मायावाद वेद व उपनिषदादि से विरुद्ध होने से स्वयं कल्पित ही है । जिस मिथ्या कल्पना के आश्रय से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाले परब्रह्म को भी अविद्याकूप में डालकर जीवभाव को प्राप्त करा दिया है ।

उपनिषदों का त्रैतवाद–

यद्यपि उपनिषदें वेदान्त का ही भाग होने से आध्यात्मिक-ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान का ही विशेषरूप से प्रतिपादन करती हैं । पुनरपि प्रसङ्ग से ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा तथा प्रकृति का भी वर्णन ही नहीं, प्रत्युत उन्हें अज=अजन्मा तथा शाश्वत माना है । देखिए उपनिषदों के कुछ स्थल, इस विषय में ये उद्धृत किये जाते हैं–

१. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(श्वेताश्वतर० ४।६), (ऋ० १।१६४।२०)

इस मन्त्र में प्रकृति को एक वृक्ष बताया है । उस पर दो पक्षी रहते हैं । ये जीवात्मा और परमात्मा ही हैं, जो व्याप्य-व्यापक भाव से साथ मिले हुए चेतन होने से मित्र की तरह हैं । वृक्ष को अचेतन होने से प्रकृति की और पक्षियों को चेतन होने से जीवात्मा-परमात्मा की उपमा दी है । इनमें से एक जीव रूपी पक्षी प्रकृति रूप वृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा परमात्मा भोगादि से रहित होकर जीवों के कर्मों का साक्षी होकर कर्म-फल देता है ।

२. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

(श्वेताश्वतर० ४।५)

इसमें परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति तीनों को अज=अजन्मा अर्थात् कभी न उत्पन्न होने वाला बताया है । इनमें से एक प्रकृति सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण वाली और अपनी विकृति रूप प्रजा को उत्पन्न करने वाली है । इस अनादि व अजन्मा प्रकृति की वस्तुओं का एक अनादि व अजन्मा जीवात्मा भोग करता है, परन्तु दूसरा अनादि व अजन्मा परमात्मा इस जीव से भोगी जाने वाली प्रकृति को न भोगने के कारण पृथक् है ।

३. ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्राह्ममेतत् ॥

(श्वेताश्वतर० १।९)

इस मन्त्र में भी परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध और उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—परमात्मा सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् है, और जीवात्मा अल्पज्ञ व अल्पसामर्थ्य वाला है किन्तु दोनों ही अज=अनादि तथा उत्पन्न न होने वाले हैं। तीसरी प्रकृति भोक्ता=जीवात्मा के भोगने योग्य पदार्थों वाली है। और वह भी अज=कभी उत्पन्न नहीं होती। इन तीनों में से परमात्मा अनन्त, विश्वरूप (व्यापक) और सृष्टि को रचकर जीवात्माओं को कर्मानुसार फल भुगाने वाला है । ये तीनों ही ब्राह्म=ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टि रचना में उपयोगी हैं ।

४. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥

(कठोप० ५।१३)

वह परब्रह्म प्रकृत्यादि नित्यपदार्थों में नित्य और जीवरूप चेतनों में चेतनस्वरूप है, वह एक है और इस विभिन्नरूप सृष्टि की रचना करता है ।

यहां परमात्मा से भिन्न प्रकृत्यादि नित्यपदार्थों तथा ब्रह्म से भिन्न चेतन जीवों को स्पष्टरूप से स्वीकार किया है ।

५. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

(कठोप० ३।१)

इस मन्त्र में जीवात्मा तथा परमात्मा को छाया-आतप के समान भिन्न-भिन्न माना है । और ये दोनों ही को हृदयाकाश में प्रविष्ट बताया है । "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।" (ब्र० सू० १।२।११) इस सूत्र में भी जीव-ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ।

६. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

इस मन्त्र में सब को आच्छादित करने वाला 'तथा नियन्त्रण में रखने वाला परमात्मा, 'जगत्' शब्द से चराचर संसार और 'भुञ्जीथाः' शब्द से भोग करने वाले जीव का वर्णन होने से त्रैतवाद का स्पष्ट वर्णन है । क्योंकि परमात्मा तो स्वयं भोग नहीं करता और परमात्मा से भिन्न यदि प्रकृत्यादि की कोई सत्ता ही न हो तो वह किसे आच्छादन करता है ? इसका कोई समाधान न होने से प्रकृति का तथा भोक्ता जीव का इसमें वर्णन है ।

७. सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥
(छान्दोग्यो० ६।८।४)

अर्थात् सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूलाधार और स्थिति का कारण है । यहां प्रकृति को 'सत्' कहा है, जिसका कभी अभाव नहीं होता यह समस्त संसार प्रकृति का विकार होने से प्रकृति में ही लीन हो जाता है ।

८. य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद ।
यस्य आत्मा शरीरम् ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद्)

इसमें जीवात्मा व परमात्मा का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध बताते हुए लिखा है कि सूक्ष्म होने से परमात्मा जीवात्मा में भी व्यापक है, यह आत्मा उस परमात्मा को नहीं जानता । उस परमात्मा का यह जीवात्मा निवास होने से शरीर के समान है । इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा व्याप्य है और परमात्मा व्यापक है, अतः ये दोनों भिन्न-भिन्न सत्ताएं हैं ।

९. रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ॥ (तैत्तिरीयोपनिषद्)

अर्थात् जीवात्मा आनन्दरूप नहीं है, परमात्मा आनन्दस्वरूप है । यह जीव परमात्मा के सान्निध्य से ही आनन्द को प्राप्त करता है ।

१०. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥
(तैत्तिरीयोप०)

इसमें परब्रह्म का लक्षण बताया गया है। वेदान्तदर्शन के "जन्माद्यस्य यतः।" सूत्र में जो ब्रह्म का लक्षण कहा है, वही यहां उपनिषद् में कहा है। वह परब्रह्म इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण है। उपादानकारण नहीं, प्रत्युत निमित्तकारण है। जैसे घट के निर्माण में कुम्भकार निमित्तकारण है और मिट्टी उपादानकारण, वैसे ही सृष्टि-रचना में ब्रह्म निमित्तकारण है और प्रकृति उपादानकारण। ब्रह्म सृष्टि का उपादानकारण इसलिए नहीं है, क्योंकि सृष्टि में ब्रह्म के गुण नहीं हैं। उपादानकारण के गुण कार्य में अवश्य ही आते हैं।

इस मन्त्र में यही बताया है, वह परब्रह्म ही सब भूतों की रचना करता है। इसको जीवित=बनाए रखता है और प्रलय काल में कारण में लीन भी करता है।

पाठकों की सेवा में यह उपनिषद्-भाष्य प्रस्तुत करते हुए जहां हार्दिक प्रसन्नता हो रही है, वहां महर्षि दयानन्द के वैदिक-सिद्धान्तों का प्रचार करना भी प्रमुख उद्देश्य है। उपनिषदों का जहां इतना अधिक महत्त्व है, वहां इनकी मिथ्या व्याख्याओं के द्वारा अनेक व्याख्याताओं ने मिथ्या मान्यताओं का भी प्रचार कम नहीं किया है। महर्षि दयानन्द ने उन सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त त्रुटियों को कुशल चिकित्सक की भांति बहुत ही सूक्ष्मता से परखा था और अपने सत्य भाष्य द्वारा उनका समूल खण्डन भी किया। इन मिथ्या मान्यताओं के जो मूल स्तम्भ मन्त्र थे, उनकी तो महर्षि ने सप्रमाण व्याख्या करके उत्तर दिया है।

किन्तु महर्षि के अनुयायी महर्षि के भाष्य को पढ़ जाते हैं, और दूसरे शाङ्करभाष्यादि को श्रद्धा से पढ़ जाते हैं। सूक्ष्म विवेकशक्ति न होने से सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर पाते। इस उपनिषद् भाष्य को प्रकाशित करने का हमारा उद्देश्य यह है कि पाठक समीक्षात्मक ढंग से सभी व्याख्याकारों के विचारों से परिचित हो सकें और ऊहापोह के द्वारा सत्यासत्य का निर्णय कर सकें। हमने इस में महर्षि दयानन्द कृत उपनिषद् भाष्य को भी रखा है। यद्यपि महर्षि ने समस्त उपनिषदों का भाष्य नहीं किया है पुनरपि उनके ग्रन्थों में उपनिषदों के जो प्रमाण विद्यमान हैं, उन्हीं का यहां क्रमशः संग्रह किया है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि ईशावास्योपनिषद् सब उपनिषदों का आधार तथा प्रमुख है। और इसका ही अधिक पठन-पाठन भी है। साथ ही मिथ्या

मान्यताओं का अधिक प्रचार भी इसी के द्वारा किया गया है । क्योंकि यह उपनिषद् यजुर्वेद का ४०वां ही अध्याय है, केवल कहीं-कहीं पाठभेद है, महर्षि दयानन्द का इस पर पूर्ण भाष्य उपलब्ध है । यद्यपि ईशावास्योपनिषत् तथा यजु० के ४०वें अध्याय में कुछ मन्त्रों में क्रम-भेद भी है । हमने इसमें यजुर्वेद के अनुसार ही मन्त्रों का क्रम रक्खा है । क्योंकि महर्षि दयानन्द का यजुर्वेद मन्त्रों पर ही भाष्य है । हमने उस क्रम को भङ्ग करना उचित नहीं समझा । और जहां-जहां इनमें पाठभेद हैं, वहां वहां उनके विषय में लिख दिया है । और महर्षि कृत समस्त उपनिषत् प्रमाणों का क्रमशः प्रकाशन किया जायेगा । आशा है कि पाठक उपनिषदों से फैले मिथ्या प्रचार से बचकर इनके महत्त्व को समझेंगे और अपने जीवन को उत्कृष्ट बना सकेंगे ।

विनीत

राजवीर शास्त्री

ज्येष्ठ शुक्ला दशमी, सं० २०४८ वि०

ईशावास्योपनिषद्

अथवा

(यजुर्वेदस्य चत्वारिंशोऽध्यायः)

[महर्षिदयानन्दकृतभाष्ययुतः शाङ्करादि-भाष्य-समीक्षया च संवलितः]

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव ।
यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआसु॑व ॥१॥ य० ३०।३॥

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । अनुष्टुप् छन्दः । धैवतः ॥

अथ मनुष्याः परमात्मानं विज्ञाय किं कुर्युरित्याह ॥

अब चालीसवें अध्याय का आरम्भ है । मनुष्य परमात्मा को जानकर क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

ई॒शा वा॒स्य॒मि॒द॑ᳪ सर्वं॒ यत्किञ्च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त् ।
तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒ मा गृ॑धः॒ कस्य॑ स्वि॒द्धन॑म् ॥१॥

***पदार्थः*—(ईशा)** ईश्वरेण=सकलैश्वर्य्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना **(वास्यम्)** आच्छादयितुं योग्यं=सर्वतोऽभिव्याप्यम् **(इदम्)** प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तम् **(सर्वम्)** अखिलम् **(यत्) किम्) (च) (जगत्याम्)** गम्यमानायां सृष्टौ **(जगत्)** यद् गच्छति तत् । **(तेन) (त्यक्तेन)** वर्जितेन तच्चित्तरहितेन **(भुञ्जीथाः)** भोगमनुभवेः **(मा)** निषेधे **(गृधः)** अभिकाङ्क्षीः **(कस्य) (स्वित्)** कस्यापि स्विदिति प्रश्ने वा **(धनम्)** वस्तुमात्रम् ॥१॥

***अन्वयः*—**हे मनुष्य ! त्वं यदिदं सर्वं जगत्यां तद् जगदीशाऽऽ-वास्यमस्ति तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः किञ्च कस्य स्विद्धनं मा गृधः॥१॥

***सपदार्थान्वयः*— हे मनुष्य ! त्वं यदिदं** प्रकृत्यादि-पृथिव्यन्तं **सर्वम्** अखिलं **जगत्यां** गम्यमानायां सृष्टौ जगत् यद् गच्छति तत् **ईशा** ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन

***भाषार्थ*—**हे मनुष्य ! तू (यत्) जो (इदम्) प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त (सर्वम्) सब (जगत्याम्) चलायमान सृष्टि में (जगत्) जड़ चेतन जगत् है, वह

सर्वशक्तिमता परमात्मना **वास्यम्** आच्छादयितुं योग्यं=सर्वतोऽभिव्याप्यम् **अस्ति; तेन त्यक्तेन** वर्जितेन तच्चित्तरहितेन **भुञ्जीथाः** भोगमनुभवेः।

(ईशा) ईश्वर अर्थात् सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के द्वारा (वास्यम्) आच्छादित अर्थात् सब ओर से अभिव्याप्त किया हुआ है । (तेन) इसलिए (त्यक्तेन) त्यागपूर्वक अर्थात् जगत् से चित्त को हटा के (भुञ्जीथाः) भोगों का उपभोग कर ।

किञ्च कस्यस्वित् कस्यापि धनं वस्तुमात्रं मा न गृधः= अभिकाङ्क्षीः।।४०।१।।

(किं च) और (कस्यस्वित्) यह धन किसका है अर्थात् किसी का नहीं; अतः किसी के भी (धनम्) धन अर्थात् वस्तुमात्र की (मा) मत (गृधः) अभिलाषा कर ।।४।१।।

***भावार्थः*—**ये मनुष्या ईश्वराद् बिभ्यत्ययमस्मान् सर्वदा सर्वतः पश्यति, जगदिदमीश्वरेण व्याप्तं, सर्वत्रेश्वरोऽस्तीति व्यापकमन्तर्यामिणं निश्चित्य, कदाचिदप्यन्यायाचरणेन कस्यापि किञ्चिदपि द्रव्यं ग्रहीतुं नेच्छेयुस्ते; धार्मिका भूत्वाऽत्र परत्राऽभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देयुः ।।४०।१।।

***भावार्थः*—**जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हम को सब काल में सब ओर से देखता है; यह जगत् ईश्वर से व्याप्त अर्थात् सब स्थानों में ईश्वर विद्यमान है । इस प्रकार उस व्यापक अन्तर्यामी को जानकर कभी भी अन्याय-आचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण करना नहीं चाहते; वे इस त्याग से धार्मिक होकर इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निःश्रेयस रूप फलों को भोग कर सदा आनन्द में रहते हैं ।।४०।१।।

***भा० पदार्थः*—**ईशा=ईश्वरेण । वास्यम्=व्याप्तम् । कस्यस्वित्=कस्यापि । धनम्=किञ्चिदपि द्रव्यम् । मा=न । गृधः=कदाचिदप्यन्यायाचरणेन ग्रहीतुमिच्छ । भुञ्जीथाः=अत्र परत्राऽभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देः।।

***भाष्यसार*—मनुष्य परमात्मा को जानकर क्या करें**—इस

चलायमान सृष्टि से प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त जो जड़-चेतन जगत् है, वह सब सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् परमात्मा से आच्छादित अर्थात् सब ओर से व्याप्त है । ईश्वर सर्वत्र है । वह सर्वव्यापक और अन्तर्यामी है । वह सर्वदा सब ओर से मनुष्यों को देख रहा है । ऐसा निश्चित जानकर परमात्मा से डरते रहें । त्यागपूर्वक पदार्थों का उपभोग करें । धार्मिक होकर इस लोक में अभ्युदय फल और परलोक में निःश्रेयस फल को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहें । यह धन किसका है ? अर्थात् किसी का नहीं । यह सब धन परमात्मा का है । उसी ने कर्मानुसार सब को दिया है । अतः कभी भी अन्याय से किसी के द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा न करें ।

अन्यत्र व्याख्यात—हे मनुष्य ! जो कुछ इस संसार में जगत् है, उस सब में व्याप्त होकर नियन्ता है, वह ईश्वर कहाता है । उससे डरकर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर । अन्याय के त्याग और न्यायाचरण रूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द भोग।।४०।१।।

(सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के विषय के सम्बन्ध में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मण्यविनियुक्ताः । तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात् । याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः ।

अर्थात् 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग नहीं है, क्योंकि ये कर्मशेष से भिन्न आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले हैं । और आत्मा का यथार्थस्वरूप है—शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व और सर्वगतत्वादि है, जो आगे कहा जायेगा, इसका कर्म से विरोध है, अतः इन मन्त्रों का कर्म में विनियोग न होना ही ठीक है ।

समीक्षा—'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन है, अतः कर्म में इनका विनियोग नहीं है, श्री शङ्कराचार्य जी का कथन सत्य नहीं है । क्योंकि वेदों में जहां-जहां भी आत्मा का वर्णन है, उन मन्त्रों का भी कर्म में विनियोग नहीं होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं है, जैसे यजुर्वेद के ३२वें अध्याय में भी आत्मा का वर्णन है और उसका विनियोग 'सर्वमेधयज्ञ' में किया गया है । अतः शङ्कराचार्य जी का कथन

अनैकान्तिक है । और उनका यह कथन भी सत्य नहीं है कि 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों में आत्मा के स्वरूप का ही वर्णन है । स्वयं श्री शङ्कर स्वामी ने 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' मन्त्र के अर्थ में लिखा है कि अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करें ।[१] और उनका यह कथन भी मिथ्या है कि आत्मा के वर्णन का कर्म से विरोध है । आत्मा के सत्य स्वरूप को जानकर ही जीवात्मा श्रेष्ठकर्मों में प्रवृत्त होता है और दुष्कर्मों से बच जाता है । परमात्मा के निष्पापादि गुणों की स्तुति का प्रयोजन भी यही है, कि परमात्मा की भांति जीवात्मा अपने को निष्पाप बनाने का पूर्ण यत्न करे और शुद्धस्वरूप परमात्मा की भांति शुद्ध बन सके । अतः आत्मा के स्वरूप ज्ञान तथा कर्म में परस्पर कोई भी विरोध नहीं है अपितु परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । ज्ञान के बाद ही जीवात्मा शुभ कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है । इसी उपनिषत् के 'अग्ने नय सुपथा' मन्त्र का यज्ञकर्म में तथा 'वायुरनिलममृतमथेदम्०' मन्त्र का अन्त्येष्टि कर्म में विनियोग होने से शङ्कर स्वामी का इन मन्त्रों का कर्म में विनियोग न मानना काल्पनिक ही है ।

क–"न ह्येवं लक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्त्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात् ।" (शाङ्करभा०)

अर्थात् आत्मा का ऐसे लक्षणों वाला यथार्थ स्वरूप–उत्पाद्य, विकार्य, आप्य, संस्कार्य, कर्त्ता और भोक्ता रूप नहीं है, जिससे कि वह कर्म का शेष हो सके ।

ख–''तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपाप-विद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।" (शाङ्करभाष्यम्)

अर्थात् इसलिए आत्मा के सामान्य लोगों की बुद्धि से सिद्ध होने वाले अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा अशुद्धत्व और पापमयत्व को लेकर ही कर्मों का विधान किया गया है ।

ग–तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्त्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादि विज्ञानमुत्पादयन्ति ।' (शाङ्करभाष्यम्)

अर्थात् इस कारण से ये मन्त्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश

---

१. 'कुर्वन्नेव इह निवर्त्तयन्नेव कर्माणि=अग्निहोत्रादीनि जिजीविषेत् ।' (शाङ्करभाष्यम्)

करके आत्मसम्बन्धी स्वाभाविक अज्ञान को निवृत्त करते हुए संसार के शोक मोहादि धर्मों के विच्छेद के साधनस्वरूप आत्मैकत्वादि विज्ञान को ही उत्पन्न करते हैं ।

समीक्षा—क—आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा । दोनों ही अनुत्पाद्य, चेतन व शाश्वत हैं किन्तु परमात्मा एक, सर्वज्ञ, सर्वत्र व्यापक, निराकार, सर्वशक्तिमान् आदि गुणयुक्त है और जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, अल्पसामर्थ्य वाला और कर्म करने में स्वतन्त्र होता हुआ भी फल भोगने में परतन्त्र है । इस निश्चित सिद्धान्त को स्वयं शङ्कराचार्य जी को भी मुण्डकोपनिषत् के 'द्वा सुपर्णा सयुजा॰' (मु॰—३।१।१) मन्त्र की व्याख्या में स्वीकार करना पड़ा । अन्यत्र भी ऐसे ही अर्थ करने पड़े । किन्तु कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आदि किस आत्मा के लक्षणों का प्रतिषेध शङ्कर स्वामी कर रहे हैं ? यह स्पष्ट नहीं किया । क्या परमात्मा सृष्टि का रचयिता होने से कर्त्ता नहीं है ? क्या जीवात्मा कर्त्ता, भोक्ता तथा अनेकत्वादि लक्षण वाला नहीं है ? यदि शङ्कराचार्य जी का अभिप्राय परमात्मा से ही है, क्योंकि वे जीवात्मा की सत्ता पृथक् नहीं मानते तो भी कर्त्तृत्व-लक्षण का तो प्रतिषेध नहीं करना चाहिए । क्योंकि परमात्मा इस समस्त जगत् का कर्त्ता है ।

ख—शङ्कराचार्य जी की यह मान्यता भी सत्य नहीं है कि सामान्य बुद्धि से सिद्ध आत्मा के अनेकत्व, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्वादि को लेकर ही कर्मों का विधान किया है । सामान्य-बुद्धि वालों की बात छोड़ दें तो भी परमात्मा से भिन्न जीवात्मा की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है । अन्यथा 'द्वा सुपर्णा सयुजा॰' जैसे मन्त्रों का अर्थ कैसे भी सङ्गत नहीं हो सकता। क्या मन्त्रों में भी सामान्य-बुद्धियों के लिए ही वर्णन किया है ? क्या 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:' (कठो॰) मन्त्र में आत्मा को भोक्ता, 'चेतनश्चेतनानाम्॰' (कठोप॰) जीवात्मा का अनेकत्व, 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति॰' (कठोप॰) में परमात्मा का जीवात्मा द्वारा हृदयाकाश में साक्षात्कार, और 'शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यम्' (मुण्डको॰) में जीवात्मा को बाण और परब्रह्म को लक्ष्य कहकर भी उपासक व उपास्य में भेद नहीं माना? जिस आत्मा में अनेकत्व, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्वादि को मानकर वेदों में कर्मों का विधान किया है, क्या वह कल्पित ही है ? क्या आपके कथनानुसार परमात्मा के स्वरूप का ही प्रकाश करने वाले मन्त्र 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' में कर्म करते हुए सौ

वर्षों तक जीने का उपदेश परमात्मा के लिए है ? कर्म से आत्मा के स्वरूप को विरुद्ध मानकर क्या यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस मन्त्र में अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने का उपदेश किस के लिए है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान यदि खोजा जाए तो श्री शङ्कर स्वामी का अद्वैतवाद स्वतः ही धराशायी हो जाता है ।

ग—इन मन्त्रों से आत्मा के स्वाभाविक अज्ञान की निवृत्ति मानना भी एक असङ्गत-कल्पना है । अज्ञान यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण है तो वह कभी भी दूर नहीं हो सकता । क्योंकि स्वाभाविक गुण किसी भी वस्तु से कदापि पृथक् नहीं हो सकता । जैसे जल का स्वाभाविक गुण शीतलता है । जल को अग्नि के संयोग से गर्म कितना भी किया जाए, किन्तु कालान्तर में वह फिर शीतल ही हो जाता है । और यह अज्ञान क्या परमात्मा का स्वाभाविक गुण है ? क्योंकि जीवात्मा की सत्ता को तो वेदान्ती स्वीकार नहीं करते । धन्य है, ऐसे अद्वैतमत तथा उसके संस्थापकों को, जो उपनिषदों में वर्णित सर्वज्ञ परब्रह्म को भी अज्ञानी बनाने का दुस्साहस करने लगे हैं और अपनी कल्पित मान्यता के कारण उन्हें ऐसा करना पड़ा है अन्यथा ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की सत्ता स्वीकार करने पर उसके अज्ञान को दूर करना ही मन्त्रों का लक्ष्य है और वह भी स्वाभाविक अज्ञान नहीं होता, अपितु नैमित्तिक होता है ।

ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

क—सब का ईशन=शासन करने वाला परमेश्वर परमात्मा है । वही सब जीवों का आत्मा होकर अन्तर्यामी रूप से सब का ईशन करता है । उस अपने स्वरूपभूत आत्मा ईश से सब (जगत्) वास्य=आच्छादन करने योग्य है ।[१]

ख—यह सब जो कुछ जगती अर्थात् पृथिवी में जगत् (स्थावर-जङ्गमप्राणिवर्ग) है, वह सब अपने आत्मा ईश्वर से अन्तर्यामि रूप से यह सब कुछ मैं ही हूं, ऐसा जानकर अपने परमार्थसत्यस्वरूप परमात्मा से यह सम्पूर्ण मिथ्याभूत चराचर आच्छादन करने योग्य है ।[२]

१—ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य । स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तू-नामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणात्मनेशावास्यमाच्छादनीयम् ।

२—यत् किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्, तत्सर्वं स्वेनात्मना ईशेन प्रत्यगात्मतयाहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना ।

समीक्षा—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में बहुत ही स्पष्ट कहा गया है कि पसरमात्मा सब का शासन करने वाला है । और वह स्थावर-जङ्गम दोनों प्रकार के जगत् को व्यापक होने से आच्छादन कर रहा है । इससे स्पष्ट है कि शासन करने वाला तथा जिस जगत् पर वह शासन कर रहा है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं । यदि परमात्मा से भिन्न किसी वस्तु की परमार्थसत्ता ही नहीं है तो परमात्मा किस का आच्छादन करता है ? और श्री शङ्कर स्वामी ने दोनों बातें यहां ऐसी लिखी हैं, जिनसे उनका अद्वैतवाद स्वतः ही खण्डित हो जाता है । एक तो यह कि परमात्मा जीवों का अन्तर्यामी है । यहां जीवात्मा की परमात्मा से भिन्न सत्ता स्वयं स्वीकार कर ली है । और स्थावर-जङ्गम या चर-अचर ये जगत् के दो भेद भी स्वीकार किए हैं । जिन्हें जड़-चेतन रूप से भी कहा जा सकता है । इससे भी परमात्मा से भिन्न चेतन जीवात्मा तथा अचेतन जड़ जगत् की सत्ता को श्री शङ्कर स्वामी ने स्वयं स्वीकार कर लिया अन्यथा चराचर जगत् के दो भेद बन ही नहीं सकते । अतः स्पष्ट ही परमात्मा, भोक्ता-जीवात्मा तथा परमेश्वर से आच्छादित अचेतन प्रकृति की सत्ता को स्वीकार करने से त्रैतवाद की सिद्धि हो जाती है ।

इस मन्त्र की व्याख्या में "अन्तर्यामी रूप से यह सब कुछ मैं ही हूं और 'यह सम्पूर्ण चराचर जगत् मिथ्या है' इत्यादि बातें मूल मन्त्र में न होने से स्वयं कल्पित तथा मिथ्या हैं ।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या में शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"इस प्रकार जो ईश्वर ही चराचर जगत् का आत्मा है, ऐसी भावना से युक्त है, उसके पुत्रादि तीनों एषणाओं के त्याग में ही अधि कार है, कर्म में नहीं । उसके त्याग से आत्मा का पालन कर । त्यागा हुआ अथवा मरा हुआ पुत्र या सेवक, अपने सम्बन्ध का अभाव हो जाने के कारण अपना पालन नहीं करता, अतः त्याग से भोग=पालन कर ।"[१]

समीक्षा—मन्त्र में कहा है—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः=अर्थात् त्याग भाव से सांसारिक पदार्थों का भोग करो । कर्म का प्रतिषेध नहीं किया।

१—एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वा आत्मसम्बन्धिताया अभावात् आत्मानं पालयति, अतस्त्यागेन इत्ययमेव वेदार्थः—भुञ्जीथाः=पालयेथाः ।

किन्तु शाङ्कर-भाष्य में कर्म का निषेध करके न केवल व्याख्या ही त्रुटिपूर्ण की है, प्रत्युत 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' मन्त्र के विरुद्ध भी की है। और जब परमात्मा से भिन्न कोई सत्ता ही श्री शङ्कराचार्य जी नहीं मानते तो यह आदेश किसे दिया जा रहा है ? क्या परमात्मा परमात्मा को ही आदेश दे रहा है ? और 'भुञ्जीथाः' क्रिया का 'पालन कर' अर्थ भी यहां सङ्गत नहीं है । 'आत्मा का पालन कर' इस अर्थ की यहां क्या सङ्गति? और जो उदाहरण दिया है, उसकी भी कोई सङ्गति होनी चाहिए। त्यागा हुआ पुत्र या सेवक जैसे सम्बन्ध न रहने से पालनादि क्रियाएं नहीं करता, वैसे ही पुत्रादि एषणाओं के त्याग से आत्मा का पालन करने की बात उचित नहीं है । क्या त्याग से पूर्व ये एषणाएं पालन करती थीं, जो उनके त्याग के बाद पालन की आशा के अभाव में पालन करने का आदेश दिया है ? और आत्मा नित्य अच्छेद्यादि गुणों वाला है, उसका क्या पालन करना ? और यदि भाष्यकार का भाव यह हो कि इन एषणाओं से बचने के लिए कहा गया है तो भी अर्थ की सङ्गति तभी हो सकती है जबकि 'भुञ्जीथाः' क्रिया का भोगना अर्थ किया जाए । क्योंकि भोग करता हुआ मनुष्य ही एषणाओं के जाल में फंस सकता है, अतः उसे बचने की शिक्षा देना भी उचित है ।

व्याकरण के अनुसार भी श्री शङ्कराचार्यकृत 'भुञ्जीथाः' की व्याख्या 'पालयेथाः' अशुद्ध है । यह 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु का रूप है । यद्यपि 'भुज' धातु के पालन करना तथा अभ्यवहार=खाना दोनों अर्थ हैं । किन्तु 'भुजोऽनवने' (अ० १।३।६६) इस पाणिनीय सूत्र में पालन से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है । पालन अर्थ में परस्मैपद होता है । मन्त्र में आत्मनेपद का रूप है, अतः उसका अर्थ 'पालन करना' व्याकरणनियम से भी अशुद्ध है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । भुरिगनुष्टुप् । धैवतः ।।

अथ वैदिककर्मणः प्राधान्यमुच्यते ।

अब वैदिक कर्म की प्रधानता का उपदेश किया जाता है ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।४०।२।।

***पदार्थः*—(कुर्वन्) (एव) (इह)** अस्मिन् संसारे **(कर्माणि)**

धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि **(जिजीविषेत्)** जीवितुमिच्छेत् **(शतम्)** **(समाः)** संवत्सरान् **(एवम्)** अमुना प्रकारेण **(त्वयि)** **(न)** निषेधे **(अन्यथा)** **(इतः)** अस्मात् प्रकारात् **(अस्ति)** भवति **(न)** निषेधे **(कर्म)** अधर्म्यमवैदिकं मनोऽर्थसम्बन्धिकर्म **(लिप्यते)** **(नरे)** नयन-कर्त्तरि ॥२॥

अन्वयः—मनुष्य इह कर्माणि कुर्वन्नेव शतं समा जिजीविषेदेवं धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने त्वयि नरे न कर्म लिप्यते, इतोऽन्यथा नास्ति लेपाभावः ॥२॥

सपदार्थान्वयः—**मनुष्य इह** अस्मिन् संसारे **कर्माणि** धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि **कुर्वन्नेव शतं समाः** संवत्सरान् **जिजीविषेत्** जीवितुमिच्छेत् ।

एवम् अमुना प्रकारेण **धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने त्वयि नरे** नयनकर्त्तरि **न—कर्म** अधर्म्यमवैदिकं मनोरथसम्बन्धिकर्म **लिप्यते** ।

इतः अस्मात् प्रकाराद् **अन्यथा नास्ति** न भवति **लेपाभावः**॥४०।२॥

भाषार्थ—मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त वेदोक्त, निष्काम-कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे ।

(एवम्) इस प्रकार से धर्मयुक्त कर्म में लगे हुए (त्वयि) तुझ (नरे) व्यवहारों के नायक नर में (कर्म) अपने मनोरथ से किए अधर्म युक्त, अवैदिक कर्म का (न लिप्यते) लेप नहीं रहता है ।

(इतः) इस वेदोक्त प्रकार से भिन्न (अन्यथा) अन्य प्रकार से कर्म के लेप का अभाव (न) नहीं (अस्ति) है । ४०।२॥

भावार्थः—मनुष्या आलस्यं विहाय सर्वस्य द्रष्टारं न्यायाधीशं परमात्मानं कर्त्तुमर्हां तदाऽऽज्ञां च मत्वा शुभानि कर्माणि कुर्वन्तोऽशुभानि त्यजन्तो ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षे प्राप्योपस्थेन्द्रियनिग्रहेण वीर्यमुन्नीया-ऽल्पमृत्युं घ्नन्तु, युक्ताऽऽहारविहारेण

भावार्थ—मनुष्य लोग आलस्य को छोड़ कर सबके द्रष्टा न्यायाधीश परमात्मा को, और आचरण करने योग्य उसकी आज्ञा को मानकर शुभ-कर्मों को करते हुए और अशुभ कर्मों को छोड़ते हुए ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्या और

च शतवार्षिकमायुः प्राप्नुवन्तु ।

उत्तम-शिक्षा को प्राप्त करके उपस्थ-इन्द्रिय के संयम से वीर्य को बढ़ाकर अल्पायु में मृत्यु को हटावें, और युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करें ।

यथा यथा मनुष्याः सुकर्मसु चेष्टन्ते, तथा तथैव पापकर्मतो बुद्धि-र्निवर्त्तते । विद्याऽऽयुः सुशीलता च वर्द्धते ।।४०।२।।

जैसे-जैसे मनुष्य श्रेष्ठ-कर्मों की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे ही पाप-कर्मों से उनकी बुद्धि हटने लगती है । जिसका फल यह होता है कि—विद्या, आयु और सुशीलता आदि गुणों की वृद्धि होती है ।।४०।२।।

***भा० पदार्थः*—**शतं समाः=शतवार्षिकमायुः । कर्म=पापकर्म । न लिप्यते=निवर्त्तते ।।

***भाष्यसार*—वैदिक कर्म की प्रधानता**—मनुष्य इस संसार में वैदिक निष्काम कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । तात्पर्य यह है कि मनुष्य आलस्य को छोड़कर, सब के द्रष्टा, न्यायाधीश, परमात्मा को तथा आचरण करने योग्य उसकी आज्ञा को मानकर शुभ कर्म करता हुआ और अशुभ कर्मों को छोड़ता हुआ, ब्रह्मचर्य से विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त करके, उपस्थेन्द्रिय के संयम से वीर्य को बढ़ाकर अल्पायु का विनाश करे । युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करे ।

इस प्रकार से वैदिक (धर्मयुक्त) कर्म में प्रवृत्त होने से मनुष्य अपने मनोरथ से किये अवैदिक (अधर्मयुक्त) कर्म में लिप्त नहीं होता । जैसे-जैसे मनुष्य वैदिक कर्मों में प्रवृत्त होता है वैसे-वैसे पापकर्म से उसकी बुद्धि निवृत्त होती जाती है । विद्या, आयु और सुशीलता बढ़ती है । इस प्रकार को छोड़कर कर्म में लेपाभाव का अन्य कोई प्रकार नहीं है ।।४०।२।।

***अन्यत्र व्याख्यात*—**जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा । जैसे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।" (य० ४०।२) परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो ।।४०।२।।

(सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)

समीक्षा—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' मन्त्र की भूमिका में शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

'अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्येदमुपदिशति ।'

अर्थात् अब जो आत्मतत्त्व का ग्रहण करने में असमर्थ दूसरा अनात्म पुरुष है, उसके लिए इस दूसरे मन्त्र का उपदेश करते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि श्री शङ्कराचार्य जी के मत में इसमें आत्मस्वरूप का वर्णन नहीं है । इसलिए इस मन्त्र की व्याख्या अनात्मज्ञ पुरुष के लिए की । किन्तु जब यह मन्त्र भी उपनिषत् का है और उपनिषदों के विषय में प्रारम्भ में ही श्री शङ्कराचार्य जी ने लिखा है—

'सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैव उपक्षयात् ।'

अर्थात् समस्त उपनिषदों की परिसमाप्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने में ही होती है । क्या इस मन्त्र को उपनिषत् का भाग न माना जाए ? अथवा आपकी मान्यता को, जिसमें कर्म तथा आत्मस्वरूप में विरोध माना है, मिथ्या समझा जाए ? आपका यह लेख भी वेद से विरुद्ध है कि—"आत्मा के सामान्य लोगों की बुद्धि से सिद्ध होने वाले अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा अशुद्धत्व और पापमयत्व को लेकर ही (अग्निहोत्रादि) कर्मों का विधान किया गया है ।"[१]

वेद का आदेश तो यह है कि जब तक जीवे, तब तक अग्निहोत्रादि कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे । मन्त्र में कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं है कि यह अनात्मज्ञ पुरुष के लिए उपदेश है । और शङ्कराचार्य जी ने स्वयं मनुष्य की बड़ी से बड़ी आयु १०० वर्ष मानी है । और मन्त्र की व्याख्या में अग्निहोत्रादि कर्म करता हुआ,[२] ऐसा ही अर्थ किया है । क्या यह उपदेश अनात्मज्ञ पुरुष के लिए हो सकता है ? जबकि मन्त्र का देवता 'आत्मा' है, जो मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है । जिसके अनुसार आत्मा (जीवात्मा) के लिए जीवन भर वैदिक कर्मों को करने के लिए उपदेश दिया गया है । किन्तु आप इस प्रकरण सङ्गत अर्थ को कैसे स्वीकार करते?

१—"तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।" (ईशोप० शा० भा०)

२—"कुर्वन्नेव इह निवर्त्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि जिजीविषेज् जीवितुमिच्छेत् शतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् ।" (ईशोप० शा० भा०)

आपने जीवब्रह्म की एकता की मिथ्या मान्यता को मानकर और जीवात्मा की पृथक् सत्ता न मानकर वेदों का अनर्थ कर दिया है । सत्य से विमुख व्यक्ति कहां-कहां और कैसे-कैसे ठोकरें खाता है, इसका यह मन्त्र एक नमूना है । आपकी इस गलत शिक्षा के कारण नवीन-वेदान्ती साधु स्वयम् अज्ञानग्रस्त होने से दूसरों को भी अज्ञानी ही बना रहे हैं । और आत्मज्ञान के लिए कर्म का विरोध मानकर निष्क्रिय बने हुए हैं । महर्षि दयानन्द की मन्त्रार्थभूमिका देखिए—'अथ वैदिककर्मणः प्राधान्यमुच्यते' अर्थात् अब वैदिक कर्मों की प्रधानता का उपदेश किया जाता है । मन्त्र में भी कहा है 'न कर्म-लिप्यते नरे' अर्थात् श्रेष्ठ कार्यों को करते हुए अधर्मयुक्त कर्मों का लेप नहीं रहता । अतः शङ्कराचार्य जी की मन्त्रार्थभूमिका प्रकरणविरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती ।

श्री शङ्कराचार्य जी की यह मान्यता भी अवैदिक तथा मिथ्या है कि—'मनुष्य की बड़ी से बड़ी आयु १०० वर्ष है ।'[१] (३६।२४) के 'तच्चक्षुर्देव०' मन्त्र में 'भूयश्च शरदः शतात्' कहकर सौ वर्षों से अधिक देखने-सुनने, जीने तथा उपदेश करने की प्रार्थना की गई है । और 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्' (यजु० ३।६२) मन्त्र में पुरुष की आयु ४०० वर्षों की बताई है । महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने अपने समय में मनुष्यों की आयु में कमी देखकर ही लिखा है—

किं पुनरद्यत्वे, चिरं जीवति, वर्षशतं जीवति । (महाभाष्य-नवा०)

अर्थात् आजकल क्या है, अधिक जीता है तो सौ वर्ष जीता है । और प्रत्यक्ष के अनुसार भी श्री शङ्कराचार्य जी की मान्यता मिथ्या है । क्योंकि सौ वर्षों से अधिक आयु के व्यक्ति अब भी विद्यमान हैं । छान्दोग्य के ऐतरेय महिदास की ११६ वर्ष की आयु लिखी है—

"स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् ।" (खं० १६।७)

इस मन्त्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य जी ने 'ज्ञान, कर्म, समुच्चय' का खण्डन करने के लिए स्वयं शङ्का की है—"यह कैसे जाना गया कि पूर्व मन्त्र से [संन्यासी की ज्ञाननिष्ठा का तथा द्वितीय मन्त्र से संन्यास में असमर्थ पुरुष की कर्मनिष्ठा का वर्णन किया गया है ।] इसका उत्तर देते हैं—'क्या तुम्हें स्मरण नहीं कि जैसा पहले कह चुके हैं—ज्ञान और

१—'जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् ।" (ईशोप० शा० भा०)

कर्म का विरोध पर्वत के समान अविचल है ।"[१]

मन्त्र में ज्ञान-कर्म के विरोध की कोई बात नहीं कही है, और नहीं यह बात कही है कि पूर्व मन्त्र में संन्यासी के लिए ज्ञान का और दूसरे में अनात्मज्ञ के लिए कर्म का उपदेश है । मन्त्र में मनुष्यमात्र के लिए उपदेश किया गया है कि मनुष्य परमात्मा को सर्वत्र व्यापक समझकर लोभादि दुर्गुणों से बचकर अनासक्त होकर सांसारिक सुखों का भोग करें और दूसरे मन्त्र में आजीवन यज्ञादि शुभकर्म करने का उपदेश है ।

ज्ञान और कर्म में पर्वत के समान अटल विरोध कहना महान् आश्चर्य की बात है । विना ज्ञान के कर्म अन्धे के समान और विना कर्म के ज्ञान पङ्गुवत् (लंगड़े के तुल्य) होता है । इन दोनों के समुच्चय के विना लौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है । स्वयम् इसी अध्याय के निम्न मन्त्र में ज्ञान-कर्म का समुच्चय दिखाया गया है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। (यजु० ४०।१४)

अर्थ–जो मनुष्य विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) को साथ-साथ जान लेता है, वह अविद्या (कर्म) से मृत्यु को पार करके विद्या (ज्ञान) से अमृत को प्राप्त करता है । ज्ञान के विना कर्म और कर्म के विना ज्ञान दोनों परस्पर अधूरे हैं । ज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठान ही सर्वाङ्गपूर्ण है । और केवल ज्ञान से मोक्ष कदापि नहीं हो सकता । क्योंकि मोक्ष भी कर्मों का फल ही है; अतः ज्ञान-कर्म का समुच्चय परमावश्यक है । वेद-मन्त्र में इस बात पर बल देने के लिए 'उभयं सह' शब्दों से उपदेश किया है । इस मन्त्र के अविद्यया=कर्मणा 'विद्यया=ज्ञानेन' अर्थ करने के लिए शङ्कराचार्य जी को भी सत्यार्थ करने के लिए बाध्य होना पड़ा। क्योंकि मन्त्र में अविद्या और विद्या को साथ-साथ जानने के लिए कहा गया है । यदि इनमें परस्पर विरोध होता तो ऐसा कदापि मूल-मन्त्र में उल्लेख न होता ।

१–"कथं पुनरिदमवगम्यते पूर्वेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति । उच्यते ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ?" (ईशोप० शा० भा०)

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथात्महन्तारो जनाः कीदृशा इत्याह ॥

अब आत्मा के हननकर्त्ता अर्थात् आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले जन कैसे होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

असुर्य्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

***पदार्थः—*(असुर्य्या)** असुराणां=प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः **(नाम)** प्रसिद्धौ **(ते)** **(लोकाः)** लोकन्ते=पश्यन्ति ते जनाः **(अन्धेन)** अन्धकाररूपेण **(तमसा)** अत्यावरकेण **(आवृताः)** समन्ताद्युक्ता=आच्छादिताः **(तान्)** दुःखान्धकारावृतान् भोगान् **(ते)** **(प्रेत्य)** मरणं प्राप्य **(अपि)** जीवन्तोऽपि **(गच्छन्ति)** प्राप्नुवन्ति **(ये)** **(के)** **(च)** **(आत्महनः)** य आत्मानं घ्नन्ति=तद्विरुद्धमाचरन्ति ते **(जनाः)** मनुष्याः ॥३॥

अन्वयः—ये लोका अन्धेन तमसावृता ये के चात्महनो जनाः सन्ति तेऽसुर्य्या नाम, ते प्रेत्यापि तान् गच्छन्ति ॥३॥

***सपदार्थान्वयः—* ये लोकाः** लोकन्ते=पश्यन्ति ते जनाः **अन्धेन** अन्धकाररूपेण **तमसा** अत्यावरकेण **आवृताः** समन्ताद्युक्ता=आच्छादिताः **ये के चात्महनः** य आत्मानं घ्नन्ति=तद्विरुद्धमाचरन्ति ते **जनाः** मनुष्याः **सन्ति तेऽसुर्य्याः** असुराणां=प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः **नाम** प्रसिद्धाः; **ते प्रेत्य** मरणं प्राप्य **अपि** जीवन्तोऽपि **तान्** दुःखान्धकारावृतान् भोगान् **गच्छन्ति** प्राप्नुवन्ति ॥४०।३॥

भाषार्थ—जो (लोकाः) लोग (अन्धेन) अन्धकाररूप (तमसा) अज्ञान के आवरण से (आवृताः) सब ओर से ढके हुए (ये, के, च) और जो कोई (आत्महनः) आत्मा के विरुद्ध आचरण करने हारे (जनाः) मनुष्य हैं; (ते) वे (असुर्याः) अपने प्राणपोषण में तत्पर, अविद्या आदि दोषों से युक्त लोगों एवम् उनके सम्बन्धियों के सदृश पाप कर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध हैं, (ते) वे (प्रेत्य) मरने के पीछे (अपि) और जीते हुए भी (तान्) उन दुःख अज्ञान रूप अन्धकार से युक्त भोगों

को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ।।३।।

भावार्थः—त एव असुरा, दैत्या, राक्षसाः, पिशाचा, दुष्टा मनुष्या य आत्मन्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यदा-चरन्ति ते न कदाचिदविद्यादुःख-सागरादुत्तीर्याऽऽनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति।

भावार्थ—वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच एवं दुष्ट हैं; जो आत्मा में और, वाणी में और तथा कर्म में कुछ और ही करते हैं, वे कभी अविद्या रूप दुःख-सागर से पार होकर आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकते ।

ये च यदात्मना तन्मनसा यन्मनसा तद्वाचा, यद्वाचा तत्कर्मणा-ऽनुतिष्ठन्ति; त एव देवा, आर्याः, सौभाग्यवन्तोऽखिलजगत्पवित्रयन्त इहाऽमुत्राऽतुलं सुखमश्नुवते ।।४०।३।।

और जो लोग जो आत्मा में सो मन में, जो मन में सो वाणी में, जो वाणी में सो कर्म में कपटरहित आचरण करते हैं; वे ही देव, आर्य, सौभाग्यवान् जन सब जगत् को पवित्र करते हुए इस लोक तथा परलोक में अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं ।।४०।३।।

भा० पदार्थः—आत्महनः=आत्मन्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यदाचरण-कर्त्तारः । गच्छन्ति=प्राप्तुं शक्नुवन्ति ।

***भाष्यसार*—आत्महन्ता लोग कैसे होते हैं**—जो लोग अन्धकार रूप अज्ञान के आवरण से आच्छादित हैं; सब ओर से ढके हुए हैं; और जो आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले हैं, वे आत्महन्ता कहलाते हैं । वे ही असुर अर्थात् प्राण-पोषण में तत्पर, अविद्यादि दोषों से युक्त, पापकर्म करने वाले हैं । जो आत्मा में और वाणी में और तथा कर्म में और ही आचरण करते हैं, वे ही असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच और दुष्ट मनुष्य हैं, वे मरकर तथा जीते हुए भी दुःख एवम् अन्धकार से युक्त भोगों को प्राप्त होते हैं । वे कभी भी अविद्या रूप दुःखसागर से पार होकर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते ।

इसके विपरीत—जो मनुष्य जो आत्मा में सो मन में, जो मन में सो वाणी में, जो वाणी में सो कर्म में निष्कपट भाव से आचरण करते हैं; वे ही देव, आर्य, सौभाग्यशाली, सकल, जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं; जो इस लोक और परलोक में अतुल सुख को प्राप्त करते हैं ।।४०।३।।

अन्यत्र व्याख्यात—(ये) जो (आत्महन:) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने, मानने और करने हारे हैं (ते) वे ही (लोका:) लोग (असुर्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य, राक्षस नाम वाले मनुष्य हैं; और वे ही (अन्धेन तमसावृता:) बड़े अधर्म रूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दु:खदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं ।

और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं; वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं । वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्द युक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं ।

(व्यवहारभानु)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के तृतीय-मन्त्र की व्याख्या में शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

क—"अब अज्ञानी की निन्दा करने के लिए यह (तीसरा) मन्त्र आरम्भ किया जाता है ।"[१]

ख—"अद्वय परमात्म-भाव की अपेक्षा से देवतादि भी असुर ही हैं। उनके अपने लोक 'असुर्य' हैं । जिनमें कर्मफलों का लोकन=दर्शन यानी भोग होता है, वे लोक अर्थात् जन्म अन्ध=अदर्शनात्मक तम=अज्ञान से आच्छादित हैं । वे इस शरीर को छोड़कर अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त योनियों में ही जाते हैं ।"[२]

ग—"जो आत्मा का घात करते हैं, वे आत्मघाती हैं । वे लोग कौन हैं ? जो अज्ञानी हैं । वे सर्वदा अपने आत्मा की किस प्रकार हिंसा करते हैं ? अविद्यारूप दोष के कारण अपने नित्यसिद्ध आत्मा का तिरस्कार करने से ।" "प्राकृत अज्ञानी जन आत्मघाती कहे जाते हैं । इस

१—''अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते ।''

(ईशावा० मं० ३ शाङ्करभाष्य)

२—"असुर्या:=परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोका असुर्या नाम । ते लोका: कर्मफलानि, लोक्यते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि । अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसावृता आच्छादिता: तान् स्थावरान्तान् प्रेत्य=त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।"

(ईशावा० मं० ३ । शा० भा०)

आत्मघातरूप दोष के कारण ही वे जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं ।।"[१]

इस मन्त्र का देवता 'आत्मा' है । अत: आत्म-विषयक चर्चा ही मन्त्र का विषय होना चाहिए । शाङ्कर-भाष्य में इस मन्त्र का विषय 'अज्ञानी की निन्दा' माना है । जब उनके मत में एक परमात्मा ही परमतत्त्व है, उससे भिन्न और किसी की सत्ता ही नहीं तो अज्ञानी कौन हैं ? क्या परमात्मा ही अज्ञानी बन जाता है ?

और 'असुर्या:' पद की व्याख्या में देवतादि को भी असुर कहना बिल्कुल गलत है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'विद्वांसो हि देवा:' विद्वान् पुरुषों को देव कहते हैं । क्या देव और असुर में कोई अन्तर नहीं है ? और 'सर्वं खलु ब्रह्म' मानने वाले यह भी भूल गए कि इससे वह ब्रह्म भी असुर हो जायेगा । और 'लोका:' पद की व्याख्या की है—कर्मफल तथा जन्म । 'लोक' शब्द 'लोकृ दर्शने' धातु से बना है, किन्तु शाङ्कर-भाष्य में धात्वर्थ की भी उपेक्षा करके उसका 'भोगना' अर्थ कर दिया । क्या ही विचित्र कल्पना है ? और इस अर्थ की मन्त्रार्थ में सङ्गति भी नहीं लगती । क्योंकि मन्त्र में कहा है कि वे लोक तमसा=अन्धकार से ढके हुए हैं। क्या कर्मफल या जन्म अन्धकार से ढके होते हैं? यथार्थ में 'लोकन्ते पश्यन्ति ये ते जना:' इस धात्वर्थ के अनुसार मनुष्य अज्ञान से ढके हुए होते हैं ? अत: यहां 'लोका:' का अर्थ 'जना:' ही सुसङ्गत है ।

इस मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी ने 'यथाकर्म यथाश्रुतम्' कहकर अपने-अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार योनियों में जाना स्वीकार कर ही लिया । किन्तु यहां यह भूल गए कि कर्मफल के सिद्धान्त को स्वीकार करने से अद्वैतवाद खिसक जायेगा । क्योंकि कर्मों का फल कौन भोगता है, परमात्मा या जीवात्मा ? परमात्मा को तो स्वयं ही भोक्ता नहीं मानते, और जीवात्मा की सत्ता ही नहीं मानते, किन्तु यहां तो माननी ही पड़ेगी । यह अचेतन शरीर तो अग्नि-द्वारा ही भस्म हो जाता है । अत: कर्म-फल का भोग जीवात्मा ही करेगा । पूर्व शरीर का त्याग और नवीन शरीर की प्राप्ति जीवात्मा की ही माननी होगी ।

१—"आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महन: । के ते जना: ? येऽविद्वांस: । कथं त आत्मानं हिंसन्ति ? अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मन: तिरस्करणात् ।" "प्राकृताऽविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते । तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते ।" (ईशावा० मं० ३। शा० भा०)

मन्त्र-पठित 'आत्महन:' पद का अर्थ भी श्री शङ्कराचार्य जी ने ठीक नहीं किया है । मन्त्र में दो बातें कही हैं और उन का चकार से समुच्चय किया है । एक तो यह है—जो मनुष्य अज्ञान से ढके हुए हैं और दूसरी यह है कि जो आत्महन:=आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले हैं। परन्तु शाङ्करभाष्य में 'चकार' को न समझकर एक ही अर्थ कर दिया। आत्मघाती कौन हैं ? जो अज्ञान से ढके हैं । महर्षि दयानन्द ने मन्त्र के रहस्य को अच्छी प्रकार समझा और उसकी अत्युत्तम सुसङ्गत व्याख्या की है । उन्होंने लिखा है कि आत्मघाती वे मनुष्य होते हैं जो अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करते हैं । वे दोनों प्रकार के ही मनुष्य हो सकते हैं—ज्ञानी और अज्ञानी । केवल अज्ञानी ही नहीं । विद्वान् भी बहुत बार लोभादि के कारण आत्मा के विरुद्ध आचरण करते रहते हैं, और अविद्वान् आत्मा के विरुद्ध आचरण न करने से आत्मघात-दोष से मुक्त भी रह जाते हैं ।

और जन्म-मरण में आवागमन के चक्र का कारण अविद्या-ग्रस्त आत्मघात ही नहीं है, अपितु जीवों के अपने शुभाशुभ कर्म भी हैं । चाहे कितना भी विद्वान् हो गया हो यदि कर्म अच्छे नहीं हैं, वह कभी भी जन्म-मरण से मुक्त नहीं हो सकता ।

इस मन्त्र के भाष्य में भी उव्वट लिखते हैं—

"ये के चात्महनो जना:=आत्मानं घ्नन्ति ये जना: ते आत्महन:।

आत्मानं च ते घ्नन्ति ये स्वर्ग-प्राप्तिहेतूनि कर्माणि कुर्वन्ति ।।"

(अर्थ) जो लोग आत्मा का हनन करते हैं, वे 'आत्महन्' कहलाते हैं । और आत्मा का हनन वे लोग करते हैं, जो स्वर्गप्राप्ति के निमित्त कर्म करते हैं ।

समीक्षा—मन्त्र में कहा है कि जो आत्मा का हनन करते हैं वे असुर=राक्षस हैं और वे मरकर घोर अन्धकार वाले लोकों को प्राप्त करते हैं । किन्तु 'स्वर्गकामो यजेत' (ब्राह्मण०) स्वर्ग की कामना करने वाले यज्ञ करें, इस प्रमाण के अनुसार स्वर्गप्राप्ति के हेतुभूत यज्ञादि शुभ कर्मों को करने वाले मनुष्यों को आत्मघाती तथा राक्षस बताना कैसा अद्‌भुत भाष्य है ? जिस स्वर्ग के विषय में उपनिषदों में अन्यत्र ऐसा लिखा है—

क—स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते ।। (कठो०)

स्वर्ग को प्राप्त मनुष्य अमृतत्व=अमरता को प्राप्त करते हैं ।

ख—शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।। (कठो०)

शोकादि दुःखों से पार हुआ मनुष्य स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है।

ग—स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।। (कठो०) अर्थात् स्वर्गलोक को प्राप्त करने वाले को भय तथा बुढ़ापादि नहीं रहते ।

घ—त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ।। (कठो०)

अर्थात् त्रिकर्मकृत्=यज्ञ, अध्ययन तथा दान करने वाला जन्म तथा मृत्यु के दुःख को पार कर लेता है ।

इत्यादि स्थलों पर स्वर्ग के विषय में पर्याप्त वर्णन मिलता है, जिस से स्पष्ट होता है कि स्वर्गलोक घोर अन्धकार या दुःख अथवा असुरों का स्थान नहीं है । स्वयं श्री शङ्कराचार्य जी ने भी लिखा है—

'यस्मिन् स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्रः एकः सर्वानुपरि अधिवसति ।'

(मुण्डको० १।२।५ शा० भा०)

अर्थात् स्वर्गलोक में देवों का स्वामी इन्द्र सर्वोपरि है । यद्यपि स्वर्गलोक कोई स्थान विशेष नहीं है, परन्तु जो सनातनी बन्धु स्थान विशेष ही मानते हैं, उनके मत में भी घोर अन्धकार वाला लोक कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अतः स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले कर्मों को करने वालों को आत्मघाती बताना एक मिथ्याग्रह से उत्पन्न प्रतिभा का ही फल हो सकता है; शास्त्रों तथा मूल मन्त्र से यह व्याख्या सर्वथा ही विपरीत है ।

दीर्घतमाः । ***ब्रह्म***=स्पष्टम् । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

कीदृशो जन ईश्वरं साक्षात्करोतीत्याह ॥

कैसा मनुष्य ईश्वर को साक्षात् करता है, यह उपदेश किया है ।।

अने॑ज॒देकं॒ मन॑सो॒ जवी॑यो॒ नैन॑द्दे॒वाऽआ॑प्नुव॒न् पूर्व॒मर्ष॑त् ।

तद्धाव॑तोऽन्यानत्ये॑ति॒ तिष्ठ॒त्तस्मि॑न्न॒पो मा॑त॒रिश्वा॑ दधाति ॥४॥

पदार्थः—**(अनेजत्)** न एजते=कम्पते तदचलत्=स्वावस्थाया-श्च्युतिः कम्पनं तद्रहितम् **(एकम्)** अद्वितीयं ब्रह्म **(मनसः)** मनोवेगात् **(जवीयः)** अतिशयेन वेगवत् **(न)** **(एनत्)** **(देवाः)** चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा **(आप्नुवन्)** प्राप्नुवन्ति **(पूर्वम्)** पुरःसरं पूर्णम् **(अर्षत्)** गच्छत् **(धावतः)** विषयान् प्रति पततः **(अन्यान्)** स्वरूपाद्विलक्षणान्मनो-वागिन्द्रियादीन् **(अति)** उल्लङ्घते **(एति)** प्राप्नोति=गच्छति **(तिष्ठत्)**

स्वस्वरूपेण स्थिरं सत् **(तस्मिन्)** सर्वत्राऽभिव्याप्ते **(अपः)** कर्म क्रियां वा **(मातरिश्वा)** मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान् धरति वायुस्तद्वद्वर्त्तमानो जीव**: (दधाति)** ।।४।।

***अन्वयः*—**हे विद्वांसो मनुष्याः ! यदेकमनेजन्मनसो जवीयः पूर्वमर्षद् ब्रह्माऽस्त्येनद्देवा नाप्नुवँस्तत्स्वयं तिष्ठत्सत्स्वानन्तव्याप्त्या धावतोऽन्यान-त्येति तस्मिन्स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते मातरिश्वा वायुरिव जीवोऽपो दधातीति विजानीत ।।४।।

***सपदार्थान्वयः*—हे विद्वांसो मनुष्या ! यदेकम्** अद्वितीयं ब्रह्म **अनेजत्** न एजते=कम्पते तदचलत्=स्वावस्थायाश्च्युतिः कम्पनं तद्रहितं, **मनसः** मनोवेगात् **जवीयः** अतिशयेन वेगवत् **पूर्वं** पुरःसरं पूर्णम् **अर्षत्** गच्छत् **ब्रह्माऽस्त्येनद् देवाः** चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा **नाप्नुवन्** प्राप्नुवन्ति; **तत्स्वयं तिष्ठत्** स्व-स्वरूपेण स्थिरं **सत् स्वानन्तव्याप्त्या धावतः** विषयान् प्रति पततः अन्यान् स्वस्वरूपाद्विलक्षणान्मनोवागिन्द्रि-यादीन् **अति+एति** उल्लङ्घ्य प्राप्नोति=गच्छति ।

***भाषार्थ*—**हे विद्वान् मनुष्यो! जो (एकम्) अद्वितीय ब्रह्म है वह (अनेजत्) कम्पन रहित अर्थात् अपनी अवस्था-स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता; वह (मनसः) मन के वेग से भी (जवीयः) अति वेगवान् (पूर्वम् सब का अग्रणी, पूर्ण (अर्षत्) सर्वत्र मन से पहले पहुंचा हुआ ब्रह्म है । (एनत्) इस ब्रह्म को (देवाः) अविद्वान् अथवा चक्षु आदि इन्द्रियां (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्त कर सकती हैं । (तत्) वह स्वयं (तिष्ठत्) अपने स्वरूप में स्थिर हुआ अपनी अनन्त व्यापकता से (धावतः) विषयों की ओर भागने वाले (अन्यान्) उसके अपने स्वरूप से भिन्न मन, वाणी, इन्द्रिय आदिकों को (अत्येति) प्राप्त नहीं होता ।

तस्मिन्=स्थिरे सर्वत्राभि-व्याप्ते मातरिश्वा=वायुरिव जीवः मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान् धरति वायुस्तद्वद् वर्त्तमानो जीवः **अपः कर्म क्रियां वा दधातीति**

(तस्मिन्) उस सर्वत्र व्यापक स्थिर ब्रह्म में (मातरिश्वा) जैसे अन्तरिक्ष में वायु क्रियाशील रहता है वैसे ही जीव (उस ब्रह्म में) (अपः) कर्म वा क्रिया को धारण

विजानीत ।।४०।४।।

भावार्थः—ब्रह्मणोऽनन्तत्वाद्यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र पुरस्तादेवाऽभिव्याप्तमग्रस्थं ब्रह्म वर्त्तते; तद्विज्ञानं शुद्धेन मनसैव जायते । चक्षुरादिभिरविद्वद्भिश्च द्रष्टुमशक्यमस्ति । स्वयं निश्चलं सत् सर्वान् जीवान् नियमेन चालयति धरति च । तस्याऽतिसूक्ष्मत्वादतीन्द्रियत्वाद्धार्मिकस्य विदुषो योगिन एव साक्षात्कारो भवति, नेतरस्य ।।४०।४

करता है, ऐसा जानो ।।४।।

भावार्थ—ब्रह्म अनन्त है, अतः जहां-जहां मन जाता है, वहां-वहां पहले से ही व्यापक एवम् आगे आगे स्थित है; उस ब्रह्म का ज्ञान शुद्ध मन से ही होता है । उसे चक्षु आदि इन्द्रियां और अविद्वान् लोग नहीं देख सकते । वह स्वयं स्थिर रहता हुआ सब जीवों को नियम में चलाता है और उनको धारण करता है उस ब्रह्म के अति सूक्ष्म एवम् अतीन्द्रिय होने से धार्मिक, विद्वान्, योगी को ही उस का साक्षात्कार होता है; अन्य को नहीं ।।४०।।४।।

भा० पदार्थः—अर्षत्=अग्रस्थं वर्त्तते । देवा=विद्वांसश्चक्षुरादीनि च । आप्नुवन्=द्रष्टुं शक्नुवन्ति । अनेजत्=निश्चलं सत् ।।

भाष्यसार—**कैसा मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है—** अद्वितीय ब्रह्म कम्पन रहित है अर्थात् अपने स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता । वह मनोवेग से अधिक वेगवान् है अर्थात् ब्रह्म अनन्त है; जहां-जहां मन जाता है वहां-वहां ब्रह्म पहले से ही व्यापक है । उसका विशिष्ट ज्ञान शुद्ध मन से ही होता है । चक्षु आदि इन्द्रियां और अविद्वान् लोग उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते; उसे प्राप्त नहीं कर सकते । वह अपने स्वरूप में स्थिर है । विषयों की ओर दौड़ने वाली, ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न मन और वाणी आदि इन्द्रियों को वह अपनी अनन्त व्याप्ति से लांघ जाता है । वह स्वयं निश्चल है तथा सब जीवों को नियम से चलाता है और उन्हें धारण करता है । उस सर्वत्र व्याप्त तथा स्थिर ब्रह्म में जीव अपने कर्मों को स्थापित करता है । वह अति सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है। धार्मिक विद्वान् योगी ही उसका साक्षात्कार करता है ।। ४०।४।।

अन्यत्र व्याख्यात—"नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्" (य० ४०।४)—इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है; जो कि

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन ये छः देव कहाते हैं । क्योंकि शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है । और 'देव' शब्द से स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है।।४०।४।। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचार)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के चतुर्थ मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

क—"वह आत्मतत्त्व कम्पन=चलन-अर्थात् अपनी अवस्था से च्युत होने से रहित है: अर्थात् सर्वदा एक रूप ही रहता है । वह एक ही सब प्राणियों में वर्त्तमान है ।"[१]

ख—"वह सर्वव्यापी आत्मतत्त्व अपने निरुपाधिक स्वरूप से समस्त संसारधर्मों से रहित तथा निर्विकार होकर ही उपाधिकृत सम्पूर्ण सांसारिक विकारों को अनुभव करता है और अविवेकी मूढ पुरुषों को प्रत्येक शरीर में अनेक सा प्रतीत होता है ।"[२]

ग—"उस नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व के वर्त्तमान रहते हुए ही, जो अन्तरिक्ष में सञ्चार=गमन करता है, वह मातरिश्वा वायु, जो समस्त प्राणों का पोषक और क्रियारूप है, जिसके अधीन ये सारे शरीर और इन्द्रियां हैं तथा जिसमें ये सब ओत-प्रोत हैं और जो सूत्रसंज्ञक तत्त्व निखिल जगत् का विधारक है, वह मातरिश्वा (वायु) प्राणियों के चेष्टारूप कर्म अर्थात् अग्नि, सूर्य मेघादि के ज्वलन, दहन, प्रकाशन एवं वर्षादि कर्म विभक्त करता है ।"[३]

---

(१) "अनेजत्=न एजत् । एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिः, तद्वर्जितम्=सर्वदैकरूपमित्यर्थः । तच्चैकं सर्वभूतेषु ।"
(ईशावा० मं० ४ । शा० भा०)

(२) "सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसार-विक्रिया अनुभवतीत्य-विवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासते ।"
(ईशा० मं० ४ । शा० भा०)

(३) "तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरि=अन्तरिक्षे श्वयति=गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत् क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा, अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि, अग्न्यादित्य-पर्जन्यादीनां ज्वलन-दहन-प्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजति इत्यर्थः।" (ईशावा० ४। मं० शा० भा०)

यहां शङ्कराचार्य जी ने आत्मतत्त्व (ब्रह्म) को आकाश की भांति सर्वव्यापक अपनी अवस्था से च्युत न होने वाला सर्वदा एकरस तथा निरुपाधिक स्वरूप से सांसारिक धर्मों से रहित माना है, और फिर उसे ही यह भी कह दिया कि वही सोपाधिक होकर सब संसार के विकारों को अनुभव करता है । ये परस्पर विरोधी बातें कदापि सत्य नहीं हो सकतीं । जो निरुपाधिस्वरूप है, वह उपाधिस्वरूप कैसे होगा ? जो निर्विकार है, वह विकारों का अनुभव कैसे करेगा ? स्वयं श्री शङ्कराचार्य जी ने 'द्वा सुपर्णा सयुजा० (मुण्डकोप० ३।१।१) के भाष्य में "सर्वसत्त्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति" वह ईश्वर भोग नहीं करता है, ऐसा माना है, और यहां उसे ही विकारों का अनुभव करने वाला मान लिया है । क्या ये परस्पर विरोधी बातें विद्वानों को मान्य हो सकती हैं ? और जो बात मन्त्र में ही नहीं है, उसको व्याख्या में कैसे कहा जा सकता है ?

श्री शङ्कराचार्य जी का यह कथन भी मिथ्या तथा शास्त्रविरुद्ध है कि अविवेकी मूढ पुरुषों को वह ब्रह्म ही प्रत्येक शरीर में अनेक सा प्रतीत होता है । यदि प्रत्येक शरीर में एक ही चेतन सत्ता कार्य कर रही है, उस ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की कोई सत्ता नहीं है तो एक दूसरे की बातों का ज्ञान क्यों नहीं होता ? एक के विद्वान् होने से सभी विद्वान् तथा एक के दुष्कर्म करने से सभी पापी क्यों नहीं हो जाते ? सब शरीरों में एक ही चेतन ब्रह्म है तो कर्मों का फल किसको मिलता है और कौन देता है ? एक के मुक्त होने से सब मुक्त क्यों नहीं हो जाते ? इत्यादि प्रश्नों का क्या इस मान्यता में कोई उत्तर सम्भव है ?

और यह मान्यता उपनिषदों के भी विरुद्ध है, और नहीं इस मन्त्र में ही कही गई है । मन्त्र में ब्रह्म को एक कहा है, उसमें प्रतिशरीर में विद्यमान जीवों का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है । उपनिषदों में ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की पृथक् सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है । जैसे—

(अ) 'द्वा सुपर्णा सयुजा०' (मुण्डक०) में परमात्मा को अभोक्ता और जीवात्मा को भोक्ता पृथक् मानकर ही वर्णन किया है । (आ) 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् ।' (बृहदारण्यको०) में जीवात्मा को परमात्मा का शरीर बताया है अर्थात् वह सूक्ष्मतम होने से जीवात्मा में भी व्यापक है । (इ) 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्०' (कठोप०) में नित्य व चेतन ब्रह्म से भिन्न जीवात्माओं

को नित्य तथा चेतन माना है । इत्यादि अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं।

श्री शङ्कराचार्य जी की यह भी मान्यता कैसी बेतुकी है कि ब्रह्मतत्त्व के वर्त्तमान रहते हुए वायु शरीर-इन्द्रियों को चलाता है और सब प्राणियों के कर्मों को धारण करता या विभक्त करता है । यदि इस मान्यता को मान लिया जाए, तब तो कोई भी प्राणी मरे ही नहीं । मृत्यु का अर्थ है, शरीर से जीवात्मा का वियोग होना । जब जीवात्मा की कोई सत्ता ही नहीं तो परब्रह्म तो सर्वत्र व्यापक तथा शाश्वत है, मृत शरीर में भी है, तब तो किसी की मृत्यु होनी ही नहीं चाहिए । और वायु जड़ है, वह ज्ञानेन्द्रियों व शरीरादि को चलाता है, ऐसी निराधार बातों को कोई मूढ़ व्यक्ति भी स्वीकार नहीं कर सकता । पता नहीं इन नवीन वेदान्तियों ने इन्हें कैसे मान रक्खा है । जो स्वयं प्रत्येक व्यक्ति को साक्षात् अनुभव में आ रहा है, उससे भी विरुद्ध कहना या मानना क्या विवेक की बात हो सकती है ? वायु देखना चाहे देखे, सुनना चाहे सुने, यह कैसे सम्भव है ? परब्रह्म को तो देखने सुनने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। अचेतन वायु शरीर में इन्द्रियों को वश में रक्खे, और प्राणियों के कर्मों को विभक्त करे, क्या ये बातें बुद्धिगम्य हो सकती हैं ?

प्राणियों से यहां श्री शङ्कराचार्य जी ने अग्नि, सूर्य, मेघादि का ग्रहण किया है । यह भी वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध मान्यता है । समस्त शास्त्रों में प्राण, अपानादि क्रियाओं को जीवात्मा का लिङ्ग=ज्ञापक माना है किन्तु श्री शङ्कर-स्वामी कह रहे हैं कि प्राणी से अभिप्राय जड़ सूर्यादि से है । जीवात्मा की सत्ता न मानकर पक्षपात एवं दुराग्रहग्रस्त होकर ही ऐसी शास्त्रविरोधी एवं बुद्धिविरोधी बातें लिखी गई हैं । स्वयं को ब्रह्म मानने वालों की बुद्धि का यहां दिवाला ही निकल गया है । और जड़ वायु सूर्यादि प्राणियों के कर्मों को धारण करें या विभक्त करें, इसे भी कौन विद्वान् स्वीकार करेगा ? वायु, सूर्यादि परमात्मा की प्रेरणा से अपने-अपने कार्यों में रत हैं । इन में ऐसा ज्ञान कहां कि एक दूसरे के कर्मों को विभक्त कर सकें ।

यथार्थ में सत्य से विमुख व्यक्ति पद-पद पर ठोकरें ही खाता है। उसकी मानी हुई मिथ्या-मान्यता सर्वत्र परस्पर विरुद्ध होने से अवश्य ही टकराती हैं । इस मन्त्र का महर्षि दयानन्द का सुसङ्गत, शास्त्रसम्मत तथा अविरुद्ध अर्थ देखने से उपर्युक्त समस्त मिथ्या, मान्यताओं का समूल

परिहार हो जाता है ।

श्री उव्वट तथा श्री महीधर के भाष्य की समीक्षा–

इस मन्त्र के 'पूर्वम् अर्षत्' पदों की व्याख्या में श्री उव्वट ने 'अर्षत्' पद में रिशति हिंसाकर्मा' धातु मानकर 'अविनश्यत्' (अविनाशी) अर्थ किया है । श्री महीधर ने 'अर्शत्' पद ही मानकर लिखा है–

"अर्शत्=रिश हिंसायाम्, रिश्यति=नश्यति रिशत्, न रिशद्, अरिशत्, धातोरिकारलोपश्छान्दसः ।"

इस प्रकार दोनों ही भाष्यकारों ने 'अर्षत्=अविनाशी' अर्थ किया है। इस अर्थ के अनुसार "वह ब्रह्म पहले अविनाशी" था । क्या बाद में विनाशी हो जाता है ? यदि नहीं, तो पहले अविनाशी कहना असङ्गत ही है । इस का महर्षि दयानन्दकृत अर्थ द्रष्टव्य है, क्योंकि उसमें किसी भी तरह की असङ्गति नहीं है ।

इस मन्त्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य, श्री उव्वट तथा श्री महीधर ने 'मातरिश्वा' पद का वायु अर्थ किया है । किन्तु यह अर्थ प्रकरण के अनुकूल नहीं है । मन्त्र के प्रथम तीन चरणों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है । उसी का स्मारक 'तस्मिन्' पद मन्त्र के चतुर्थ-चरण में विद्यमान है । इस पद का वायुपरक अर्थ करने पर मन्त्रार्थ यह होगा ।

"उस ब्रह्म में वायु कर्मों को स्थापित करता है ।"

वायु अचेतन है, वह ब्रह्म में क्या कर्मों को स्थापित करेगा ? महर्षि दयानन्द ने इस पद का अर्थ करते हुए लिखा है–"मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान् धरति वायुः, तद्वद् वर्त्तमानो जीवः ।" अर्थात् जैसे अन्तरिक्ष में रहने से वायु को 'मातरिश्वा' कहते हैं, वैसे ही जीव भी ब्रह्मरूपी माता के आश्रय से प्राणादि धारण करता है और अपने कर्मों को ब्रह्म में स्थापित करता है । अर्थात् स्वकर्मानुसार ब्रह्म जीवों को कर्मफल देता है । अतः यह अर्थ प्रकरणानुकूल होने से सुसङ्गत है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

विदुषां निकटेऽविदुषां च ब्रह्म दूरेऽस्तीत्याह ।।

विद्वानों के निकट और अविद्वानों से ब्रह्म दूर है, यह उपदेश किया है ।।

तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के ।
तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः ।।५।।

***पदार्थः*—(तत्) (एजति)** कम्पते=चलति मूढदृष्ट्या **(तत्) (न) (एजति)** कम्पते कम्प्यते वा **(तत्) (दूरे)** अधर्मात्मभ्योऽ-विद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः **(तत्) (उ) (अन्तिके)** धर्मात्मनां विदुषां समीपे **(तत्) (अन्तः)** आभ्यन्तरे **(अस्य) (सर्वस्य)** अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा **(तत्) (उ) (सर्वस्य)** समग्रस्य **(अस्य)** प्रत्यक्षाऽ-प्रत्यक्षात्मकस्य **(बाह्यतः)** बहिरपि वर्त्तमानः ।।५।।

***अन्वयः*—**हे मनुष्यास्तद् ब्रह्मैजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदस्य सर्वस्यान्तस्तदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतो वर्तत इति निश्चिनुत ।।५।।

***सपदार्थान्वयः*— हे मनुष्याः !** तद्=ब्रह्मैजति कम्पते= चलति मूढदृष्ट्या **तन्नैजति** कम्पते कम्प्यते वा **तद्दूरे** अधर्मात्मभ्योऽ-विद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः **तद्वन्तिके** धर्मात्मनां विदुषां योगिनां समीपे । **तदस्य सर्वस्य** अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा **अन्तः** आभ्यन्तरे, **तदु सर्वस्य** समग्रस्य **अस्य** प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षात्मकस्य (जगतः) **बाह्यतः** बहिरपि वर्त्तमानः **वर्त्तत इति निश्चिनुत** ।।४०।५।।

***भाषार्थ*—**हे मनुष्यो ! (तद्) वह ब्रह्म (एजति) चलता है ऐसा मूढ समझते हैं; (तत्) वह (न) नहीं (एजति) चलता है और न कोई उसको चला सकता है । (तत्) वह दूरे अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से दूर है; (तत्) वह (उ) निश्चय से (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है । (तत्) वह ब्रह्म (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् एवं जीवों के (अन्तः) अन्दर विराजमान है । (तत्) वह (उ) निश्चय से (अस्य) इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जगत् के (बहिः) बाहर भी विराजमान है; ऐसा निश्चित जानो ।।४०।५।।

***भावार्थः*—**हे मनुष्याः ! तद् ब्रह्म मूढदृष्टौ कम्पत इव । तत् स्वतो व्यापकत्वात् कदाचिन्न चलति।

***भावार्थ*—**हे मनुष्यो ! वह ब्रह्म चलता सा है, ऐसा मूढ़ मानते हैं; वह व्यापक होने से अपने स्वरूप से कभी भी चलायमान

नहीं होता है ।

ये तदाज्ञाविरुद्धास्ते इतस्ततो धावन्तोऽपि तन्न विजानन्ति; ये चेश्वराऽऽज्ञाऽनुष्ठातारस्ते स्वाऽऽत्मस्थमतिनिकटं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति ।

जो लोग उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं, वे उसकी प्राप्ति के लिए इधर-उधर भागते हुए भी उसको नहीं जान सकते; और जो ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आचरण करते हैं, वे अति निकट अपने आत्मा में स्थित ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ।

यद् ब्रह्म सर्वस्य प्रकृत्यादेर्बाह्याऽभ्यन्तराऽवयवानभिव्याप्य सर्वेषां जीवानामन्तर्यामिरूपतया सर्वाणि पाप-पुण्यात्मककर्माणि विजानन् याथातथ्यं फलं, प्रयच्छत्येतदेव सर्वैर्ध्येयमस्मादेव सर्वैर्भेतव्यमिति ।।४०।५।।

जो ब्रह्म सब प्रकृति आदि के बाहर और भीतर के अवयवों में व्यापक होकर सब जीवों के अन्तर्यामी रूप से सब पाप और पुण्य कर्मों को जानता हुआ ठीक-ठीक फल प्रदान करता है; अतः इसी ब्रह्म का ही सब को ध्यान (उपासना) करनी चाहिए और इसी से सब को डरना चाहिए ।।४०।५।।

***भा० पदार्थः*—**तद्=ब्रह्म । एजति=मूढदृष्टौ कम्पत इव । अन्तिके=अतिनिकटम् । अस्य=प्रकृत्यादेः ।

***भाष्यसार*—ब्रह्म विद्वानों के निकट और अविद्वानों से दूर है**—वह ब्रह्म मूढों की दृष्टि में चलता है । वास्तव में वह न चलता है और न उसको कोई चला सकता है । यह स्वतः व्यापक होने से कभी नहीं चलता । अधर्मात्मा, अविद्वान् और अयोगी जनों से वह दूर है । जो उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं, वे इधर-उधर दौड़ते हुए भी उसे नहीं जान सकते । वह धर्मात्मा, विद्वान् योगी जनों के समीप है । अर्थात् जो ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं; वे अपने आत्मा में स्थित, अति निकट ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं । वह इस सब जगत् के तथा जीवों के अन्दर विद्यमान है तथा वह इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् के बाहर भी है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सब प्रकृति आदि पदार्थों के बाह्य और आन्तरिक अवयवों को व्याप्त करके सब जीवों के

अन्तर्यामी रूप से सब पाप-पुण्य रूप कर्मों को जानता है; और ठीक-ठीक फल देता है । सब मनुष्य इसी ब्रह्म का ध्यान करें, इसी की उपासना करें; और इसी से डरते रहें ।।४०।५।।

***अन्यत्र व्याख्यात*—(क)**—यह मन्त्र महर्षि ने—'तदेजति' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदविषय-विचार प्रकरण में उपासना के प्रमाण में उद्धृत किया है ।।

(ख)—'तद् एजति' वह परमात्मा सब जगत् को अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है, सो अविद्वान् लोग ईश्वर में भी आरोप करते हैं कि वह भी चलता होगा, परन्तु वह सब में पूर्ण है, कभी चलायमान नहीं होता। अतएव 'तन्नैजति' (यह प्रमाण है) । स्वत: वह परमात्मा कभी नहीं चलता, एकरस निश्चल होके भरा है । विद्वान् लोग इसी रीति से ब्रह्म को जानते हैं ।

'तद् दूरे'—अधर्मात्मा, अविद्वान्, विचारशून्य अजितेन्द्रिय, ईश्वर भक्ति रहित इत्यादि दोषयुक्त मनुष्यों से वह ईश्वर बहुत दूर है; अर्थात् वे कोटि-कोटि वर्ष तक उसको नहीं प्राप्त होते । इससे वे तब तक जन्म मरणादि दु:खसागर में इधर-उधर घूमते फिरते हैं कि जब तक उसको नहीं जानते। 'तद्वन्तिके'=वह सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक विद्वान् विचारशील पुरुषों के 'अन्तिक' अत्यन्त निकट है ।

किं च—वह सब के आत्माओं के बीच में अन्तर्यामी, व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है । वह आत्मा का भी आत्मा है; क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके विना खाली नहीं है । वह अखण्डैकरस, सब में व्यापक हो रहा है । उसी को जानने से सुख और मुक्ति होती है; अन्यथा नहीं ।
(आर्याभिविनय २।१२) ।।

(ग) "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:" वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है । (वेदविरुद्धमतखण्डन) ।।४०।५।।

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के पञ्चम मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

(क) "मन्त्रों को आलस नहीं होता, अत: पहले मन्त्र द्वारा कहे हुए अर्थ को ही फिर कहते हैं ।"[१]

१—"न मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह ।"

(ख) "वह आत्मतत्त्व, जिसका प्रकरण है, चलता है, वही स्वयं नहीं भी चलता । अर्थात् स्वयम् अचल रहकर ही चलता हुआ सा जान पड़ता है ।"[१]

(ग) "वही अन्तिक अत्यन्त समीप भी है । विद्वानों का आत्मा होने के कारण न केवल दूर है, अपितु समीप है । वह इस सब के अन्तर यानी भीतर भी है ।"[२]

समीक्षा—'मन्त्रा मननात्' (यास्कः) मनन करने के कारण ये मन्त्र कहलाते हैं । अथवा 'मत्रि गुप्तभाषणे' धातु से 'मन्त्र' शब्द बनता है । जिससे स्पष्ट है कि मन्त्रों में रहस्यात्मक बातें होती हैं, जिन पर बहुत ही गम्भीरता से विचार करना चाहिए । और मन्त्रों में परमेश्वर का ज्ञान है, उनमें पिष्ट-पेषण कैसे सम्भव है ? पूर्व-मन्त्र से इस मन्त्र में अनेक विशेष बातें कही हैं । केवल 'अनेजत्' या 'एजति' देखकर ही पुनरुक्त नहीं कहना चाहिए ।

परब्रह्म चलता है और नहीं भी चलता है, यहां विरोधाभासालङ्कार है । इस विरोधाभास का श्री शङ्कराचार्य जी ने कोई समाधान नहीं किया। यदि ब्रह्म अचल है तो चलता हुआ सा कैसे प्रतीत होता है ? यह पाठक को भ्रम ही बना रहता है । महर्षि दयानन्द ने इसका बहुत ही उत्तम समाधान किया है—'एजति कम्पते=चलति मूढदृष्ट्या' अर्थात् मूढ़ों की दृष्टि से ब्रह्म चलता हुआ प्रतीत होता है, वास्तव में नहीं ।' अथवा 'आर्याभिविनय' पुस्तक में 'एजति' पद में अन्तर्भावित णिच् मानकर यह अर्थ किया है—"परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है ।"

और मन्त्र में कहा है कि वह परब्रह्म इस सब के अन्दर और बाहर भी है । जब परब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं तो वह किसके अन्दर और किसके बाहर है ? अतः इससे अद्वैतमत का खण्डन ही होता है।

(क) श्री उव्वट ने इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है—

"तदेजति"=तदेव सर्वप्राणिरूपेणावस्थितं सत् एजति, कम्पवद् भवति,

---

१—"तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति, तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सन् चलतीवेत्यर्थः ।"

२—"तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च । तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य ।" (ईशावा० मं० ५ । शा० भा०)

क्रियावद् भवति । तन्नैजति=तदेव च न चलति स्थावररूपावस्थितं सत्।" (अर्थ) वह ब्रह्म सब प्राणियों के रूप में अवस्थित होकर चलता है, कम्पनशील होता है, क्रियावान् हो रहा है, और वही ब्रह्म स्थावर=वृक्षादि रूप में अवस्थित होकर नहीं चलता है ।

समीक्षा—यहां श्री उव्वट ने ब्रह्म के दो रूप स्वीकार किए हैं। एक—ब्रह्म प्राणीरूप में चल रहा है । दूसरा—ब्रह्म स्थावर (वृक्ष-पर्वतादि) रूप में नहीं चलता । अर्थात् ब्रह्म चेतन और जड़ दोनों रूपों में है । किन्तु जड़-चेतन दोनों ऐसे परस्पर विरोधी गुण हैं, जो एक ब्रह्म में कदापि नहीं रह सकते और नहीं ऐसा कोई दृष्टान्त है, जिसमें ये परस्पर विरोधी गुण मिलते हों । वृक्षादि में कम्पन होता है । पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि भी गतिशील हैं । ऐसी दशा में 'तन्नैजति' का क्या अभिप्राय होगा ? इसलिए श्री उव्वटकृत अर्थ दोषयुक्त होने से मान्य नहीं हो सकता ।

(ख) श्री उव्वट 'तद् दूरे तद्वन्तिके' की व्याख्या में लिखते हैं—

"तद् दूरे तदेव च दूरे आदित्यनक्षत्रादिरूपेणावस्थितम् ।...तदेव चान्तिके पृथिव्यादिरूपेणावस्थितम् ।" (अर्थ) वह ब्रह्म आदित्य (सूर्य) नक्षत्रादि रूप में अवस्थित होने से दूर है और पृथिवी आदि रूप में अवस्थित वह ब्रह्म समीप भी है ।

समीक्षा—यहां श्री उव्वट ने अखण्ड और सर्वव्यापक ब्रह्म को खण्ड-खण्ड और एकदेशी मान लिया है । ब्रह्म का एक खण्ड आदित्य (सूर्य), एक खण्ड नक्षत्र तथा एक खण्ड पृथिवी आदि है । यह कैसी विचित्र व्याख्या है । जिस ब्रह्म को 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्०' (ईशा०) मन्त्र में सर्वव्यापी, शरीरादि से रहित तथा अक्षत=अखण्ड बताया है, उसी को खण्ड-खण्ड कर दिया है । और यह खण्ड हुआ ब्रह्म किससे दूर तथा समीप है ? इस पर कोई विचार नहीं किया । 'यदि वह ब्रह्म जीव से दूर या समीप है, तो जीव-ब्रह्म की पृथक्ता सिद्ध होती है ।' अतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का सिद्धान्त मानने वालों को यहां परस्पर विरोधी व्याख्या को देखकर लेशमात्र भी बोध नहीं हुआ । मन्त्र के अन्तिम भाग में कहा है—

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।' अर्थात् वह ब्रह्म इस जगत् के अन्दर और बाहर भी है । यहां मन्त्रपठित 'अस्य' पद का श्री शङ्कराचार्य जी को 'सर्वस्य जगतः' अर्थ करना ही पड़ा । जगत् की सत्ता

मानकर अद्वैतवाद कहां रह गया? यथार्थ में मन्त्र के अनुसार त्रैतवाद स्पष्ट रूप से सिद्ध है—ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, इस जगत् के कहने से अचेतन प्रकृति के कार्य भूत जगत् की सत्ता है, और मूढ़ तथा विद्वान् जीवों की दृष्टि से वह ब्रह्म दूर या समीप कहलाता है । अतः ब्रह्म से भिन्न जीवों की सत्ता को स्पष्ट रूप से माना है । अतः श्री उव्वटादि मन्त्र के रहस्य को न समझ कर सत्यार्थ से बहुत दूर ही चले गये हैं ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथेश्वरविषयमाह ।।

अब ईश्वर-विषयक उपदेश किया जाता है ।।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ।।६।।

***पदार्थः*—(यः)** विद्वान् जनः **(तु)** पुनरर्थे **(सर्वाणि)** अखिलानि **(भूतानि)** प्राण्यप्राणि-रूपाणि **(आत्मन्)** परमात्मनि **(एव)** अनुपश्यति) विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं समीक्षते **(सर्वभूतेषु)** सर्वेषु प्रकृत्यादिषु **(च) (आत्मानम्)** अतति=सर्वत्र व्याप्नोति तम् **(ततः)** तदनन्तरम् **(न) (वि) (चिकित्सति)** संशयं प्राप्नोति ।।६।।

***अन्वयः*—**हे मनुष्याः ! य आत्मन्नेव सर्वाणि भूतान्यनुपश्यति, यस्तु सर्वभूतेष्वात्मानं च समीक्षते, स ततो न विचिकित्सतीति यूयं विजानीत ।।६।।

***सपदार्थान्वयः*— हे मनुष्याः ! यः** विद्वान् जनः **आत्मन्** परमात्मनि **एव सर्वाणि** अखिलानि **भूतानि** प्राण्यप्राणिरूपाणि **अनु+पश्यति** विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं समीक्षते ।

यः विद्वान् जनः **तु** पुनः **सर्वभूतेषु** सर्वेषु प्रकृत्यादिषु **आत्मानम्** अतति=सर्वत्र व्याप्नोति तं **च समीक्षते स ततः** तदनन्तरं **न वि+चिकित्सति**

***भाषार्थ*—**हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् जन (आत्मन्) परमात्मा में ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) जड़ चेतनों को (अनुपश्यति) विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास के पश्चात् देखता है ।

(यः तु) और जो विद्वान् (सर्वभूतेषु) सब प्रकृत्यादि पदार्थों में (आत्मानम्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा को देखता है, वह (ततः)

संशयं प्राप्नोति **इति यूयं विजानीत** ।।४०।६।।

ऐसे सम्यग्दर्शन के पीछे (न, विचिकित्सति) सर्वथा सन्देह को प्राप्त नहीं होता, ऐसा तुम जानो ।।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! ये सर्वव्यापिनं, न्यायकारिणं, सर्वज्ञं, सनातनं, सर्वात्मानं सर्वस्य द्रष्टारं परमात्मानं विदित्वा, सुख-दुःख-हानि-लाभेषु स्वाऽऽत्मवत् सर्वाणि भूतानि विज्ञाय, धार्मिका जायन्ते, त एव मोक्षमश्नुवते ।।४०।।६।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो लोग सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सर्वात्मा सब के द्रष्टा परमात्मा को जानकर; सुख-दुःख और हानि-लाभ में अपने आत्मा के समान सब प्राणियों को समझकर, धार्मिक बनते हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।।४०।६।।

भा० पदार्थः—आत्मनि=सर्वस्य द्रष्टरि परमात्मनि । न विचिकित्सति=धार्मिको जायते, मोक्षमश्नुते ।।४०।६।।

***भाष्यसार*—ईश्वर-विषयक उपदेश**—जो विद्वान् मनुष्य—परमात्मा में सब प्राणी=चेतन और अप्राणी=जड़रूप भूतों को विद्या, धर्म और योगाभ्यास के उपरान्त भली-भांति देखता है; तथा सब प्रकृति आदि पदार्थों में परमात्मा को व्यापक रूप में देखता है । तात्पर्य यह है कि परमात्मा को सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सर्वात्मा और सब का द्रष्टा समझता है; सुख-दुःख और हानि-लाभ में अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणियों को जानता है; संशय को प्राप्त नहीं होता । वह सन्देह-रहित हो जाता है । वह धार्मिक बन जाता है और मोक्ष को प्राप्त करता है ।।४०।६।।

अन्यत्र व्याख्यात—**(यः)** जो संन्यासी **(तु)** पुनः **(आत्मन्नेव)** आत्मा में अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य **(सर्वाणि भूतानि)** सम्पूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को **(अनुपश्यति)** अनुकूलता से देखता है; **(च)** और **(सर्वभूतेषु)** सम्पूर्ण प्राणी, अप्राणियों में **(आत्मानम्)** परमात्मा को देखता है; **(ततः)** इस कारण वह किसी व्यवहार में **(न विचिकित्सति)** संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वसाक्षी जान के अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणिमात्र को हानि-लाभ, सुख-दुःखादि व्यवस्था में देखे, वही उत्तम संन्यास धर्म को प्राप्त होता है ।।४०।६।।　　　　(संस्कारविधि, संन्यासप्रकरण)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषद् तथा यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के मन्त्रों में कहीं कहीं पाठभेद है । छठे मन्त्र में 'विचिकित्सति' के स्थान पर ईशावास्योपनिषद् में 'विजुगुप्सते' पाठ है । दोनों पदों के अर्थों में विशेष अन्तर नहीं है । विचिकित्सति=संशयं प्राप्नोति, विजुगुप्सते=निन्दित होता है या घृणा करता है । जो परमात्मा को सर्वत्र सर्वभूतों में देखता है, ऐसा योगी या मुमुक्षु संशय को प्राप्त नहीं होता अथवा निन्दित नहीं होता अथवा किसी से घृणा नहीं करता ।

इस मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"जो परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है, और उन्हें आत्मा से पृथक् नहीं देखता तथा उन सम्पूर्ण भूतों में भी आत्मा को देखता है, अर्थात् उन भूतों के आत्मा को भी अपना ही आत्मा जानता है । और यह समझता है कि जिस प्रकार मैं इस देह के कार्य और कारण सङ्घात का आत्मा और इसकी समस्त प्रतीतियों का साक्षी चेतयिता, केवल और निर्गुण हूं उसी प्रकार अपने इसी रूप से अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों का आत्मा भी मैं ही हूं । इस प्रकार जो सब भूतों में अपने निर्विशेष आत्मस्वरूप को ही देखता है ।"[१]

मन्त्रार्थ बहुत सरल तथा सुगम है । उपासक योगी जब परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तब सर्वव्यापी परमात्मा के स्वरूप को समझ लेता है । उस समय परमात्मा को सब प्राणी या अप्राणियों में, और सब भूतों में परमात्मा को देख लेता है, तब वह निन्दित कार्यों से अथवा संशय से मुक्त हो जाता है । किन्तु इस मूल मन्त्रार्थ से भिन्न जो बातें हैं, वे भी शङ्कराचार्य जी की काल्पनिक होने से अप्रामाणिक ही हैं। जैसे प्रकरण परमात्मा का है, वहां जीवात्मा परक अर्थ उचित नहीं है । 'आत्मा' शब्द से 'परब्रह्म' ही लेना चाहिए । और 'अनुपश्यति' क्रिया का कर्त्ता योगी या मुमुक्षु उस परब्रह्म से पृथक् है । अन्य प्राणियों के

---

(१) "यः परिव्राट् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः, सर्वभूतेषु च तेष्वेव चात्मानं तेषाम् अपि भूतानां स्वमात्मानम् आत्मत्वेन यथास्य देहस्य कार्यकारणसङ्घातस्यात्मा अहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति ।" (ईशावा० मं० ६। शा० भा०)

आत्मा को अपना ही आत्मा जानना या समस्त भूतों का आत्मा स्वयं को समझना अज्ञानता है । अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त जितने भी जगत् में पदार्थ हैं, वे सब अचेतन हैं, उनमें परब्रह्म तो व्यापक भाव से है, किन्तु उनमें जीवात्मा नहीं है । फिर उनके आत्मा को अपना आत्मा जानना, अज्ञान नहीं तो क्या है ? और प्राणियों के आत्मा को भी अपना आत्मा नहीं कहा जा सकता क्योंकि सब के आत्मा भिन्न-भिन्न हैं । इसीलिए दूसरे के देखे सुने का अनुस्मरण दूसरे को नहीं होता । यथार्थ ज्ञान को ही विद्या कहते हैं । अचेतन को चेतन, सर्वव्यापक को परिच्छिन्न, परिच्छिन्न को व्यापक तथा सर्वज्ञ को अल्पज्ञ और अल्पज्ञ को सर्वज्ञ समझना अज्ञान ही है । यथार्थ में इस प्रकार खैंचातानी से अद्वैतवाद सिद्ध नहीं हो सकता । सर्वव्यापक परमात्मा, उसको उपासकभाव से जानने वाला जीवात्मा और अव्यक्त प्रकृति से बने स्थावरान्त पदार्थ अचेतन, ये सब त्रैतवाद की ही पुष्टि करते हैं ।

श्री उव्वट ने इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है—"यः पुनः सर्वाणि भूतानि=चेतनाचेतनानि आत्मन्नेवानुपश्यति । मय्येव सर्वाणि भूतान्यवस्थितानि न मद्व्यतिरिक्तानि । अहमेव परं ब्रह्मेति । सर्वभूतेषु चात्मानम् अवस्थितं तद्व्यतिरिक्तं पश्यति, ततो न विचिकित्सति=न संशेते ।।" (अर्थ) जो सब चेतन और अचेतन भूतों को आत्मा (ब्रह्म) में ही देखता है । मुझ में ही सब भूत अवस्थित हैं मुझ से भिन्न नहीं, मैं ही परब्रह्म हूं और सब भूतों में आत्मा (ब्रह्म) को अवस्थित देखता है, अर्थात् उन से भिन्न समझता है, फिर वह संशयरहित हो जाता है ।

समीक्षा—यहां श्री उव्वट ने 'भूतानि' पद से चेतन अर्थात् प्राणी और अचेतन=पृथिवी आदि जड़ जगत् का ग्रहण किया है यह तो ठीक किया है । किन्तु 'आत्मन्नेवानुपश्यति' की जो यह व्याख्या की है कि सब जड़-चेतन (भूत) मुझ में ही अवस्थित हैं यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है । सब जड़-चेतनभूत किसी भी व्यक्ति में स्थित नहीं हैं। यदि व्याख्याता का अभिप्राय ब्रह्म से है तो भी व्याख्या दोषपूर्ण है । जड़-चेतन जगत् ब्रह्म के आश्रित तो है, किन्तु उससे भिन्न न मानना दुराग्रह मात्र ही है । प्रथम तो चेतन-अचेतन दोनों विरोधी धर्म एक वस्तु के (ब्रह्म के) ही धर्म नहीं हो सकते और अचेतन यदि ब्रह्म का गुण है तो क्या ब्रह्म अचेतन भी है ? यह एक नया प्रश्न उत्पन्न हो जायेगा।

जो स्वयम् अद्वैतवादी भी ब्रह्म को अचेतन मानने के लिए तैयार नहीं हैं। 'मैं ही परब्रह्म हूं' यह मन्त्रगत किसी पद की तो व्याख्या नहीं है, केवल अपनी कल्पित व्याख्या है ।

और श्री उव्वट आगे लिखते हैं—"सब भूतों में आत्मा (ब्रह्म) को अवस्थित देखता है अर्थात् उनसे भिन्न समझता है ।" क्या यह परस्पर विरोधी व्याख्या नहीं है ? प्रथम लिखा है कि सब भूत ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं और अब उनको भिन्न लिखना असङ्गत व्याख्या ही है । यथार्थ सत्य-मन्त्रार्थ को कहां तक छिपाते ? सत्य अर्थ कहते तो अपना मिथ्याग्रह खण्डित हो जाता, इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध व्याख्या तो की, किन्तु मिथ्याग्रह को नहीं छोड़ सके । यह विद्वानों को कदापि शोभा नहीं देता ।

श्री महीधर ने इस मन्त्र के 'विचिकित्सति' पद की व्याख्या में 'कित रोगापनयने संशये च' धातु से "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" सूत्र से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय माना है । यहां श्री महीधर ने अशुद्ध धातुपाठ उद्धृत किया है । पाणिनीय धातुपाठ में 'कित निवासे रोगापनयने च' पाठ है । यह श्री महीधर की भ्रान्ति ही है । शुद्ध 'कित' धातु का संशय अर्थ में प्रयोग नहीं होता । 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' इस के अनुसार विपूर्वक 'कित्' धातु का प्रयोग संशय अर्थ में होता है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथ केऽविद्यादिदोषान् जहतीत्याह ॥

अब कौन अविद्यादि दोषों को छोड़ते हैं, यह उपदेश किया जाता है।।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

पदार्थः—(**यस्मिन्**) परमात्मनि ज्ञाने विज्ञाने धर्मे वा (**सर्वाणि**) (**भूतानि**) (**आत्मा**) आत्मवत् (**एव**) (**अभूत्**) भवन्ति । अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम् । (**विजानतः**) विशेषेण समीक्षमाणस्य (**तत्र**) तस्मिन् परमात्मनि स्थितस्य (**कः**) (**मोहः**) मूढावस्था (**कः**) (**शोकः**) परितापः (**एकत्वम्**) परमात्मनेऽद्वितीयत्वम् (**अनुपश्यतः**) अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद्द्रष्टुः ।।७।।

प्रमाणार्थ—(**अभूत्**) भवन्ति । यहां वचन-व्यत्यय से बहुवचन

के स्थान में एकवचन है ।

***अन्वयः*—**हे मनुष्याः ! यस्मिन् परमात्मनि विजानतः सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् तत्रैकत्वमनुपश्यतो योगिनः को मोहोऽभूत्कः शोकश्च ।।७।।

***सपदार्थान्वयः*— हे मनुष्याः ! यस्मिन्**=**परमात्मनि** परमात्मनि ज्ञाने विज्ञाने धर्मे वा **विजानतः** विशेषेण समीक्षमाणस्य **सर्वाणि भूतान्यात्मा** आत्मवत् **एवाभूत्** भवन्ति; **तत्र** तस्मिन् परमात्मनि स्थितस्य **एकत्वं** परमात्मनोऽद्वितीयत्वम् **अनुपश्यतः**=**योगिनः** अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद्द्रष्टुः **को मोहः** मूढावस्था **अभूत्** भवति, **कः शोकः** परितापः **च** ।।४०।७।।

***भाषार्थ*—**हे मनुष्यो ! (यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान, अथवा धर्म के विषय में (विजानतः) सम्यग्ज्ञाता जन के लिए (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (आत्मा) अपने आत्मा के समान (एव) ही (अभूत्) होते हैं; (तत्र) उस परमात्मा में विराजमान, (एकत्वम्) परमात्मा के एकत्व को (अनुपश्यतः) ठीक-ठीक योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् देखने वाले योगी जन को (कः) क्या (मोहः) मोह और (कः) क्या (शोकः) क्लेश (अभूत्) होता है ।।४०७।।

***भावार्थः*—** ये विद्वांसः संन्यासिनः परमात्मना सहचरितानि प्राणिजातानि स्वात्मवद्विजानन्ति, यथा स्वाऽऽत्मनो हितमिच्छन्ति तथैव तेषु वर्त्तन्ते; एकमेवाऽद्वितीयं परमात्मनः शरणमुपागताः सन्ति, तान् मोह-शोकलोभादयो दोषाः कदाचिन्नाऽऽप्नुवन्ति ।

ये च स्वाऽऽत्मानं यथावद् विज्ञाय परमात्मानं विदन्ति, ते सदा सुखिनो भवन्ति ।।४०।७।।

***भावार्थः*—**जो विद्वान् संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणीमात्र को अपने आत्मा के समान समझते हैं, अर्थात् जैसे अपना हित चाहते हैं वैसे अन्य प्राणियों के साथ वर्ताव करते हैं; एक (अद्वितीय) परमात्मा की शरण को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें मोह, शोक, लोभ आदि दोष कभी भी प्राप्त नहीं होते।

और जो अपने आत्मा को ठीक-ठीक जानकर परमात्मा को जानते हैं; वे सदा सुखी रहते हैं।।४०।७।।

***भा० पदार्थः*—**भूतानि=परमात्मना सह चरितानि प्राणिजातानि । एकम्=अद्वितीयम् ।।७।।

***भाष्यसार*—कौन अविद्यादि दोषों को छोड़ते हैं**—परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान वा धर्म के विषय में विशेष रूप से जानने वाले विद्वानों के लिए सब प्राणी अपने आत्मा के समान हो जाते हैं । वे विद्वान् संन्यासी परमात्मा के साथ विद्यमान सब प्राणियों को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं । जैसे अपने आत्मा का हित चाहते हैं वैसे ही वे सब के प्रति व्यवहार करते हैं । वे एक (अद्वितीय) परमात्मा की शरण को प्राप्त हो चुके होते हैं । **परमात्मा में स्थित, योगाभ्यास से परमात्मा को साक्षात् देखने वाले योगी लोगों को अविद्यादि दोष प्राप्त नहीं होते ।** वे मोह, शोक, लोभादि दोषों को छोड़ देते हैं । वे अपने आत्मा को यथावत् जानकर परमात्मा को जान लेते हैं और सदा सुखी रहते हैं ।।४०।७।।

***अन्यत्र व्याख्यात*—**(विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणीमात्र (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है, उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एक भाव को देखने वाले संन्यासी को (को मोहः) कौन सा मोह और (कः शोकः) कौन सा शोक होता है; अर्थात् न उसको किसी से कभी मोह और न शोक होता है । इसलिए संन्यासी मोह, शोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब का उपकार करता रहे ।।४०।७।। (संस्कारविधि, संन्यासाश्रमप्रकरण)

समीक्षा—श्री पं० आर्यमुनि जी ने इस मन्त्र की व्याख्या में अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए लिखा है—"मायावादी इस मन्त्र का जप अहर्निश करते हैं और शाङ्कर-भाष्य में जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध करने के लिए यह मन्त्र सहस्रों स्थानों में लिखा गया है । अधिक क्या, जीव-ब्रह्म को एक बनाने के लिए एकमात्र यही मन्त्र इनके पास है । जिसका ये यों बलपूर्वक भाष्य करते हैं—कोई कहता है⋯"मूलाविद्यानिवृत्तौ तत्कार्ययोः शोकमोहयोरात्यन्तिकाऽभावादिति भावः ।" मूल अविद्या के निवृत्त होने पर इसके कार्य शोक, मोहादिकों का भी अत्यन्ताभाव हो जाता है । इनके मत में ब्रह्म को आच्छादन करने वाली अविद्या का नाम 'मूलाऽविद्या' है । कोई कहता है कि—यह सारा संसार रज्जु-सर्पवत् भ्रान्ति रूप प्रतीत होता है, भ्रान्ति दूर होने पर शोक-मोह की निवृत्ति हो जाती है इत्यादि । मायावादियों के अनेक मत हैं, पर सब का तत्त्व यही

है कि शोक-मोह की निवृत्ति जीवब्रह्म के एकत्व ज्ञान से ही होती है, अन्यथा नहीं । परन्तु जीव-ब्रह्म की एकता का भाव इस मन्त्र में गन्धमात्र भी नहीं है ।" (उपनिषदार्यभाष्य पृ० ७)

इस मन्त्र में शोक मोहादि के दूर करने के दो उपाय बताए हैं-(१) अपने आत्मा के समान सब प्राणियों की भलाई चाहना । (२) और एक अद्वितीय परमात्मा की शरण को प्राप्त करना । श्री शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र की व्याख्या में लिखा है-(क) "जिस समय अथवा जिस पूर्वोक्त आत्मस्वरूप परमार्थ तत्त्व को जानने वाले पुरुष की दृष्टि में वे ही सब भूत परमार्थ आत्मस्वरूप के दर्शन से आत्मा ही हो गए अर्थात् आत्मभाव को ही प्राप्त हो गए, उस समय अथवा उस आत्मा में क्या मोह और क्या शोक रह सकता है ?"[१]

(ख) "शोक और मोह तो कामना और कर्म के बीज को न जानने वाले को ही हुआ करते हैं, जो आकाश के समान आत्मा का विशुद्ध एकत्व देखने वाला है, उसको नहीं होते ।"[२]

(ग) "क्या मोह और क्या शोक ? इस प्रकार अविद्या के कार्यस्वरूप शोक और मोह की आक्षेपरूप असम्भवता दिखलाकर कारणसहित संसार का अत्यन्त ही उच्छेद प्रदर्शित किया गया है ।"[३]

शोक मोह का कारण अविद्या है । 'यह मेरा है,' इस भावना के बढ़ने से पुत्रादि के प्रति मोह पैदा होता है, और उसके वियोग होने पर शोक होता है । किन्तु जब योगी को परमात्मदर्शन होने पर यह बोध हो जाता है कि ये पिता-पुत्रादि के सम्बन्ध सांसारिक ही हैं और संसार के पदार्थों का एकमात्र स्वामी परब्रह्म ही है तो उसका मोह तथा तत्पश्चात् शोक भी क्रमशः दूर हो जाता है ।

यदि श्री शङ्कराचार्य जी की व्याख्या को मानकर अर्थ किया जाए तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न होता है कि जिसकी अविद्या

---

(१) "यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूद् आत्मैव संवृतः परमार्थवस्तु विजानतः, तत्र तस्मिन् काले तत्रात्मनि वा को मोहः कः शोकः ।"(ईशावा० मं० ७। शा० भा०)

(२) "शोकश्च मोहश्च कार्यं कर्मबीजम् अजानतो भवति, न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः ।"

(३)"को मोहः कः शोक इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेण असम्भवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ।।" (ईशावा० मं० ७। शा० भा०)

दूर हुई है, उसी की आत्मा परमात्मा रूप हो जाए, यह तो माना भी जा सकता था, किन्तु मन्त्र में तो 'सर्वाणि भूतानि' कहा है । परब्रह्म को जानने वाला एक है, उसकी दृष्टि में सब भूत (प्राणी) परमात्मा ही हो जाएं, यह बात बुद्धिसङ्गत कदापि नहीं हो सकती । ऐसा मानने पर 'अकृताभ्यागम' दोष आ जायेगा । अर्थात् किया किसी एक ने और उसका फल सब भूतों (प्राणियों) को मिल जाए, यह कैसे सम्भव है? अतः श्री शङ्कराचार्य जी को मन्त्रार्थ के समझने में बड़ी भूल हुई है ।

मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—जैसे किसी ने 'अदेवदत्तं देवदत्तमित्याह' जो देवदत्त नहीं है, उसको दूर से देवदत्त की कुछ समानता देखकर 'देवदत्त' कहकर पुकारा । उससे यही बात समझ में आती है—'देवदत्तवदयम्' यह देवदत्त के तुल्य है । इसी प्रकार यहां मन्त्र में कहा है 'जिस आत्मस्वरूप के जानने पर जानने वाले की दृष्टि में सब भूत (प्राणी) आत्मा ही हो गए हैं ।' यहां आत्मवत्=आत्मा के समान हो गए हैं । अर्थात् वह दूसरों के सुख-दुःखादि को अपने समान समझने लगता है, यही अर्थ उपयुक्त तथा सङ्गत होता है । क्योंकि सब ही भूत आत्मा हो जाएं, और बोध किसी एक को है, यह बुद्धिविरुद्ध बात है । और सब भूतों में भिन्न-भिन्न आत्माएं कार्य कर रही हैं, वे सब एक हो भी कैसे सकती हैं ? कुछ तो उनमें कार्यकरण भाव होना चाहिए ।

श्रीशङ्कराचार्य जी का यह कथन भी सत्य नहीं है कि कामना और कर्म बीज को न जानने वाले को शोक व मोह होते हैं । कामना का कारण अविद्या है, यह तो ठीक है, कि कर्म के कारण से क्या अभिप्राय है ? कर्म तो शुभाशुभ भेद से दो प्रकार के हैं । क्या निष्कामभाव से किए गए शुभ कर्म भी शोक-मोह का कारण हो सकते हैं ? यथार्थ में यह बात न तो मन्त्र में ही कही और नहीं उचित ही है । परमात्मज्ञान होने पर व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है, यह वेद की मान्यता नहीं, अद्वैतवादियों की हो सकती है, क्योंकि वे ज्ञान और कर्म में पर्वतवद् अटल विरोध समझते हैं । वेद में तो स्पष्ट रूप से कहा है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' । अर्थात् जब तक जीवित रहे निष्क्रिय न बैठे, कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे । अतः वैदिकमान्यता में ज्ञान व कर्म में परस्पर कोई विरोध नहीं है ।

श्री शङ्कराचार्य जी के भाष्य से कितनी बड़ी भ्रान्ति होती है कि

अविद्या के कार्य शोक-मोह के दूर होने पर "कारण सहित संसार का अत्यन्त ही उच्छेद हो जाता है ।" कारण के नष्ट होने से कार्य भी नष्ट हो जाता है, यह दर्शन का एक अटल नियम है । शोक-मोह का कारण अविद्या है, अविद्या के समाप्त होने पर शोक-मोह दूर हो जाएं, यह ठीक है । किन्तु कारणसहित संसार का उच्छेद कैसे होगा ? इस संसार का कारण तो मूल प्रकृति है । उसके महत्तत्वादि कार्य हैं । कुछ तो इनमें कारण कार्य भाव देखना चाहिए । केवल अपनी मिथ्या मान्यता के वशीभूत होकर ऐसी निराधार बातें लिखना या मानना क्या विद्वानों को शोभा दे सकती हैं ।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा—'एकत्वमनुपश्यतः' अर्थात् एक (अद्वितीय) ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले को क्या मोह और क्या शोक होता है? इसमें कहां कहा गया है कि जीव ब्रह्म की एकता हो जाने पर जो देख रहा है, और जिसको देख रहा है, वे द्रष्टा-दृश्य दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अतः अद्वैतवादियों का यह मूलमन्त्र उनकी मिथ्यामान्यता का प्रतिपादक कदापि नहीं हो सकता । इससे तो अद्वैतवाद का स्पष्ट खण्डन ही होता है । और इससे अगले ही मन्त्र में परब्रह्म के विशेषगुणों का वर्णन है, जिससे प्रकृति व जीवात्मा से परब्रह्म की पृथक्ता स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है । योगदर्शन में इसी 'एकत्वमनुपश्यतः' वाली योगी की दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (योग० १।३)

समाधि-दशा में पुरुष की परमात्मा के स्वरूप में स्थिति होती है एकता नहीं ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । स्वराड्जगती । निषादः ॥

पुनः परमेश्वरः कीदृश इत्याह ॥

परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

पदार्थः—**(सः)** परमात्मा **(परि)** सर्वतः **(अगात्)** व्याप्तोऽस्ति

(शुक्रम्) आशुकरं=सर्वशक्तिमत् **(अकायम्)** स्थूलसूक्ष्मकारणशरीररहितम् **(अव्रणम्)** अच्छिद्रमच्छेद्यम् **(अस्नाविरम्)** नाड्यादिसम्बन्धबन्धरहितम् **(शुद्धम्)** अविद्यादिदोषरहितत्वात्सदा पवित्रम् **(अपापविद्धम्)** यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति तत् **(कविः)** सर्वज्ञ **(मनीषी)** सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता **(परिभूः)** यो दुष्टान् पापिनः परि भवति=तिरस्करोति सः **(स्वयम्भूः)** अनादिस्वरूपो, यस्य संयोगे-नोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो, मातापितरौ, गर्भवासो, जन्मवृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते **(याथातथ्यतः)** यथार्थतया **(अर्थान्)** वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान् **(वि)** विशेषेण **(अदधात्)** विधत्ते **(शाश्वतीभ्यः)** सनातनीभ्योऽनादिस्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यः ॥८॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद्ब्रह्म शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं पर्यगाद्यः कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः परमात्मा शाश्वतीभ्यः समाभ्यो याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् स एव युष्माभिरुपासनीयः ॥८॥

सपदार्थान्वयः— हे **मनुष्याः ! यद् ब्रह्म शुक्रम्** आशुकरं सर्वशक्तिमद् **अकायं** स्थूलसूक्ष्म-कारणशरीररहितम् **अव्रणम्** अच्छिद्र-मच्छेद्यम् **अस्नाविरं** नाड्यादि-सम्बन्धबन्धरहितं **शुद्धम्** अविद्यादि-दोषरहितत्वात्सदा पवित्रम् **अपापविद्धं** यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति तत् **परि+अगात्** सर्वतः व्याप्तोऽस्ति; **यः कविः** सर्वज्ञः **मनीषी** सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता **परिभूः** यो दुष्टान्=पापिनः परिभवति=तिरस्करोति सः **स्वयम्भूः**= परमात्मा अनादिस्वरूपो यस्य संयोगे-नोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो माता-पितरौ, गर्भवासो, जन्मवृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते **शाश्वतीभ्यः** सनातनीभ्योऽनादि-स्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्ति-

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी, सर्वशक्ति-मान् (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है, (अव्रणम्) छिद्र रहित एवं जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते, (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है, (शुद्धम्) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र है, (अपापविद्धम्) जो कभी भी पाप से युक्त, पाप करने वाला और पाप से प्रेम करने वाला नहीं है, वह (परि+अगात्) सर्वत्र व्यापक है; जो (कविः) सर्वज्ञ, (मनीषी) सब जीवों की मनोवृत्तियों को जानने वाला, (परिभूः) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला, (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूप वाला, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग

विनाशरहिताभ्य: **समाभ्य:** प्रजाभ्य: **याथातथ्यत:** यथार्थतया **अर्थान्** वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान् **वि+अदधात्** विशेषेण विधत्ते । **स:** परमात्मा एव **युष्माभिरुपासनीय:** ।।४०।८।।

से विनाश नहीं होता, जिसके माता-पिता कोई नहीं और जिसका गर्भवास, जन्म, वृद्धि और क्षय नहीं होते हैं, वह परमात्मा (शाश्वतीभ्य:) सनातन, अनादि स्वरूप वाली, अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश से रहित (समाभ्य:) प्रजा के लिए (याथातथ्यत:) यथार्थता से (अर्थान्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (व्यदधात्) अच्छी तरह से उपदेश करता है । (स:) वह परमात्मा ही तुम्हारे लिए उपासना करने योग्य है ।।४०।८।।

भावार्थ:—हे मनुष्या: ! यद्यनन्तशक्तिमदजं, निरन्तरं, सदामुक्तं, न्यायकारिणं निर्मलं, सर्वज्ञं, सर्वस्य साक्षि, नियन्तृ, अनादिस्वरूपं ब्रह्म कल्पादौ जीवेभ्य: स्वोक्तैर्वेदै: शब्दार्थ-सम्बन्धविज्ञापिकां विद्यां नोपदिशेत्तर्हि कोऽपि विद्वान् न भवेत्; न च धर्मार्थकाममोक्षफलं प्राप्तुं शक्नुयात् । तस्मादिदमेव सदैवोपाध्वम् ।।४०।८।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! यदि अनन्त शक्तिशाली, अजन्मा, अखण्ड, सदा से मुक्त, न्यायकारी, पापरहित, सर्वज्ञ, सब का द्रष्टा, नियन्ता और अनादिस्वरूप वाला ब्रह्म सृष्टि के आदि में स्वयं प्रोक्त वेदों के द्वारा शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को बतलाने वाली विद्या का उपदेश न करे तो कोई भी विद्वान् न बन सके; और न धर्म, अर्थ काम, मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर सके। इसलिए इस ब्रह्म की उपासना सदा करो ।।४०।८।।

भा० पदार्थ:—शुक्रम्=अनन्तशक्तिमत् (ब्रह्म) । अकायम्=अजम् (ब्रह्म) । अव्रणम्=निरन्तरं (अखण्डम्) । अस्नाविरम्=सदा मुक्तम् । शुद्धम्=निर्मलम् । अपापविद्धम्=न्यायकारि । मनीषी=सर्वस्य साक्षी । परिभू:=नियन्तृ । स्वयम्भू:=अनादिस्वरूपं (ब्रह्म) । समाभ्य:=जीवेभ्य: । अर्थान्=स्वोक्तैर्वेदै: शब्दार्थसम्बन्धविज्ञापिकां विद्याम् व्यदधात्=उपदिशेत्

ब्रह्म । सः=इदमेव ।।८।।

भाष्यसार—परमेश्वर कैसा है—जो ब्रह्म—शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित, छिद्र रहित एवं अखण्ड, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र या जो कभी पापयुक्त, पापकारी और पापप्रिय नहीं है; वह सर्वत्र व्यापक है । वह सर्वज्ञ, सब जीवों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता, दुष्ट पापी जनों का तिरस्कार करने वाला, स्वयम्भू अर्थात् अनादि है, उसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता । उसके माता-पिता कोई नहीं । वह कभी गर्भवास नहीं करता । वह जन्म, वृद्धि और क्षय से रहित है ।

अनन्त शक्ति वाला, अज, निरन्तर, सदा मुक्त, न्यायकारी, निर्मल, सर्वज्ञ, सब का साक्षी, नियन्ता, अनादि स्वरूप ब्रह्म—सृष्टि के आदि में सनातन, अनादि स्वरूप, अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश से रहित जीवों के लिए यथार्थ रूप में वेद के द्वारा सब पदार्थों का उपदेश करता है । यदि ब्रह्म स्वयं प्रोक्त वेदों के द्वारा शब्द, अर्थ, सम्बन्ध की विज्ञापक विद्या का उपदेश न करे तो कोई भी मनुष्य विद्वान् न हो सके और न कोई धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर सके । अतः सब मनुष्य मन्त्रोक्त ब्रह्म की ही उपासना करें ।।४०।८।।

अन्यत्र व्याख्यात—(क) 'स पर्यगाच्छु०' ।। ईश्वर की स्तुति—वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान् जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयं सिद्ध परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है । यह सगुण स्तुति अर्थात् जिस-जिस गुण सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण; (अकाय) अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता; इत्यादि जिस-जिस राग, द्वेषादि गुण से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है, वह निर्गुण स्तुति है । इससे अपने गुण, कर्म, स्वभाव भी करना, जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे, और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता है और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका

स्तुति करना व्यर्थ है ।। (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)

(ख) स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः (यजु० ४०।८) ।। जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है वह सनातन जीव रूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है । (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समु०)

(ग)–"शाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है । (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास)

(घ)–"अज एकपात्" "अकायम्" इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर को जन्म, मरण और शरीर धारण रहित वेदों में कहा है ।
(सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास)

(ङ)–"स पर्यगाच्छु०" जो परमेश्वर–(कविः) सब का जानने वाला, (मनीषी) सब के मन का साक्षी, (परिभूः) सब के ऊपर विराजमान और (स्वयम्भूः) अनादि स्वरूप है, जो अपनी अनादि स्वरूप प्रजा को अन्तर्यामी रूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है । (स पर्यगात्) सो सब में व्यापक (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रम वाला, (अकायं) सब प्रकार के शरीर से रहित (अव्रणं) कटना और सब रोगों से रहित (अस्नाविरं) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (अपापविद्धं) सब पापों से न्यारा इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है; वही सब को उपासना के योग्य है । ऐसा ही सब को मानना चाहिए; क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीरधारण करके जन्म-मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया । इससे इसकी पत्थर आदि की मूर्ति बनाकर पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।
(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय)

(च)–"स, पर्यगात्" वह परमात्मा आकाश के समान सब जगह में परिपूर्ण (व्यापक) है, "शुक्रम्" सब जगत् का करने वाला वही है "अकायम्" और वह कभी शरीर (अवतार) नहीं धारण करता, क्योंकि वह अखण्ड और अनन्त, निर्विकार है, इससे देहधारण कभी नहीं करता, उससे अधिक कोई पदार्थ नहीं है, इससे ईश्वर का शरीर धारण करना कभी नहीं बन सकता । "अव्रणम्" वह अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है इससे अंशांशीभाव भी उसमें नहीं है, क्योंकि

उसमें छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता, "अस्नाविरम्" नाड़ी आदि का प्रतिबन्ध (निरोध) भी उसका नहीं हो सकता, अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आवरण नहीं हो सकता, "शुद्धम्" वह परमात्मा सदैव निर्मल अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृष्णादि दोषोपाधियों से रहित है, शुद्ध की उपासना करने वाला शुद्ध ही होता है और मलिन का उपासक मलिन ही होता है, "अपापविद्धम्" परमात्मा कभी अन्याय नहीं करता क्योंकि वह सदैव न्यायकारी ही है, "कविः" त्रैकालज्ञ (सर्ववित्) महाविद्वान् जिसकी विद्या का अन्त कोई कभी नहीं ले सकता, "मनीषी" सब जीवों के मन (विज्ञान) का साक्षी सब के मन का दमन करने वाला है, "परिभूः" सब दिशा और सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, सब के ऊपर विराजमान है, "स्वयम्भूः" जिसका आदिकारण माता, पिता, उत्पादक कोई नहीं किन्तु वही सब का आदिकारण है ।

"याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।" उस ईश्वर ने अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्यविद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परमहितार्थ उपदेश किया है । उस हमारे दयामय पिता परमेश्वर ने बड़ी कृपा से अविद्यान्धकार का नाशक, वेदविद्यारूप सूर्य प्रकाशित किया है और सब का आदिकारण परमात्मा है, ऐसा अवश्य मानना चाहिए । ऐसे विद्यापुस्तक का भी आदिकारण ईश्वर को ही निश्चित मानना चाहिए ।

विद्या का उपदेश ईश्वर ने अपनी कृपा से किया है, क्योंकि हम लोगों के लिए उसने सब पदार्थों का दान दिया है तो विद्यादान क्यों न करेगा ?

सर्वोत्कृष्ट विद्यापदार्थ का दान परमात्मा ने अवश्य किया है तो वेद के विना अन्य कोई पुस्तक संसार में ईश्वरोक्त नहीं है । जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है वैसा ही वेद पुस्तक भी है । अन्य कोई पुस्तक ईश्वरकृत वेदतुल्य वा अधिक नहीं है ।

अधिक विचार इस विषय का "सत्यार्थप्रकाश" और "ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका" मेरे किये ग्रन्थों में देख लेना । (आर्याभिविनय २।२)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के आठवें मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है । शङ्कराचार्य तथा स्वामी दयानन्द, दोनों के भाष्यों में परमात्मा के स्वरूप के विषय में प्रायः समानता है । जैसे—

मन्त्रगत पद	महर्षि दयानन्दकृत पदार्थ	श्रीशंकराचार्यकृत पदार्थ
सः	परमात्मा	आत्मा
पर्यगात्	सर्वतो व्याप्तोऽस्ति	समन्ताद् गतवान् आकाशवद् व्यापी
शुक्रम्	सर्वशक्तिमत्	शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमान्
अकायम्	स्थूलसूक्ष्मकारणशरीररहितम्	अशरीरो लिङ्गशरीरवर्जितः
अव्रणम्	अच्छिद्रमछेद्यम्	अक्षतम्
अस्नाविरम्	नाड्यादिसम्बन्धरहितम्	स्नावाः शिरा यस्मिन् विद्यन्ते, अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः ।
शुद्धम्	अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदा पवित्रम्	निर्मलविद्यामलरहितम् इति कारणशरीरप्रतिषेधः
अपापविद्धम्	यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति	धर्माधर्मादिपापवर्जितम्
कविः	सर्वज्ञः	क्रान्तदर्शी सर्वदृक्
मनीषी	सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता	मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर
परिभूः	यो दुष्टान् पापिनः परि-भवति तिरस्करोति	सर्वेषामुपरि भवति
स्वयम्भूः	अनादिस्वरूपः यस्य संयोगे-नोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो मातापितरौ गर्भवासो जन्म-वृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते ।	स्वयमेव भवति येषामुपरि भवति यश्चोपरि स सर्वः स्वयमेव भवति ।
याथातथ्यतः	यथार्थतया	यथाभूतकर्मफलसाधनतः
अर्थान्	वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान्	कर्त्तव्यपदार्थान्
व्यदधात्	विशेषेण विधत्ते	विहितवान् यथानुरूपं व्यभजद्
शाश्वतीभ्यः	उत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः	नित्याभ्यः
समाभ्यः	प्रजाभ्यः (जीवेभ्यः)	संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यः

उपर्युद्धृत दोनों भाष्यकारों के मत में परमात्मा सर्वत्र व्यापक, स्थूलादि त्रिविध शरीर रहित, अविद्यादि दोषों से रहित, सर्वशक्तिमान्,

प्रकाशस्वरूप, अच्छेद्य, सर्वविध पापों से शून्य, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, मनोवृत्तियों का ज्ञाता, पापकर्म करने वालों का शासक तथा अनादिस्वरूप अर्थात् उत्पत्तिविनाशरहित है । इस प्रकार परमात्मा के स्वरूप के विषय में दोनों के एकमत होते हुए भी शाङ्कर-भाष्य में निम्न-दोष तथा अद्वैतमत के प्रतिपादन में मिथ्याग्रह किया गया है–

मन्त्र में परमात्मा को अविद्यादि दोषरहित होने से 'शुद्ध' कहा है। विद्या और अविद्या का सम्बन्ध जीवात्मा से है, भौतिक शरीर से नहीं, किन्तु शाङ्कर-भाष्य में 'शुद्धम्' का अर्थ 'कारण शरीर रहित' किया है। तीनों प्रकार के शरीर प्रकृति के ही विकार होते हैं । विद्या ज्ञान को कहते हैं, इसका सम्बन्ध अचेतन शरीरों से कैसे सम्भव है । और 'अपापविद्धम्' का अर्थ 'धर्माधर्मादि पाप रहित' करना भी अनुचित है। क्योंकि अधर्म तो पाप है, इससे परमात्मा रहित है, किन्तु धर्म को पाप नहीं कहा जा सकता । 'पाप' शब्द का धर्म और अधर्म दोनों अर्थ कैसे सम्भव हैं? धर्म का श्री शङ्कराचार्य जी क्या स्वरूप मानते हैं, यहां यद्यपि स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु कोई भी विद्वान् धर्म शब्द को पापार्थ में प्रयोग नहीं कर सकता । यदि 'धारणाद् धर्म इत्याहु:' धर्म का अर्थ किया जाता है तो भी परमात्मा के लिए असङ्गत नहीं होता है, क्योंकि वह समस्त लोक-लोकान्तरों को धारण किए हुए है । सृष्टिरचना, स्थिति और प्रलय करना परमात्मा के धर्म हैं । वह जीवों की भलाई के लिए सृष्टि-रचना करता है, यह उपकार करना धर्म है । उसने जीवों के लिए वेद का उपदेश दिया और वह कर्मानुसार फल प्रदाता है । यह न्यायाचरण धर्म है । अत: परमात्मा को धर्महीन कहना असङ्गत है । 'परिभू:' पद का 'ऊपर होना' तथा 'स्वयम्भू:' पद का 'स्वयं ही होना' अर्थ भी त्रुटिपूर्ण है । परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, उसका ऊपर नीचे होना अथवा किसी स्थान विशेष में होना कैसे सम्भव है ?

यदि भाष्यकार का आशय यह हो कि वह सब से उत्कृष्ट होने से सर्वोपरि है तो भी अद्वैतमत के विरुद्ध है । क्योंकि जब परमात्मा से भिन्न वे किसी अन्य वस्तु को स्वीकार ही नहीं करते तो किसकी अपेक्षा से उसे सर्वोत्कृष्ट कहोगे । और परिपूर्वक 'भू' धातु का प्रयोग 'तिरस्कार' अर्थ में ही उपयुक्त है । वह परमात्मा कर्म-फल व्यवस्था के अनुसार पापी व्यक्तियों को दण्ड देकर तिरस्कार करता है ।

और 'स्वयम्भूः' पद की व्याख्या में यह मानना–जिनके ऊपर है, और जो ऊपर है, वह सब स्वयं ही होता है, इसलिए उसे 'स्वयम्भूः' कहते हैं । यह कितना पूर्वनिर्धारित मिथ्याग्रह से युक्त तथा मन्त्रार्थ के भी विपरीत अर्थ है । अद्वैतमत वालों की यह मान्यता है कि जीव और प्रकृति की परमार्थ में कोई सत्ता ही नहीं है । वह परमात्मा ही सब प्राणियों में स्वयं ही कार्य कर रहा है । यदि मनुष्यादि के शरीरों में वह परमात्मा ही है तो वह स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से रहित कैसे हो सकता है ? मनुष्यादि सब एकदेशी, अल्पज्ञ, पापविद्ध तथा शरीर वाले हैं, यदि यह परमात्मा ही है तो मन्त्रोक्त परमात्मा का सब स्वरूप मिथ्या ही मानना पड़ेगा, मनुष्यादि शरीरों में कार्य करने वाला आत्मा जन्म-मरण वाला तथा शरीरों वाला है, वह परमात्मा कदापि नहीं हो सकता, अतः मन्त्रार्थ में कथित ब्रह्मस्वरूप से शाङ्कर-मन्त्रव्याख्या विपरीत होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती ।

और 'अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः' के अर्थ में तो श्री शङ्कराचार्य जी ने मिथ्याग्रह की पराकाष्ठा दिखा दी है । क्योंकि इसके सत्यार्थ को स्वीकार करने से उनका अद्वैतवाद सर्वतः धराशायी हो जाता है । इसकी व्याख्या श्री शङ्कराचार्य जी ने यह की है–"उस नित्य ईश्वर ने सर्वज्ञ होने से यथाभूत कर्म, फल और साधन के अनुसार कर्त्तव्यपदार्थों का नित्य रहने वाले संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए विभाग किया ।"

ये नित्य संवत्सर नामक प्रजापति कौन हैं ? यह शाङ्कर भाष्य में स्पष्ट नहीं है । किन्तु यदि उनका अभिप्राय काल से है तो उसके 'शाश्वतीभ्यः' का विशेषण होने से उसे नित्य मानना पड़ेगा । और काल को नित्य मानने वाले परमात्मा से भिन्न नित्यवस्तु को न मानने से अद्वैतवाद की प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं कर सकते । और संवत्सरादि काल के परिमाण हैं । सूर्य से इनकी गणना होती है। जब सूर्य नहीं रहता, तब संवत्सरादि काल परिमाण कैसे होंगे ? फिर इनको शाश्वत=नित्य कैसे माना जा सकता है ? और यदि यही अर्थ यहां सङ्गति के अनुसार ठीक है तो इन संवत्सरों को चेतन या अचेतन मानना पड़ेगा । वह ईश्वर सर्वज्ञ होने से इनके कर्म-फल के अनुसार कर्तव्यों का विभाग करता है, इसकी सङ्गति संवत्सरों के साथ कैसे सङ्गत होगी ? इनके कर्म क्या हैं? और यह ईश्वर इनको किस रूप में फल देता है ? यथार्थ में इस मिथ्या

व्याख्या का कारण पूर्वाग्रहमात्र ही है क्योंकि एक स्थान पर मिथ्या अर्थ करने पर व्याख्याता उसकी सङ्गति न पाकर सर्वत्र लड़खड़ाता रहता है। शाङ्कर-भाष्य की भी यही दशा है । यद्यपि श्री शङ्कराचार्य जी ने 'द्वा सुपर्णा सयुजा०' की व्याख्या में ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता और जीवात्मा को भोक्ता स्पष्टरूप में स्वीकार किया है, किन्तु यहां मिथ्याग्रह के कारण सत्यार्थ नहीं कर सके, यह आश्चर्य की बात है । महर्षि दयानन्द कृत व्याख्या में ऐसी विसंगति कहीं भी नहीं है ।

श्री उव्वट ने इस मन्त्र के 'अर्थान् व्यदधात्' पदों की बहुत ही विचित्र व्याख्या की है । वे लिखते हैं–"अर्थात् विहितवान्' त्यक्त-स्वस्वामिसम्बन्धैश्चेतनाचेतनैरुपभोगं कृतवान्।" अर्थात् अर्थान् व्यदधात्= पदार्थों को बनाया । उसका तात्पर्य यह है कि स्व-स्वामी सम्बन्ध से रहित चेतन और अचेतन पदार्थों से उपभोग किया ।।

समीक्षा—यहां 'अर्थान् व्यदधात्' पदों का जो तात्पर्यार्थ निकाला है, वह सर्वथा अशुद्ध तथा कल्पित है । यहां जो चेतन-अचेतन पदार्थों में स्व-स्वामी सम्बन्ध का निषेध किया है, वह प्रत्यक्ष विरुद्ध है । चेतन प्राणियों का अचेतन पदार्थों के साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध प्रत्यक्ष देखा जाता है । प्रत्येक मनुष्य स्वकीय पदार्थों का स्वयं को स्वामी मानता है। क्या यह स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है ? और ब्रह्म का चेतन-अचेतन पदार्थों से उपभोग करना भी सम्भव नहीं है । जिस ब्रह्म को मन्त्र में 'अकायम्=शरीररहित' कहा है, वह विना शरीर के उपभोग कैसे करेगा। और अन्यत्र उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है–"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मुण्डक०) अर्थात् ब्रह्म भोग नहीं करता । अत: श्री उव्वट की व्याख्या प्रमत्त-प्रलाप मात्र ही है ।

कुछ विद्वानों ने इस मन्त्र के 'समाभ्य:' पद में पञ्चमी विभक्ति मानकर 'अनादिकाल से' अर्थ किया है । किन्तु कालवाची शब्दों में व्याकरण के नियम से पञ्चमी विभक्ति सर्वत्र नहीं होती । 'सप्तमी-पञ्चम्यौ कारकमध्ये ।' (अ० २।३।७) इस पाणिनि के सूत्र से कालवाची शब्दों में पञ्चमी विभक्ति वहां होती है, जहां कालवाची शब्द दो कारक-शक्तियों के मध्य में हो । प्रस्तुत मन्त्र में 'समा:' पद का दो कारक शक्तियों से सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत एक कर्तृकारक (ब्रह्म) से ही सम्बन्ध है । अत: यहां पञ्चमी विभक्ति मानकर अर्थ करना व्याकरणशास्त्रीय भूल है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

के जना अन्धन्तमः प्राप्नुवन्तीत्याह ।।

कौन मनुष्य घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं, यह उपदेश किया है।।

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो य ऽ उ सम्भूत्याᳩ रताः ।।९।।

पदार्थः—**(अन्धम्)** आवरकम् **(तमः)** अन्धकारम् **(प्र)** प्रकर्षेण **(विशन्ति) (ये) (असम्भूतिम्)** अनाद्यनुत्पन्नं प्रकृत्याख्यं सत्त्वरजस्तमोगुणमयं जडवस्तु **(उपासते)** उपास्यतया जानन्ति **(ततः)** तस्माद् **(भूय इव)** अधिकमिव **(ते) (तमः)** अविद्यामयमन्धकारम् **(ये) (उ)** वितर्केण सह **(सम्भूत्याम्)** महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ **(रताः)** ये रमन्ते ते ।।९।।

अन्वयः—ये परमेश्वरं विहायाऽसम्भूतिमुपासते तेऽधन्तमः प्रविशन्ति, ये सम्भूत्यां रतास्त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ।।९।।

सपदार्थान्वयः— **ये परमेश्वरं विहायाऽसम्भूतिम्** अनाद्यनुत्पन्नं प्रकृत्याख्यं सत्त्वरजस्तमोगुणमयं जडवस्तु **उपासते** उपास्यतया जानन्ति **तेऽन्धम्** आवरकम् **तमः** अन्धकारम् **प्र+विशन्ति** प्रकर्षेण विशन्ति ।

ये सम्भूत्यां महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ **रताः** ये रमन्ते ते **त उ** वितर्केण सह **ततः** तस्मात् **भूय इव** अधिकमिव **तमः** अविद्यामयमन्धकारं **प्रविशन्ति** ।।९।।

भाषार्थ—जो लोग परमेश्वर को छोड़कर (असम्भूतिम्) अनादि, जिसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती, सत्त्व, रज, तमगुणरूप प्रकृति नामक जड़ वस्तु को (उपासते) उपासनीय समझते हैं (ते) वे (अन्धम्) ढकने वाले (तमः) अन्धकार में (प्र) अच्छी तरह से (विशन्ति) प्रविष्ट होते हैं ।

(ये) जो लोग (सम्भूत्याम्) महत्तत्त्वादि स्वरूप में परिणत हुई सृष्टि में (रताः) रमण करने वाले हैं, (ते) वे (उ) निस्सन्देह (ततः) उससे (भूय इव) कहीं अधिक (तमः) अविद्यारूप अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं ।।९।।

भावार्थः— ये जनाः सकलजडजगतोऽनादिनित्यं कारणमु-पास्यतया स्वीकुर्वन्ति, तेऽविद्यां प्राप्य सदा क्लिश्यन्ति ।

ये च तस्मात्कारणादुत्पन्नं पृथिव्यादिस्थूलं, सूक्ष्मं कार्यकारणाऽऽख्यमनित्यं संयोगजन्यं कार्यं जगदिष्टमुपास्यं मन्यन्ते, ते गाढामविद्यां प्राप्याऽधिकतरं क्लिश्यन्ति तस्मात् सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानमेव सर्वे सदोपासीरन् ।।४०।९।।

भावार्थ—जो लोग सकल जड़ जगत् के अनादि नित्य कारण प्रकृति को समझते हैं, वे अविद्या को प्राप्त करके सदा दुःखी रहते हैं।

और जो उस कारण प्रकृति से उत्पन्न हुए पृथिव्यादि स्थूल, कार्यकारण रूप सूक्ष्म अनित्य संयोग से उत्पन्न कार्य जगत् को अपना इष्ट उपास्य देव मानते हैं; वे गाढ़ अविद्या को प्राप्त करके उस से अधिक दुःखी रहते हैं । इसलिए सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की सदा उपासना करें।।४०।९।।

भाष्यसार—कौन मनुष्य घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं—जो मनुष्य परमेश्वर को छोड़कर असम्भूति अर्थात् अनादि, अनुत्पन्न, प्रकृति नामक सत्त्व, रज, तमगुणमय जड़वस्तु को उपास्य मानते हैं, वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं अर्थात् अविद्या को प्राप्त होकर सदा दुःखी रहते हैं । और जो सम्भूति अर्थात् उस कारण प्रकृति से उत्पन्न, महदादि स्वरूप में परिणत हुई सृष्टि अर्थात् पृथिव्यादि स्थूल जगत्, कार्य-कारण रूप सूक्ष्म, अनित्य संयोगजन्य कार्य जगत् को उपास्य मानते हैं; उसमें रमण करते हैं वे उससे भी कहीं अधिक गाढ़ अविद्या- अन्धकार को प्राप्त होकर दुःखी रहते हैं । अतः सब मनुष्य सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की ही सदा उपासना करें ।।४०।९।।

अन्यत्र व्याख्यात—'अन्धन्तमः प्रविशन्ति०'—जो असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न, अनादि, प्रकृति कारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं, वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दुःखसागर में डूबते हैं और सम्भूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूपी पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं; वे महामूर्ख उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् चिरकाल घोर दुःखरूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं ।।४०।९।।

(सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास)

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=मनुष्यः । अनुष्टुप । गान्धारः ।।

पुनर्मनुष्याः किं कुर्य्युरित्याह ।।

फिर मनुष्य क्या करें, यह उपदेश किया है ।।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१०।।

***पदार्थः*—(अन्यत्)** कार्यं फलं वा **(एव) (आहुः)** कथयन्ति **(सम्भवात्)** संयोगजन्यात्कार्य्यात् **(अन्यत्)** भिन्नम् **(आहुः)** कथयन्ति **(असम्भवात्)** अनुत्पन्नात्कारणात् **(इति)** अनेन प्रकारेण **(शुश्रुम)** शृणुमः **(धीराणां)** मेधाविनां, विदुषां योगिनाम् **(ये) (नः)** अस्मान् प्रति **(तत्)** तयोर्विवेचनम् **(विचचक्षिरे)** व्याचक्षते ।।१०।।

***अन्वयः*—**हे मनुष्या यथा वयं धीराणां सकाशाद्यद्वचः शुश्रुम, ये नस्तद्विचचक्षिरे, ते सम्भवादन्यदेवाहुरसम्भवादन्यदाहुरिति यूयमपि शृणुत।।१०।।

***सपदार्थान्वयः*— हे मनुष्याः ! यथा वयं धीराणां** मेधाविनां, विदुषां योगिनां **सकाशाद्यद्वचः शुश्रुम** शृणुमः, **ये नः** अस्मान् प्रति **तत्** तयोर्विवेचनं **विचचक्षिरे** व्याचक्षते; **ते सम्भवाद्** संयोगजन्यात्कार्य्यात् **अन्यत्** कार्य्यं फलं वा **एवाहुः** कथयन्ति; **असम्भवात्** अनुत्पन्नात्कारणात् **अन्यत्** भिन्नम् फलम् **आहुः** कथयन्ति **इति** अनेन प्रकारेण **यूयमपि शृणुत** ।।४०।१०।।

***भाषार्थ*—**हे मनुष्यो ! जैसे हमने (धीराणाम्) मेधावी, विद्वान् योगी जनों के वचन (उपदेश) (शुश्रुम) सुने हैं (ये) जिन्होंने (नः) हमें (तत्) उस सम्भूति और असम्भूति दोनों का विवेचन (विचचक्षिरे) व्याख्यापूर्वक समझाया है; वे योगी (सम्भवात्) संयोग से उत्पन्न कार्य से (अन्यत् एव) और ही कार्य वा फल (आहुः) बतलाते हैं तथा (असम्भवात्) उत्पन्न न होने वाले कारण से (अन्यत्) भिन्न कार्य वा फल (आहुः) बतलाते हैं। (इति) इस प्रकार तुम भी सुनो ।।१०।।

***भावार्थः*—**हे मनुष्याः ! यथा विद्वांसः कार्यात्कारणाद्वस्तुनो भिन्नं भिन्नं वक्ष्यमाणमुपकारं गृह्णन्ति, ग्राहयन्ति ।

***भावार्थ*—**हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग कार्य-वस्तु और कारण-वस्तु से आगे कहे जाने वाले भिन्न-भिन्न उपकार ग्रहण करते तथा अन्यों

तद्गुणान् विज्ञायाऽधिज्ञापयन्त्येवमेव यूयमपि निश्चिनुत ।।१०।।

को भी ग्रहण करवाते हैं । उन कार्य और कारण के गुणों को जानकर अन्यों को समझाते हैं: इसी प्रकार तुम भी निश्चय करो ।।४०।१०।।

भा० पदार्थः—धीराः=विद्वांसः । सम्भवात्=कार्याद्वस्तुनः । असम्भवात्==कारणाद्वस्तुनः । अन्यत्=भिन्नं भिन्नं वक्ष्यमाणमुपकारम् । विचचक्षिरे=अधिज्ञापयन्ति ।।४०।१०।।

भाष्यसार—मनुष्य क्या करें—विद्वान् मनुष्य धीर अर्थात् मेधावी विद्वान् योगी जनों से जिन सम्भूति विषयक वचनों का श्रवण करें उनका विवेचन करके सब मनुष्यों को समझावें । सम्भव (सम्भूति) अर्थात् संयोग से उत्पन्न कार्य जगत् से उक्त विद्वान् अन्य फल बतलाते हैं और असम्भव (असम्भूति) अर्थात् अनुत्पन्न कारण जगत् से अन्य फल बतलाते हैं ।

उक्त विद्वान् मनुष्य सम्भव (कार्यवस्तु), असम्भव (कारण वस्तु) से भिन्न-भिन्न वक्ष्यमाण उपकार ग्रहण करते और कराते हैं । कार्य वस्तु और कारण वस्तु के गुणों को स्वयं जानकर उनका उपदेश करते हैं । अतः सब मनुष्य कार्य और कारण वस्तु को जानें ।।४०।१०।।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=विद्वान् । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

पुनर्मनुष्यैः कार्य्यकारणाभ्यां किं किं साधनीयमित्याह ।।

फिर मनुष्यों को कार्य और कारण वस्तु से क्या-क्या सिद्ध करना चाहिए, यह उपदेश किया है ।।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ।।११।।

पदार्थः—**(सम्भूतिम्)** सम्भवन्ति यस्यां तां कार्य्याख्यां सृष्टिम् **(च)** तस्या गुणकर्मस्वभावान् **(विनाशम्)** विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् **(च)** तद्गुणकर्म्मस्वभावान् **(यः)** **(तत्)** **(वेद)** जानाति **(उभयम्)** कार्य्यकारणस्वरूपं जगत् **(सह)** **(विनाशेन)** नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह **(मृत्युम्)** शरीरवियोगजन्यं दुःखम् **(तीर्त्वा)** उल्लङ्घ्य **(सम्भूत्या)** शरीरेन्द्रियान्तःकरणरूपयोत्पन्नया कार्यरूपया धर्म्ये

प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या **(अमृतम्)** मोक्षम् **(अश्नुते)** प्राप्नोति ।।११।।

***अन्वयः*—**हे मनुष्याः ! यो विद्वान् सम्भूतिं च विनाशं च सहोभयं तद्वेद, स विनाशेन सह मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या सहामृतमश्नुते ।।११।।

***सपदार्थान्वयः*— हे मनुष्याः ! यो=विद्वान् सम्भूतिं** सम्भवन्ति यस्यां तां कार्य्याख्यां सृष्टिं **च** तस्या गुणकर्मस्वभावान् **विनाशं** विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् **च** तद्गुण-कर्म-स्वभावान् **सहोभयं** कार्य्यकारणस्वरूपं जगत् **तद्वेद** जानाति; **स विनाशेन** नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन **सह मृत्युं** शरीरवियोगजन्यं दुःखं **तीर्त्वा** उल्लङ्घ्य **सम्भूत्या** शरीरेन्द्रियान्तः-करणरूपयोत्पन्नया कार्यरूपया, धर्म्ये प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या **सहामृतं** मोक्षम् **अश्नुते** प्राप्नोति ।।४०।११।

***भाषार्थ*—**हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिसमें पदार्थ उत्पन्न होते हैं उस कार्यरूप सृष्टि को (च) और सृष्टि के गुण, कर्म, स्वभाव को एवं (विनाशम्) जिसमें पदार्थ विनष्ट= अदृश्य हो जाते हैं उस कारणरूप प्रकृति को तथा (च) उसके गुण, कर्म, स्वभाव को (सह) एक साथ (उभयं तत्) उस कार्य कारण रूप जगत् को (वेद) जानता है; वह (विनाशेन) नित्य स्वरूप को समझने के कारण (मृत्युम्) शरीर और आत्मा के वियोग से उत्पन्न दुःख को (तीर्त्वा) पार करके (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय अन्तःकरण रूप उत्पन्न होने वाले कार्य रूप, धर्म कार्य में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के सहयोग से (अमृतम्) मोक्ष-सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है ।

***भावार्थः*—**हे मनुष्याः ! कार्य-कारणाऽऽख्ये वस्तुनी निरर्थके न स्तः; किन्तु कार्य-कारणयोर्गुण-कर्मस्वभावान् विदित्वा, धर्मादि-मोक्षसाधनेषु सम्प्रयोज्य; स्वाऽऽत्म-कार्यकारणयोर्विज्ञातेन नित्यत्वेन मृत्युभयं त्यक्त्वा मोक्षसिद्धिं सम्पादयतेति कार्य-कारणाभ्यामन्यदेव

***भावार्थ*—**हे मनुष्यो ! कार्य (सृष्टि), कारण (प्रकृति) नामक वस्तुएं निरर्थक नहीं हैं, किन्तु कार्य, कारण इन दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव को जानकर, इनका धर्मादि, मोक्ष के साधनों में उपयोग करके, अपने-अपने स्वरूप से कार्य और कारण की नित्यता के विज्ञान से

फलं निष्पादनीयमिति ।	मृत्यु के भय को हटा कर मोक्ष की सिद्धि करो । इस प्रकार कार्य (सृष्टि), कारण (प्रकृति) के द्वारा भिन्न-भिन्न धर्मादि और मोक्षसिद्धि रूप फल प्राप्त करने चाहिए ।
अनयोर्निषेधो हि परमेश्वर-स्थान उपासनाप्रकरणे वेदितव्यः ।।११।।	उपासना के प्रकरण में परमेश्वर के स्थान में इन कार्य (सृष्टि), कारण (प्रकृति) की उपासना करने का निषेध समझना चाहिए ।।४०।११।।

भा० पदार्थः—सम्भूतिम्=कार्याऽऽख्यं वस्तु । विनाशम्=कारणाऽऽख्यं वस्तु । उभयम्=कार्यकारणयोर्गुण-कर्म-स्वभावम् । मृत्युम्=मृत्यु-भयम् । अमृतम्=मोक्षसिद्धिम् ।।४०।११।।

***भाष्यसार*—मनुष्य कार्य और कारण वस्तु से क्या-क्या सिद्ध करें**—विद्वान् मनुष्य सम्भूति अर्थात् कार्य नामक सृष्टि और उसके गुण, कर्म, स्वभाव, विनाश (असम्भूति) अर्थात् जिसमें सब पदार्थ विनष्ट=अदृश्य हो जाते हैं । उस कारण रूप प्रकृति और उसके गुण, कर्म, स्वभाव को साथ-साथ जानें । विनाश (असम्भूति) नित्य प्रकृति को जानकर मृत्यु अर्थात् शरीर के वियोग से उत्पन्न दुःख को पार करें। सम्भूति अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप उत्पन्न कार्य जगत् तथा धर्म में प्रवृत्त करने वाली सृष्टि को जानकर, इसका सदुपयोग करके मोक्ष-फल को प्राप्त करें । इस प्रकार कारण वस्तु से मृत्यु-भय का त्याग और कार्य वस्तु से मोक्ष-फल की सिद्धि रूप भिन्न-भिन्न फल की प्राप्ति करें । कारण और कार्य वस्तु का परमेश्वर के स्थान में उपासना करने का निषेध है; इनसे यथायोग्य उपयोग लेने का नहीं ।।४०।११।।

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के १२, १३ तथा १४वें मन्त्रों (यजुर्वेद में ९, १० व ११वें मन्त्र) में सम्भूति और असम्भूति के उपयोग को समझाया गया है । इनमें प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि जो असम्भूति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं और जो मनुष्य सम्भूति में ही रत हैं, वे उससे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं । और दूसरे मन्त्र में कहा है कि जिन मेधावी विद्वान् योगी जनों ने

हमारे लिए सम्भूति और असम्भूति का उपदेश किया है, उनसे हमने ऐसा सुना है कि सम्भूति का फल अन्य है और असम्भूति का फल दूसरा है। और तीसरे मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति को जो साथ-साथ जान लेता है, वह असम्भूति से मृत्यु के भय को पार कर लेता है तथा सम्भूति से अमृत=मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार इस मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति के फलों का वर्णन किया गया है–

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि असम्भूति और सम्भूति क्या वस्तु हैं ? भाष्यकारों ने इनकी जो व्याख्याएं की हैं, उनमें पर्याप्त भिन्नता है । महर्षि दयानन्द के भाष्य के अनुसार असम्भूति का अर्थ प्रकृति है, जो कभी उत्पन्न न होने से अनादि है । यह जड़ वस्तु है । इस प्रकृति से जो महत्तत्वादि उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'सम्भूति' कहते हैं । ये महत्तत्त्वादि प्रकृति से सम्भूत=उत्पन्न होने के कारण सम्भूति कहलाते हैं। उक्त असम्भूति और सम्भूति का आत्मा के लिए क्या उपयोग है, यहां प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि जो असम्भूति=प्रकृति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् वे सदा अविद्याग्रस्त होने से सदा दुःखी रहते हैं, और जो सम्भूति=प्रकृति के कार्य पृथिवी आदि जड़ वस्तुओं से लगे रहते हैं वे उनसे भी घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। अतः आत्मा के लिए असम्भूति और सम्भूति दोनों ही उपासनीय वस्तु नहीं हैं किन्तु एक चेतन परमात्मा ही उपासना के योग्य है ।

दूसरे मन्त्र में असम्भूति और सम्भूति का भिन्न-भिन्न फल बताकर उनका उपयोग बताया गया है । तीसरे मन्त्र में उन फलों का वर्णन करके बताया गया कि असम्भूति और सम्भूति आत्मा के लिए उपासनीय तो नहीं हैं, किन्तु अत्यन्त उपयोगी हैं । आत्मा को इन दोनों का साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करके इनका उपयोग लेना चाहिए । तीसरे मन्त्र में असम्भूति के स्थान पर 'विनाश' शब्द का पाठ है । क्योंकि सब उत्पन्न हुए पदार्थ प्रलय में प्रकृति में विनाश=लय को प्राप्त होते हैं । जो इस विनाश के विज्ञान अर्थात् सृष्टि के कारण-कार्य भाव को समझ लेता है, वह अविद्यादि क्लेशों से बचने के कारण मृत्यु को पार कर जाता है । और सम्भूति=प्रकृति के कार्यपदार्थों का आत्मा विद्वानों की संगति में रहकर वेदोक्तविधि से ठीक-ठीक उपयोग करे तो वह अमृत=मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । इन तीनों मन्त्रों से स्पष्ट है कि ये

असम्भूति और सम्भूति आत्मा के लिए उपासनीय वस्तु तो नहीं हैं, किन्तु उपयोगी अवश्य हैं ।

श्री शङ्कराचार्य जी ने इन मन्त्रों के पूर्वोक्त रहस्य को नहीं समझकर विपरीत ही व्याख्या की है । इन मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—असम्भूतिम्=सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः, तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणम्... सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये ।" अर्थात् सम्भवन=उत्पन्न होने का नाम सम्भूति है । वह जिस कार्य का धर्म है उसे सम्भूति कहते हैं । उससे भिन्न को असम्भूति=प्रकृति या कारण कहते हैं । सम्भूति का अर्थ है कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भनामक ।

यहां शाङ्कर-भाष्य में 'असम्भूति' का अर्थ तो ठीक किया है, किन्तु सम्भूति का अर्थ पूर्वाग्रह वश कल्पित कर गए । जब 'असम्भूति' के अर्थ में 'सम्भूति' का अर्थ भी स्पष्ट कर आए हैं तो उससे भिन्नता क्यों ? यदि 'असम्भूति' का अर्थ प्रकृति या कारण है तो सम्भूति का अर्थ प्रकृति से उत्पन्न कार्य-जगत् होना चाहिए अथवा शाङ्करभाष्य के अनुसार यदि सम्भूति का अर्थ 'कार्य-ब्रह्म' है तो असम्भूति का अर्थ 'कारण ब्रह्म' होना चाहिए । अतः शाङ्करभाष्य में किया सम्भूति का अर्थ काल्पनिक है । और हिरण्यगर्भाख्य कार्य-ब्रह्म क्या वस्तु है ? और असम्भूति=प्रकृति क्या है ? क्योंकि अद्वैतवाद में तो ब्रह्म से भिन्न-दूसरी वस्तु होनी ही नहीं चाहिए । यहां श्री शङ्कराचार्य जी ने जगत् के कारण भूत प्रकृति की सत्ता को तो स्वीकार कर लिया किन्तु हिरण्यगर्भाख्य कार्य-ब्रह्म और मान-बैठे । जब 'स पर्यगात्' मन्त्र में ब्रह्म को व्यापक सर्वविधशरीरों से रहित, अविनश्वरादि कहा गया है, तब कारण ब्रह्म से कार्यब्रह्म की उत्पत्ति कैसे हो गई ? जब इन मन्त्रों से स्पष्टरूप से जड़-पदार्थों की उपासना-प्रतिषेध किया है, तब इस कार्यब्रह्म=हिरण्यगर्भ का वर्णन यहां कैसे हो सकता है ? अतः यह अर्थ काल्पनिक ही है।

दूसरे व तीसरे मन्त्र में असम्भूति व सम्भूति का फल बताया गया है । किन्तु तीसरे मूल मन्त्र में कथित फल की उपेक्षा करके शाङ्कर-भाष्य में लिखा है—

"सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनाद् अणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। ...असम्भवाद्=असम्भूतेरव्याकृताद् अव्याकृतोपासनात् । यदुक्तमन्धन्तमः

प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यते ।" अर्थात् सम्भूति=कार्यब्रह्म की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्यरूप फल प्राप्त होता है और असम्भूति= अव्याकृत (प्रकृति) की उपासना से, जिसे 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' इस वाक्य से कह चुके हैं तथा पौराणिक उसे प्रकृतिलय कहते हैं ।

इस मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी ने सम्भूति और असम्भूति की उपासना का फल अणिमादि ऐश्वर्य-प्राप्ति आदि बतलाया है । जब कि इससे पहले मन्त्र में सम्भूति की उपासना करने वालों को घोरतम अन्धकार में प्रविष्ट होना लिखा है । यहां उन्होंने इतना भी विचार नहीं किया कि जिन असम्भूति व सम्भूति की उपासना की प्रथम निन्दा की गई है और जिस से स्पष्ट है कि वे उपासनीय नहीं हैं, तब उनका ऐश्वर्य-प्राप्ति रूप फल कैसे सम्भव है ? और इस मन्त्र में 'उपासना' शब्द भी नहीं है । मन्त्र में जिस उपयोगरूप फल का सङ्केत किया गया है, उसका वर्णन तो अगले मन्त्र में किया गया है । क्या आपके फल में और मन्त्र-प्रोक्त फल में समता है ? यदि नहीं, तो आपकी व्याख्या मूल मन्त्र से विरुद्ध है और तृतीय मन्त्र में उपासना का फल नहीं, प्रत्युत उसकी उपयोगिता का वर्णन ही किया गया है अर्थात् असम्भूति विज्ञान से मृत्यु को पार करता, और सम्भूति विज्ञान से मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । मन्त्र में 'वेद=जानना' क्रिया है, उपासना नहीं।

इनमें से तीसरे मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—"सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणा अभेदेन उच्यते विनाश इति, तेन तदुपासनेनानैश्वर्यम-धर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्, तेनानैश्वर्यादि मृत्युमतीत्य असम्भूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते ।"

अर्थात् जो पुरुष सम्भूति और विनाश इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह—जिसके कार्य का धर्म विनाश है और उस धर्मी से अभेद होने के कारण जो स्वयं भी विनाश कहा जाता है, उस विनाश की उपासना से अनैश्वर्य, अधर्म तथा कामनादि दोषों से उत्पन्न मृत्यु को पार करके हिरण्यगर्भ (सम्भूति) की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्ति रूप फल मिलता है । उससे अनैश्वर्यादि तथा मृत्यु को लांघता है और असम्भूति=अव्याकृत (प्रकृति) की उपासना से अमृत=प्रकृतिलयत्व को

प्राप्त होता है ।

यहां श्री शङ्कराचार्य जी मन्त्रपठित 'विनाश' पद के अर्थ को नहीं समझ सके । आपने 'विनाश' का अर्थ विनाश होने वाला कार्य पदार्थ किया है । मन्त्र में कार्य-पदार्थ के लिए 'सम्भूति' पद जब पढ़ा हुआ है, जिसका उन्होंने स्वयं 'कार्य-ब्रह्म' अर्थ किया है । यदि मन्त्र में 'सम्भूति' और 'विनाश' पदों का एक ही अर्थ है तो मन्त्र में पुनरुक्ति दोष है । यथार्थ में मन्त्र में यह दोष नहीं है, यह व्याख्याकार का दोष है, जो उसको न समझकर अन्यथा व्याख्यान कर गए । 'नैष स्था-णोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति ।' मन्त्र के पूर्वार्द्ध में जब श्री शङ्कराचार्य जी गलत व्याख्या कर गए, फिर मन्त्र के उत्तरार्द्ध की सङ्गति कैसे लगती? अब चक्र में पड़ गए और मन्त्र में ही परिवर्तन करने का दुस्साहस कर बैठे । और यह व्याख्या में लिख दिया–

"सम्भूतिं विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः ।"

अर्थात् 'विनाश' का अर्थ तो ठीक है, किन्तु 'सम्भूति' से पूर्व अवर्णलोप मानना चाहिए । अर्थात् 'सम्भूति' को 'असम्भूति' करके व्याख्या करनी चाहिए । यहां मन्त्र में परिवर्तन करने का दुस्साहस तो श्री शङ्कराचार्य जी ने किया, परन्तु अपने दोष को न समझ सके । महर्षि दयानन्द ने इस रहस्य को भलीभांति समझा और मन्त्र में विना किसी परिवर्तन के मन्त्रार्थ की सङ्गति लगा दी, यह था मन्त्रद्रष्टा महर्षि का ऋषित्व । महर्षि लिखते हैं कि इस मन्त्र में 'सम्भूति' का अर्थ तो 'कार्य-पदार्थ' ही है किन्तु 'विनाश' का अर्थ कारणरूप प्रकृति है । महर्षि लिखते हैं–'विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन्' अर्थात् जिसमें सब कार्यपदार्थ विनष्ट=अदृश्य हो जाते हैं, उसे विनाश=प्रकृति कहते हैं । देखिए कैसी सुन्दर तथा व्याकरणसम्मत व्याख्या है । श्री शङ्कराचार्य जी जो प्रकृति की सत्ता को नहीं मानते, प्रकृति को नित्य मानना तो दूर की बात है, वे इस बात से असमञ्जस में पड़ गये कि 'विनाश' का अर्थ प्रकृति कैसे किया जाए ? और इस रहस्य को न समझकर मन्त्र में परिवर्तन कर दिया । धन्य है, श्री शङ्कराचार्य जी की दिव्य बुद्धि को । यदि किसी स्थल पर कोई बात समझ में नहीं आई थी, तो मन्त्र में परिवर्तन की अपेक्षा यही लिख देते कि विद्वान् इस पर विचार कर लेवें । इससे व्याख्याकार का गौरव बढ़ता ही है, घटता नहीं।

यह तो प्रथम बतलाया जा चुका है कि इन मन्त्रों में सम्भूति और असम्भूति की उपासना की निन्दा तो की है, किन्तु विधान नहीं । पुनरपि श्री शङ्कराचार्य जी मन्त्रों के रहस्य को न समझकर 'उपासना' शब्द का प्रयोग करते रहे हैं । मन्त्रों में सम्भूति तथा असम्भूति के विज्ञान की आत्मा के लिए उपयोगिता ही बतलाई गई है । इस तीसरे मन्त्र में 'उपासते' क्रिया नहीं है, अपितु 'वेद'=जानता क्रिया है । अतः मन्त्र में इनके विज्ञान का ही निर्देश है । पुनरपि श्री शङ्कराचार्य जी विनाश=कार्य पदार्थ की उपासना से अनैश्वर्य अधर्म तथा कामनादि दोषों से उत्पन्न मृत्यु को पार करने का वर्णन कर रहे हैं । मन्त्र में केवल विनाश के विज्ञान से मृत्यु को पार करना एक फल का निर्देश है । श्री शङ्कराचार्य जी अनेक फलों का निर्देश कर रहे हैं अर्थात् आत्मा विनाश से अनैश्वर्य को पार करता है, और अधर्मादि से उत्पन्न मृत्यु को पार करता है । शाङ्कर-भाष्य की अनैश्वर्य को पार करना तथा विनाश के विज्ञान के स्थान पर विनाशोपासना बताना कल्पना ही नहीं, प्रत्युत मूलमन्त्र से विरुद्ध व्याख्या है ।

इन मन्त्रों में दूसरे व तीसरे मन्त्रों की व्याख्या में शाङ्कर-भाष्य में असम्भूति की उपासना का फल प्रकृतिलय रूप अमृत प्राप्ति बताया है। दूसरे मन्त्र की व्याख्या में अन्धन्तमः=घोर अन्धकार में प्रवेश तथा प्रकृतिलय को स्वयं समान माना है और अब (तीन मन्त्रों में) प्रकृतिलय को ही अमृत कह दिया । क्या प्रकृतिलय और अमृत एक हो सकते हैं? कहां प्रकृतिलय=महादुःखार्णव में डूबना और कहां अमृत=मोक्ष प्राप्ति जिसमें लेशमात्र भी दुःख नहीं है, इन दोनों में आकाश-पातालवत् अन्तर है । इन्हें एक मान कर वेदार्थ करना बहुत ही अविवेकपूर्ण तथा वेद-विरुद्ध कार्य है ।

मृत्यु को पार करके 'अमृतम्' क्या हो सकता है ? 'अमृतम्' शब्द स्वयं किस अर्थ को बता रहा है जिसमें मृत्यु आदि का दुःख न हो । क्या उसे प्रकृतिलय=घोर अन्धकारावस्था कहा जा सकता है ? श्री शङ्कराचार्य जी ने अन्यत्र 'अमृतम्' शब्द का अर्थ 'अमरणधर्मकं ब्रह्म' अर्थात् मोक्ष अथवा 'अमृतम्=सुखरूपम्' किया है । देखिए—

(१) परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ (मुण्डको० ३।२।६)

'परामृताः=परममृतम्=अमरणधर्मकं ब्रह्म आत्मभूतं येषां ते ।'

यहां 'अमृत' का अर्थ 'अमरणधर्मक ब्रह्म' किया है ।

(२) आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ।। (मुण्डको० २।२।७)

"आनन्दरूपं सर्वानर्थदु:खायासप्रहीणं सुखरूपम् अमृतं यद् विभाति।"

अर्थात् 'अमृतम्' का अर्थ सुखरूप है और वह आनन्दरूप अर्थात् समस्त अनर्थ व दु:खों से रहित है । अत: 'अमृतम्' का अर्थ मोक्ष है। इसलिए 'सम्भूत्यामृतमश्नुते' की व्याख्या में 'अमृतम्' को प्रकृति-लयरूप कहना उनकी व्याख्या से भी विरुद्ध होने से कैसे विद्वदभिनन्दनीय हो सकता है ?

(३) ईशावास्योपनिषत् के मन्त्रों में 'अमृत' शब्द का पाठ अनेक स्थानों पर आया है । उन स्थानों पर दोनों भाष्यकारों के अर्थ-भेद भी द्रष्टव्य हैं-

(क) **विद्ययामृतमश्नुते ।** (११वां मन्त्र)

देवताज्ञानेनामृतम्=देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । (शा० भा०)

अर्थात् देवताज्ञान से "देवत्वभाव" को प्राप्त हो जाता है ।

विद्यया=आत्मशुद्धान्त:करणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन अमृतम्=नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा अश्नुते ।। (महर्षिदया० भा०)

अर्थात् आत्मा और शुद्ध अन्त:करण के संयोगरूपधर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से अमृतम्=अविनाशी आत्मस्वरूप या परमात्मा को प्राप्त करता है ।

(ख) **सम्भूत्यामृतमश्नुते ।।** (१४ वां मन्त्र)

सम्भूत्या (असम्भूत्या) अव्याकृतोपासनया अमृतम्=प्रकृतिलय-लक्षणमश्नुते । (शा० भा०) अर्थात् अव्यक्तोपासना से "अमृतम्=प्रकृतिलय" रूप अमृत को प्राप्त कर लेता है ।

सम्भूत्या=शरीरेन्द्रियान्त:करणरूपयोत्पन्नया कार्यरूपया धर्म्ये प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या अमृतम्=मोक्षमश्नुते । (महर्षिदया० भा०)

अर्थात् शरीर-इन्द्रिय-अन्त:करण रूप उत्पन्न होने वाली कार्यरूप, धर्मकार्य में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के सहयोग से "अमृतम्=मोक्षसुख" को प्राप्त करता है ।

(ग) **वायुरनिलममृतम्० ।।** (१७ वां मन्त्र)

वायु:=प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिल-ममृतं=सूत्रात्मानं प्रतिपद्यताम् ।। (शा० भा०)

अर्थात् मरने वाले का वायु (प्राण) अपने अध्यात्म परिच्छेद को

त्यागकर अधिदैवरूप सर्वात्मक वायुरूप "अमृत=सूत्रात्मा" को प्राप्त हो।

अत्रस्थो वायुः धनञ्जयादिरूपः अनिलं कारणरूपं वायुम् अनिलेऽमृतं नाशरहितं कारणं धरति । (महर्षिदया० भा०)

अर्थात् यहां विद्यमान धनञ्जयादि रूप वायु कारणरूप वायु को और "अमृतं=नाशरहितकारणं" को धारण करता है ।

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में शाङ्कर-भाष्य के अनुसार 'अमृतं' शब्द का अर्थ है-"देवत्व-भाव" "प्रकृतिलय" और "सूत्रात्मा वायु" । और महर्षि दयानन्द के अनुसार "अविनाशी आत्मस्वरूप या परमात्मा" "मोक्षसुख" और "नाशरहित कारण" अर्थ हैं । दोनों भाष्यकारों के अर्थों में सब से महान् अन्तर यह है कि शाङ्कर-भाष्य में शाब्दिक अर्थ (यौगिक) पर कोई ध्यान नहीं दिया है, किन्तु महर्षि ने प्रकरणानुसार जो भी अर्थ किए हैं, उन सब में 'अमृतम्' शब्द का यौगिकार्थ का परित्याग कहीं भी नहीं हुआ है । अतः उनके अर्थ में जो अर्थ-गाम्भीर्य तथा सङ्गति है, वह शाङ्कर-भाष्य में नहीं है ।

शाङ्कर-भाष्य में 'अमृतम्' पद का अर्थ अमृतत्व=मोक्ष क्यों नहीं किया, यह श्री शङ्कराचार्य जी ने स्वयं लिखा भी है-

''विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वञ्च । ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात् समुच्चयानुपपत्तिः ।"

(ईशावास्यो० १८वां मन्त्र)

अर्थात् विद्या शब्द से परमात्म-विद्या का और 'अमृत' शब्द से "अमृतत्व" (मोक्ष) का ग्रहण क्यों नहीं करते ? परमात्मविद्या और कर्म का विरोध होने से उनका समुच्चय नहीं हो सकता । इससे स्पष्ट है कि एक मत में पूर्वनिर्धारित धारणा के अनुसार 'विद्या' तथा 'अमृतादि' शब्दों के अर्थों को जानते हुए भी मिथ्या अर्थ किए गए हैं । क्या ऐसा करना विद्वानों को शोभा दे सकता है ?

श्री उव्वट ने यहां प्रथम मन्त्र की व्याख्या में 'असम्भूति' पद का अर्थ अपुनर्जन्म, और सम्भूति का अर्थ आत्मज्ञान किया है । वे लिखते हैं-येऽसम्भूतिमुपासते, मृतस्य सतः पुनः सम्भवो नास्ति, अतः शरीरग्रहणाद-स्माकं मुक्तिरेव । न हि विज्ञानात्मा कश्चिदनुच्छित्तिधर्माऽस्ति यो यमनियमैः सम्बध्यते...। ये सम्भूत्यामेव रताः...आत्मज्ञान एव रताः । (उव्वटभाष्य)

समीक्षा-ये तीन मन्त्र इस प्रकार के हैं कि असम्भूति और

सम्भूति का जो भी कोई अर्थ स्वीकार किया जाए, वह सर्वत्र घटना चाहिए । यदि स्वीकृत अर्थ कहीं घटता है और कहीं नहीं तो यह समझ लेना चाहिए कि अर्थ में अवश्य कोई दोष है । यहां प्रथम मन्त्र में असम्भूति और सम्भूति पद हैं । द्वितीय मन्त्र में इन्हीं के पर्यायवाची असम्भव और सम्भव पद हैं । तृतीय मन्त्र में असम्भूति का पर्यायवाची 'विनाश' पद है । सम्भूति शब्द प्रथम मन्त्र के तुल्य वही है । श्री उव्वट ने द्वितीय मन्त्र में असम्भव और सम्भव पद का कोई अर्थ नहीं किया। तृतीय मन्त्र में सम्भूति का अर्थ परब्रह्म और विनाश का अर्थ विनाशी शरीर किया है । यहां तृतीय मन्त्र में सम्भूति का एक नया अर्थ और कर डाला—परब्रह्म । और विनाश पद का भी विनाशी शरीर प्रथम मन्त्र के अर्थ से भिन्न अर्थ किया है । । असम्भूति पद का प्रथम मन्त्र में अपुनर्जन्म तथा तृतीय मन्त्र में विनाशी शरीर । श्री उव्वट स्थान स्थान पर असम्भूति और सम्भूति का अर्थ बदल रहे हैं । अतः उनके किए पदार्थों पर स्वयम् उन्हें सन्तोष नहीं ।

श्री उव्वट ने सम्भूति पद का अर्थ प्रथम मन्त्र में आत्मज्ञान तथा तृतीय मन्त्र में परब्रह्म किया है । प्रथम मन्त्र में सम्भूति=आत्मज्ञान से घोर अन्धकार की प्राप्ति का वर्णन किया जा रहा है और तृतीय मन्त्र में सम्भूति=परब्रह्म के ज्ञान से अमृत की प्राप्ति बतलाई जा रही है । यह अर्थ परस्पर विरोधी होने से अशुद्ध है । और विनाश पद का जो शरीरग्रहण अर्थ किया है सो भी तर्कसंगत नहीं । शरीरग्रहण से मृत्यु का भय दूर नहीं होता, अपितु भय उत्पन्न होता है । अतः उव्वट के सम्भूति और असम्भूति पदों के अर्थ मिथ्या हैं ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथ विद्याऽविद्योपासनफलमाह ।।

अब विद्या और अविद्या की उपासना के फल का उपदेश किया जाता है ।।

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय ऽ इव ते तमो य ऽ उ विद्यायाᳬं रताः ।।१२।।

***पदार्थः*—(अन्धम्)** दृष्ट्यावरकम् **(तमः)** गाढमज्ञानम् **(प्र) (विशन्ति) (ये) (अविद्याम्)** अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्येति=ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद्भिन्नम् **(उपासते)** अभ्यस्यन्ति **(ततः) (भूय इव)** अधिक-मिव **(ते) (तमः)** अज्ञानम् **(ये)** पण्डितं मन्यमाना: **(उ)** (विद्यायाम्) शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे **(रताः)** रममाणा: ।।१२।।

***अन्वयः*—**ये मनुष्या अविद्यामुपासते तेऽन्धतमः प्रविशन्ति ये विद्यायां रतास्त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ।।१२।।

***सपदार्थान्वयः*— ये मनुष्याः अविद्याम्** अनित्याशुचि-दु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-ख्यातिरविद्येति=ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु=कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद्भिन्नम् **उपासते** अभ्यस्यन्ति; **तेऽन्धं** दृष्ट्या-वरकं **तमः** गाढमज्ञानं प्रविशन्ति ।

***भाषार्थ*—**(ये) जो मनुष्य (अविद्याम्) अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दु:ख को सुख अनात्मा को आत्मा जानना रूप अविद्या है, अतः ज्ञानादि गुणों से रहित, कार्यकारण रूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (अन्धम्) ज्ञानदृष्टि को ढकने वाले (तमः) गाढ़ अज्ञान में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं । और—

ये पण्डितं मन्यमाना **विद्यायां** शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे **रताः** रममाणाः **त उ ततः भूय इव** अधिकमिव **तमः** अज्ञानं **प्रविशन्ति** ।।४०।१२।।

(ये) जो अपने आपको पण्डित मानने वाले (विद्यायाम्) शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के जानने मात्र तथा अवैदिक आचरण में (रताः) रमण करते हैं (ते) वे (उ) निश्चय ही (ततः) उससे (भूयः इव) कहीं अधिक (तमः) अज्ञान में प्रविष्ट होते हैं ।।१२।।

***भावार्थः*—** अत्रोपमा-लङ्कारः । यद्यच्चेतनं ज्ञानादिगुणयुक्तं वस्तु तज्ज्ञातृ, यदविद्यारूपं तज्ज्ञेयम्; यच्च चेतनं ब्रह्म विद्वदात्मस्वरूपं

***भावार्थ*—**यहां उपमा-लङ्कार है । जो-जो ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन वस्तु है, वह ज्ञाता; और जो अविद्यारूप है वह ज्ञेय कहलाता

वा तदुपासनीयं सेवनीयं च । यदतो भिन्नं तन्नोपासनीयं, किन्तूपकर्त्तव्यम्।

है । और जो चेतन ब्रह्म अथवा विद्वान् आत्मा है, उसी की उपासना और सेवा करनी चाहिए, और जो इससे भिन्न हैं, उसकी उपासना नहीं करनी चाहिए, किन्तु उससे उपकार ग्रहण करना चाहिए ।

ये मनुष्या अविद्याऽस्मिताराग-द्वेषाऽभिनिवेशक्लेशैर्युक्तास्ते परमेश्वरं विहायाऽतोभिन्नं जडं वस्तूपास्य महति दुःख-सागरे निमज्जन्ति ।

जो मनुष्य अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से युक्त हैं; वे परमेश्वर को छोड़कर इससे भिन्न जड़ वस्तु की उपासना करके महान् दुःखसागर में डूबते हैं ।

ये च शब्दार्थाऽन्वयमात्रं संस्कृतमधीत्य सत्यभाषण-पक्षपात-रहितन्यायाचरणाख्यं धर्मं नाऽऽ-चरन्त्यभिमानाऽरूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्याविद्यामेव मन्यन्ते, ते चाऽ-धिकतमसि दुःखार्णवे सततं पीडिता जायन्ते ।।४०।१२।।

और जो शब्द, अर्थ, सम्बन्ध मात्र संस्कृत भाषा पढ़कर सत्यभाषण, पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म का आचरण नहीं करते, अपितु अभिमानी होकर विद्या का अपमान करके अविद्या का मान करते हैं, वे अत्यन्त अज्ञानरूप दुःखसागर में पड़े सदा दुःखी रहते हैं।।४०।१२।।

***भा० पदार्थः*—**अविद्याम्=परमेश्वराद्भिन्नं जडं वस्तु । विद्यायाम्=शब्दार्थाऽन्वयमात्रं संस्कृतमधीत्य सत्यभाषणपक्षपातरहितन्यायाचरणाख्य-धर्मस्याऽनाचरणे रताः=अभिमानारूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्याऽविद्यामेव मन्यमानाः । अन्धन्तमः=महद्दुःखसागरम् । भूयः=अधिकम् ।।४०।१२।।

***भाष्यसार*—विद्या और अविद्या की उपासना का फल**—जो अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा जानना रूप अविद्या है, अतः ज्ञानादि गुणों से रहित, कार्य कारणात्मक, परमेश्वर से भिन्न वस्तु की जो उपासना करते हैं वे घोर अज्ञान को प्राप्त होते हैं । अपने आपको पण्डित मानने वाले, विद्या अर्थात् शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के विज्ञानमात्र में तथा अवैदिक आचरण में रमण करते हैं, वे उससे भी कहीं अधिक अज्ञान को प्राप्त होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि चेतन आत्मा ज्ञानादि गुणों से युक्त ज्ञाता है । ज्ञानादि गुणों से रहित अविद्या रूप वस्तु ज्ञेय है । चेतन ब्रह्म उपासनीय है और विद्वानों का आत्मा सेवा करने योग्य है । विद्या अर्थात् चेतन ब्रह्म और आत्मा से भिन्न अर्थात् अविद्या (जड़) वस्तु उपासना के योग्य नहीं होती किन्तु उपकार लेने योग्य होती है ।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश पांच क्लेश हैं । इनसे युक्त मनुष्य परमेश्वर को छोड़कर उनसे भिन्न जड़ (अविद्या) वस्तु की उपासना करते हैं, वे महान् दु:खसागर में डूबते हैं । और जो शब्द, अर्थ, सम्बन्धमात्र संस्कृत पढ़कर सत्यभाषण, पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म का आचरण नहीं करते, अभिमानी होकर विद्या (चेतन ब्रह्म) का तिरस्कार करके अविद्या (जड़ पदार्थ) को ही अधिक मानते हैं; वे अधिक अन्धकार रूप दु:खसागर में सदा पीड़ित रहते हैं ।।४०।१२।।

समीक्षा—(क) ईशावास्योपनिषद् में नवम मन्त्र यजुर्वेद में ४०।१२वां मन्त्र है । यहां स्थानभेद होते हुए भी पाठभेद नहीं है । इस मन्त्र का अर्थ करते हुए श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—(क) "उनमें वे तो अदर्शनात्मक अन्धकार में प्रवेश करते हैं । कौन ? जो अविद्या=विद्या से अन्य अविद्या अर्थात् कर्म (केवल अग्निहोत्रादिरूप अविद्या ही) की उपासना करते हैं अर्थात् तत्पर होकर कर्म का ही अनुष्ठान करते रहते हैं । क्योंकि कर्म विद्या के विरोधी हैं तथा उस अन्धकार से भी कहीं अधिक अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, कौन ? जो कर्म करना छोड़कर केवल विद्या अर्थात् देवता-ज्ञान में ही रत हैं ।"[१]

(ख) "सो कर्म के सम्बन्धीरूप से यहां देववित्त अर्थात् देवता सम्बन्धी ज्ञान का ही उल्लेख हुआ है, परमात्मज्ञान का नहीं । क्योंकि 'विद्या से देवलोक प्राप्त होता है, ऐसा पृथक् फल सुना गया है ।"[२]

१. "तत्र अन्धन्तम:=अदर्शनात्मकं तम: प्रविशन्ति । के ? येऽविद्यां विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थ:; कर्मणो विद्याविरोधित्वात् । तामविद्याम् अग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्परा: सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्राय: । ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तम: प्रविशन्ति, के ? कर्म हित्वा ये उ=ये तु विद्यायामेव=देवताज्ञान एव रता: अभिरता:।"

२. "तदिहोच्यते यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम् । 'विद्यया देवलोक:' (बृ० उ० १।५।१६) इति पृथक् फलश्रवणात् ।" (ईशावास्यो० मं० ९ । शा० भा०)

समीक्षा—मन्त्र में 'अन्धम्' 'तमः' दो शब्द पठित हैं । दोनों ही अन्धकार के वाचक हैं । 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते इति' यास्काचार्य के मतानुसार महर्षि दयानन्द ने 'ज्ञान दृष्टि को ढकने वाला अज्ञान' अर्थ किया है । किन्तु शाङ्करभाष्य में 'अदर्शनात्मक अन्धकार' अर्थ किया है। इसमें अर्थगाम्भीर्य प्रकट नहीं होता है । क्योंकि 'तमः' तो होता ही अदर्शनात्मक है । और मन्त्र में 'उपासते' क्रिया पठित है, जिससे स्पष्ट है कि इस मन्त्र में जो निषेध किया है, वह उपासना विरोधी ही होना चाहिए । जैसे परमात्मा उपासनीय है, उससे भिन्न जड़ादि वस्तुओं के उपासक अज्ञानान्धकार में गिरते हैं, यह अर्थ तो उचित है । विद्या से जड़वस्तुएं शून्य होती हैं । उनकी उपासना अज्ञानान्धकार में ले जाती है। और जो विद्या में लगे हैं, वे उनसे भी अधिक अन्धकार को प्राप्त करते हैं । यहां 'विद्या' का अर्थ शाङ्कर-भाष्य में 'देवता-ज्ञान' किया है । और इसके लिए 'विद्यया देवलोकः' का प्रमाण भी उद्धृत किया है । प्रथम तो यह प्रमाण उनकी बात की पुष्टि नहीं करता । क्योंकि (बृ० उ० १।५।१६) में पूरा वाक्य इस प्रकार है—

"त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः, देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति ।"

इस प्रमाण में तीनों लोकों का वर्णन है और वे कहीं अन्यत्र नहीं हैं, इसी संसार में हैं । साधारणरूप से मनुष्यों को मनुष्यलोक, रक्षक (विद्या या बल से) होने से विशिष्ट मनुष्यों को पितृलोक और विद्वानों को देवलोक कहते हैं । और इन सबके साथ 'जय्यः=जीतना चाहिए, क्रिया का संयोग है । जो पितर=रक्षक हैं, उनको कर्म से जीता जा सकता है । क्योंकि वे अनवरत कार्यरत होते हैं । विद्वानों को विद्या से जीता जा सकता है । इसमें कर्म और विद्या में क्या विरोध हुआ ? कर्म से अभिप्राय श्री शङ्कराचार्य का 'अग्निहोत्रादि' से है, क्या ये विना विद्या के ही सम्भव हैं ? और जो विद्या में रत हैं, क्या उन्हें कर्म नहीं करना पड़ता । विद्या और कर्म को परस्पर विरुद्ध बताना नितान्त असत्य धारणा है, और यह कथन उपनिषत् के मन्त्र के भी विरुद्ध है । इसी उपनिषद् में विद्या और अविद्या को साथ-साथ जानने का आगे फल भी लिखा है—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।" अर्थात् अविद्या से मृत्यु

को पार करके विद्या से अमृत=परमात्मा को प्राप्त करता है । श्री शङ्कराचार्य जी ने भी इस का यही अर्थ लिखा है । इसमें कर्म और विद्या में कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं ।

'विद्या से देवताज्ञान' में शङ्कराचार्य जी का क्या आशय है, यह उन्होंने अस्पष्ट ही छोड़ दिया है । 'देवता' से यदि सर्वोत्तम महादेव परमात्मा का ग्रहण करते हैं अथवा परमात्मा से भिन्न देवों का ग्रहण करते हैं तो भी ज्ञानोन्मुख होने से महान्धकार में क्यों गिरेंगे ? जड़ व चेतन उभयविध देवों को जानने से अज्ञान कैसे होगा ? 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा' इस निरुक्त के प्रमाण से देव दूसरों को विद्या या प्रकाशादि से प्रकाशित ही करते हैं, अतः 'अज्ञान में गिरना' यह अर्थ बुद्धिगम्य नहीं है । महर्षि दयानन्द की व्याख्या तर्कसंगत है कि जो विद्यार्जन में तो लगा है, किन्तु तदनुकूल आचरण नहीं करता, वह न जानने वाले की अपेक्षा अधिक दोषी है, अतः जानबूझकर कर्म न करने से वह अधिक अज्ञानी है । और विद्या पढ़कर मिथ्या अभिमानी होने से तदनुकूल आचरण न करना विद्या का स्पष्टरूप से तिरस्कार है । इसलिए मन्त्र में उन्हें महान्धकार अर्थात् दुःखसागर में गोते लगाने की बात कही है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथ जड-चेतनयोर्विभागमाह ।।

अब जड़-चेतन का विभाग कहते हैं ।।

अन्यदेवाहुर्विद्याया ऽ अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१३।।

***पदार्थः—*(अन्यत्)** अन्यदेव कार्यं फलं वा **(एव) (आहुः)** कथयन्ति **(विद्यायाः)** पूर्वोक्तायाः **(अन्यत्) (आहुः) (अविद्यायाः)** पूर्वमन्त्रेण प्रतिपादितायाः **(इति) (शुश्रुम)** श्रुतवन्तः **(धीराणाम्)** आत्मज्ञानां विदुषां सकाशात् **(ये) (नः)** अस्मभ्यम् **(तत्)** विद्याऽविद्याजं फलं द्वयोः स्वरूपं वा **(विचचक्षिरे)** व्याख्यातवन्तः ।।१३।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! ये विद्वांसो नो विचचक्षिरे । विद्याया अन्यदाहुरविद्याया अन्यदेवाहुरिति, तेषां धीराणां तद्वचो वयं शुश्रुमेति विजानीत ।।१३।।

सपदार्थान्वयः— हे मनुष्याः ! ये विद्वांसो (नः) अस्मभ्यं **(विचचक्षिरे)** व्याख्यातवन्तः, **(विद्यायाः)** पूर्वोक्तायाः **(अन्यत्)** अन्यदेव कार्यं फलं वा **(आहुः)** कथयन्ति । **(अविद्यायाः)** पूर्वमन्त्रेण प्रतिपादितायाः **(अन्यत्)** अन्यदेव कार्यं फलं वा **(एवाहुः)** कथयन्ति इति तेषां **(धीराणाम्)** आत्मज्ञानां विदुषां सकाशात् **(तत्)** विद्याऽविद्याजं फलं द्वयोः स्वरूपं वा वचो वयं **(शुश्रुम)** श्रुतवन्तः, इति विजानीत ।।४०।१३।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो विद्वान् लोग (नः) हमारे लिए (विचचक्षिरे) बतला गए हैं कि (विद्यायाः) पूर्वमन्त्र में कही विद्या का (अन्यत्) और ही कार्य वा फल होता है, ऐसा (आहुः) कहते हैं । (अविद्यायाः) पूर्वमन्त्र में प्रतिपादित अविद्या का (अन्यत्) और ही फल होता है, ऐसा उन (धीराणाम्) आत्मज्ञानी विद्वानों के पास से (तत्) उपदेश हमने (शुश्रुम) सुना है, ऐसा तुम जानो ।।४०।१३।।

भावार्थः—ज्ञानादिगुण-युक्तस्य चेतनस्य सकाशाद् य उपयोगो भवितुं योग्यो न स अज्ञानयुक्तस्य जडस्य सकाशात्, यच्च जडात् प्रयोजनं सिध्यति, न तच्चेतनादिति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्वत्सङ्गेन, विज्ञानेन, योगेन, धर्माचरणेन चाऽनयोर्विवेकं कृत्वोभयोरुपयोगः कर्त्तव्यः ।।४०।१३।।

भावार्थ—ज्ञान आदि गुण से युक्त चेतन से जो उपयोग लिया जा सकता है, वह अज्ञानयुक्त जड़ वस्तु से नहीं । और जो जड़-वस्तु से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह चेतन से नहीं हो सकता । ऐसा सब मनुष्यों को विद्वानों के सङ्ग, विज्ञान, योग और धर्माचरण से इन दोनों का विवेचन करके जड़ और चेतन दोनों का ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिए ।।

भा० पदार्थः—विद्याया=ज्ञानादिगुणस्य । अविद्यायाः=अज्ञानादि-गुणस्य ।।

भाष्यसार—**जड़ और चेतन का विभाग—**विद्वान् मनुष्यों ने पूर्व मन्त्रोक्त विद्या (चेतनवस्तु) का अविद्या से अन्य (भिन्न) ही कार्य वा फल बतलाया है । पूर्व मन्त्रोक्त अविद्या (जड़वस्तु) का विद्या से अन्य (भिन्न) ही कार्य या फल बतलाया है । आत्मज्ञानी विद्वानों से विद्या और अविद्या से उत्पन्न फल तथा उनका स्वरूप हम भिन्न-भिन्न सुनते हैं ।

तात्पर्य यह है कि विद्या अर्थात् ज्ञानादिगुणों से युक्त चेतन से जो उपयोग लिया जा सकता है, वह अविद्या अर्थात् अज्ञानयुक्त जड़ पदार्थ से नहीं । और जो अविद्या अर्थात् जड़ पदार्थ से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह विद्या अर्थात् चेतन पदार्थ से नहीं । इसलिए सब मनुष्य विद्वानों के सङ्ग से विज्ञान, योग और धर्माचरण से विद्या और अविद्या का विवेचन करें तथा इनका यथावत् उपयोग करें ।।४०।१३।।

समीक्षा—ईशावास्योपनिषद् में १०वां मन्त्र यजुर्वेद में १३वां मन्त्र है । स्थानभेद होते हुए इस मन्त्र में पाठभेद भी है । वेद में 'विद्याया:' और 'अविद्याया:' पाठ हैं और उपनिषद् में इनके स्थान पर तृतीयान्त 'विद्यया' और 'अविद्यया' पाठ है । इस पाठभेद से अर्थ में कोई अन्तर नहीं हुआ है । इस मन्त्र में जो विद्या और अविद्या के भिन्न-भिन्न फलों की चर्चा की है, उससे उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है । शङ्कराचार्य जी की यह मान्यता कि कर्म और विद्या में पर्वत के समान, अविचल विरोध है, यह बिल्कुल भ्रान्तिमूलक है । यथार्थ में विरोध कहां होता है ? इसी बात को ही वे नहीं समझ सके । एक ही विषय में दो विरोधी बातें हों तो विरोध होता है, और भिन्न-भिन्न विषयक बातों में विरोध कैसा ?

और जब विद्या व अविद्या के फलों में 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' कोई विरोध नहीं है, तब उनमें विरोध कैसा? अविद्या=विद्या से भिन्न कर्म अथवा ज्ञानरहित जड़ पदार्थों के उपयोग का फल दूसरा है, और विद्या=ज्ञान अथवा विद्यादियुक्त चेतन को जानने का फल दूसरा है । इस का अभिप्राय यही है कि मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जड़-चेतन का ज्ञान अथवा विद्या व कर्म को जानना परमावश्यक है । सांसारिक पदार्थों को यथार्थ रूप में जानने से मनुष्य उनका ठीक-ठीक उपयोग करता है, और उनको साधन बनाकर ही अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ता रहता है, और चेतन (विद्या से युक्त) परमात्मा को जानने से अमृत=मोक्ष की प्राप्ति होती है । इनमें परस्पर कुछ भी विरोध नहीं है।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । स्वराडुष्णिक् ऋषभः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

जड़ और चेतन के विभाग का फिर उपदेश किया है ।।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥१४॥

***पदार्थः*—(विद्याम्)** पूर्वोक्ताम् **(च)** तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् **(अविद्याम्)** प्रतिपादितपूर्वाम् **(च)** एतदुपयोगिसाधनकलापम् **(यः) (तत्) (वेद)** विजानीत **(उभयम्) (सह) (अविद्यया)** शरीरादिजडेन पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन **(मृत्युम्)** मरणदुःखभयम् **(तीर्त्वा)** उल्लङ्घ्य **(विद्यया)** आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन **(अमृतम्)** नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा **(अश्नुते)**॥१४॥

***अन्वयः*—**यो विद्वान् विद्यां चाऽविद्यां च तदुभयं सह वेद सोऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥१४॥

***सपदार्थान्वयः*—यो** = **विद्वान् विद्यां** पूर्वोक्तां **च** तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् **अविद्यां** प्रतिपादितपूर्वां **च** एतदुपयोगिसाधन-कलापं **तदुभयं सह वेद** विजानीत **सोऽविद्यया** शरीरादिजडेन पदार्थ-समूहेन कृतेन पुरुषार्थेन **मृत्युं** मरण-दुःखभयं **तीर्त्वा** उल्लङ्घ्य **विद्यया** आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन **अमृतं** नाशरहितं स्व-स्वरूपं परमात्मानं वा **अश्नुते**॥४०।१४

***भाषार्थ*—**(यः) जो विद्वान् (विद्याम्) पूर्वमन्त्र में कही विद्या, (च) और उसके साधन उपसाधनों को तथा (अविद्याम्) पूर्व प्रतिपादित अविद्या (च) और उसके उपयोगी नाना साधनों (तत्, उभयम्, सह) उन दोनों को साथ-साथ (वेद) जानता है; (सः) वह (अविद्यया) शरीर आदि जड़ पदार्थों के द्वारा किये पुरुषार्थ से (मृत्युम्) प्राण-त्याग में होने वाले दुःख के भय को (तीर्त्वा) पार करके (विद्यया) आत्मा और शुद्ध-अन्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से (अमृतम्) अविनाशी आत्मस्वरूप को अथवा परमात्मा को (अश्नुते) प्राप्त करता है ॥१४॥

***भावार्थः*—**ये मनुष्या विद्याऽविद्ये स्वरूपतो विज्ञायाऽनयो-र्जडचेतनौ साधकौ वर्त्तेते, इति

***भावार्थ*—**जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानकर और इनके जड़ एवं चेतन पदार्थ

निश्चित्य सर्वं शरीराऽऽदिजडं चेतनमात्मानं च धर्मार्थ-काममोक्ष-सिद्धये सहैव सम्प्रयुज्यन्ते, ते लौकिकं दु:खं विहाय पारमार्थिकं सुखं प्राप्नुवन्ति ।

साधक हैं; ऐसा निश्चय करके शरीर आदि जड़ और चेतन आत्मा का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए एक साथ प्रयोग करते हैं; वे लोग लौकिक दु:ख से छूटकर पारमार्थिक सुख (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ।

यदि जडं प्रकृत्यादिकारणं शरीरादिकार्यं वा न स्यात्तर्हि परमेश्वरो जगदुत्पत्तिं, जीव: कर्मोपासने ज्ञानं च कर्त्तुं कथं शक्नुयात् ?

यदि जड़ (अविद्या) प्रकृति आदि कारणवस्तु अथवा शरीर आदि कार्यवस्तु न हो तो परमात्मा जगत् की उत्पत्ति तथा जीव कर्म, उपासना और ज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकते हैं ।

तस्मान्न न केवलेन जडेन, न च केवलेन चेतनेन; अथवा न केवलेन कर्मणा न च केवलेन ज्ञानेन कश्चिदपि धर्मादिसिद्धिं कर्त्तुं समर्थो भवति ।।४०।१४।।

इसलिए न केवल जड़ (अविद्या) के द्वारा और न केवल चेतन (विद्या) के द्वारा; अथवा न केवल कर्म (अविद्या) के द्वारा और न केवल ज्ञान (विद्या) के द्वारा कोई भी व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर सकता है ।।४०।१४।।

***भा० पदार्थः*—**मृत्युम्=लौकिकं दु:खम् । तीर्त्वा=विहाय । अमृतम्=पारमार्थिकं सुखम् । अश्नुते=प्राप्नोति । अविद्याम्=कर्मोपासने । विद्याम्=ज्ञानम् ।।४०।१४।।

***भाष्यसार*—१. जड़ और चेतन का विभाग**—जो विद्वान् पूर्व मन्त्रोक्त विद्या (चेतन वस्तु) और तत्सम्बन्धी साधन-उपसाधन तथा पूर्व में प्रतिपादित अविद्या (जड़ वस्तु) और उसके उपयोगी सब साधनों को साथ-साथ जानता है । वह अविद्या अर्थात् शरीरादि जड़ पदार्थों से किये पुरुषार्थ के द्वारा मृत्यु के दु:ख को पार कर सकता है; और विद्या अर्थात् आत्मा और अन्त:करण के संयोग से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान (दर्शन) से अमृत अर्थात् अविनाशी आत्मस्वरूप तथा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को समझें जड़ और चेतन पदार्थ इनके साधक हैं; ऐसा निश्चय करें । शरीर आदि जड़ वस्तु (अविद्या), और चेतन आत्मा (विद्या) का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए साथ-साथ उपयोग करें । लौकिक दु:ख (मृत्यु) को छोड़कर पारमार्थिक सुख (अमृत=मोक्ष) को प्राप्त करें ।

२. जड़ और चेतन की आवश्यकता—यदि अविद्या अर्थात् जड़ प्रकृति आदि कारण वस्तु अथवा शरीरादि कार्य वस्तु न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकता और जीव कर्म, उपासना और ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिए न केवल जड़ (अविद्या) और न केवल चेतन (विद्या) अथवा न केवल कर्म (अविद्या) और न केवल ज्ञान (विद्या) से कोई भी मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर सकता है। अत: विद्या और अविद्या दोनों का सह-ज्ञान आवश्यक है ।।४०।१४।।

अन्यत्र व्याख्यात—"विद्यां चाविद्यां च०" (यजु० ४०।१४)।। जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही जानता है; वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है । (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषद् में ११वां मन्त्र यजुर्वेद में १४ वें स्थान पर है । इनमें स्थानभेद होते हुए भी कोई पाठ-भेद नहीं है । इस मन्त्र के अर्थ में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"विद्या और अविद्या अर्थात् देवताज्ञान और कर्म, इन दोनों को जो एक साथ एक ही पुरुष से अनुष्ठान किए जाने योग्य जानता है, इस प्रकार समुच्चय करने वाले को ही एक पुरुषार्थ का सम्बन्ध क्रमश: होता है । अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु=स्वाभाविक कर्म और ज्ञान इन दोनों को तरकर=पार करके विद्या=देवताज्ञान से अमृत=देवतात्मभाव को प्राप्त हो जाता है ।"[१]

"अन्धन्तम: प्रविशन्ति०' मन्त्र के भाष्य में कर्म व ज्ञान में

---

(१) "विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थ:, यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एव एक पुरुषार्थसम्बन्ध: क्रमेण स्यादित्युच्यते । अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना, मृत्युम्=स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा=अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते=प्राप्नोति ।" (ईशावा० मं० ११ । शा० भा०)

अविचलित विरोध मानकर श्री शङ्कराचार्य जी ने लिखा है—कर्म के सम्बन्धीरूप से यहां दैव वित्त अर्थात् **देवतासम्बन्धी ज्ञान का ही उल्लेख हुआ है, परमात्मज्ञान का नहीं ।**" परन्तु यहां कर्म और ज्ञान का क्रमशः समुच्चय मान लिया है । इससे स्पष्ट है, कर्म व ज्ञान में विरोध नहीं हो सकता । क्योंकि क्रमिक ज्ञान में प्रथम बातों को सहायक ही मानना चाहिए, विरोधी नहीं ।

और 'मृत्यु' पद का अर्थ 'स्वाभाविक कर्म व ज्ञान' करना पूर्वाग्रह को ही प्रकट करते हैं । 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग 'शरीर-वियोग' या 'दुःख' अर्थ में होता है । 'मृत्यु' शब्द का 'स्वाभाविक कर्म व ज्ञान' अर्थ आश्चर्यचकित ही करता है । क्योंकि किसी शास्त्र में भी ऐसा अर्थ अभिप्रेत नहीं है—'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से 'मृत्यु' शब्द बना है, अतः 'प्राण-वियोग' ही अर्थ करना उचित है ।[१] और 'स्वाभाविक कर्म व ज्ञान' किसके हैं ? जीवात्मा के या परमात्मा के? जीवात्मा की सत्ता को आप स्वीकार ही नहीं करते तो क्या परमात्मा अपने स्वाभाविक कर्मों वा ज्ञान को त्याग देता है ? और जो जिसका स्वाभाविक कर्म व ज्ञान होता है, क्या वह दूर हो सकता है ? दर्शन-शास्त्र के अनुसार नैमित्तिक गुणों व कर्मों का तो त्याग हो जाता है, स्वाभाविक का नहीं ।

और 'अमृतम्' का अर्थ भी आपने 'देवतात्म-भाव' किया है । जो कि परमात्मज्ञान या मोक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि 'अन्धन्तमः०' मन्त्र में आप स्वयं निषेध कर चुके हैं । तो 'देवतात्मभाव' यह कौन सी अवस्था है ? क्या विद्या=ज्ञान से परमात्मा का ज्ञान या मोक्ष प्राप्त नहीं होता ? अथवा पूर्वोक्त कथित-बात से विरोध समझकर सत्यार्थ का ही परित्याग कर दिया ? पीछे 'असुर्या नाम ते लोकाः' मन्त्र में विद्वान् और अविद्वान् दो भेद किए थे कि अविद्वान् आत्मा का हनन करते हैं और विद्वान् लोग मुक्त हो जाते हैं । किन्तु यहां विद्या से भी मुक्ति नहीं मान रहे, क्या ये परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं ?

---

(१) शरीर से जीवात्मा के वियोग को ही मृत्यु मानते हुए छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है—

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते ।।

(छा० प्रपा० ६ । खं० ११ । प्रवाक ३)

अर्थात् जीव के पृथक् होने पर यह शरीर मर जाता है, जीवात्मा नहीं मरता है ।

और यदि 'देवतात्मभाव' से यह अभिप्राय हो कि परमात्मा से भिन्न देवों की उपासना से 'अमृत' को प्राप्त करता है, तब भी यह वेद-विरुद्ध मान्यता है । वेद में तो कहा है कि—'तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति' (य० ३१।१८) उस एक परमात्मा को जानकर ही मृत्युदु:ख से छुटकारा पाता है । और जिस अविद्या=कर्म से अन्धन्तमः= अन्धकारावृत नरक की प्राप्ति मानी थी, क्या वे ही कर्म मृत्यु को तरने के साधन बन सकते हैं ? क्या मृत्यु का तरना और अन्धकार आवृत लोकों का प्राप्त करना एक ही बात है ? अत: अविद्या शब्द की सङ्गति शाङ्कर-भाष्य से नहीं लग पाती । महर्षि दयानन्द ने इस समस्या का उपयुक्त समाधान किया है । जहां पर अविद्या से अन्धन्तम लोक में जाना लिखा है, वहां अविद्या का अर्थ है—ज्ञानादिगुणरहित जड़ की उपासना । और जहां अविद्या से मृत्यु को पार करना लिखा है, वहां अविद्या का अर्थ है—ज्ञानादिगुणरहित शरीरादि जड़ पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करने के लिए किया पुरुषार्थ । 'मृत्यु' क्या है ? प्राकृतिक पदार्थों के स्वरूप को न समझकर उनमें फंसे रहना, मृत्यु को पार करना क्या है ? जड़ वस्तुओं के स्वरूप को समझकर उनके जाल से अपने को बचाना । इसलिए दोनों स्थानों पर 'अविद्या' शब्द का 'अग्निहोत्रादि कर्म' अर्थ करना शाङ्कर-भाष्य की बहुत बड़ी भूल है । जिससे अनेक प्रकार की भ्रान्तियां ही उत्पन्न होती हैं ।

योगदर्शन में अविद्या का लक्षण यह किया है—

अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (यो० २।५)

अर्थात् अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दु:ख में सुख और अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या है । इस अविद्या के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने से मनुष्य मृत्यु से बच जाता है । अत: अविद्या का अर्थ महर्षि-दयानन्द कृत ही उपयुक्त तथा सुसङ्गत है ।

ईशावास्योपनिषद् के ९, १०, तथा ११वें मन्त्र में (यजुर्वेद के १०, १३, १४वें में) विद्या और अविद्या के उपयोग को समझाया गया है । इनमें प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं और जो विद्या अर्थात् शब्दार्थ-सम्बन्धबोधमात्र में रत हैं, वे उनसे भी कहीं अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं ।

यहां दूसरे मन्त्र में यह कहा गया है कि जिन मेधावी विद्वान् योगी जनों ने हमारे लिए विद्या और अविद्या का उपदेश किया है, उनसे हमने ऐसा सुना है कि विद्या का कुछ और फल है और अविद्या का कुछ और फल है । और तीसरे मन्त्र में विद्या और अविद्या के फल का उपदेश किया गया है । अर्थात् जो विद्वान् विद्या और अविद्या को साथ-साथ जान लेता है, वह अविद्या से मृत्यु के भय को पार करके विद्या से अमृत=मोक्ष को प्राप्त करता है ।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि विद्या और अविद्या का यहां क्या अभिप्राय है ? महर्षि दयानन्द ने अविद्या का अर्थ परमात्मा से भिन्न ज्ञानादिगुणों से रहित कार्य-कारणात्मक जड़-वस्तु किया है, जो अनित्य, अशुचि, दु:ख और अनात्मस्वरूप हैं । जिन्हें अज्ञानवश मनुष्य नित्य, शुचि, सुख और आत्मस्वरूप समझ लेता है । और विद्या से अभिप्राय शब्दार्थ सम्बन्ध का ज्ञान है । इस महर्षि-व्याख्यात विद्या-अविद्या का आत्मा के लिए क्या उपयोग है ? प्रथम मन्त्र में यह उपदेश किया है कि अविद्या आत्मा के लिए उपासना की वस्तु नहीं है । जो अविद्या की उपासना करते हैं वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप क्लेशों से छूट नहीं सकते । और जो मनुष्य शब्दार्थ सम्बन्ध विज्ञान में रत हैं और सत्यभाषण व न्यायाचरण रूप धर्म का अनुष्ठान नहीं करते और मिथ्याभिमानवश विद्या का तिरस्कार करते हैं, वे उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा के लिए अविद्या=जड़वस्तु की उपासना और विद्या=शब्दार्थसम्बन्ध बोधमात्र दोनों ही उपादेय नहीं हैं । आत्मा के लिए मोक्षप्राप्ति के अर्थ एकमात्र परमात्मा ही उपासनीय है ।

यहां प्रथममन्त्र में अविद्या की उपासना तथा विद्या में अनुरत होने का निषेध तो कर दिया है, किन्तु उनका उपयोग नहीं बतलाया । इस जिज्ञासा का उत्तर दूसरे और तीसरे मन्त्रों (१३-१४) में दिया गया है । दूसरे मन्त्र में कहा है कि अविद्या=जड़वस्तु का फल अन्य है और विद्या का फल दूसरा है । उनका फल क्या है, यह नहीं बताया । जिसे न समझकर श्री शङ्कराचार्य जी ने विद्यया देवलोक:' आदि प्रमाण उद्धृत किए । किन्तु तीसरे मन्त्र में उस फल का स्वयं मन्त्र में उपदेश किया गया है । अविद्या और विद्या आत्मा के लिए अत्यन्त उपयोगी वस्तु हैं

उपासना की नहीं । आत्मा को अविद्या व विद्या का साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ऐसा मन्त्र में उपदेश है । अर्थात् इन दोनों में से किसी को भी छोड़ें नहीं । वेदादि शास्त्रों के अध्ययन एवं विद्वानों के सङ्ग से इनका उपयोग करना अवश्य सीखें । अविद्या=जड़वस्तु के सदुपयोग से (उपासना से नहीं) आत्मा मृत्यु के भय को पार कर जाता है और विद्या के सदुपयोग से अमृत=मोक्ष को प्राप्त कर सकता है ।

शाङ्कर-भाष्य में अविद्या का अर्थ अग्निहोत्रादि कर्म तथा विद्या का अर्थ देवता-ज्ञान किया है । यह उनकी व्याख्या अपूर्ण है । ज्ञान, कर्म, तथा उपासना तीन वस्तु हैं । मन्त्र में विद्या व अविद्या दो ही हैं। विद्या का अर्थ ज्ञान है तो अविद्या का क्या अर्थ होगा ? उत्तर स्पष्ट है कि ज्ञान से भिन्न कर्म और उपासना । महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश (नवम समुल्लास) में अविद्या का अर्थ कर्म व उपासना किया है । वे लिखते हैं—"कर्म और उपासना अविद्या इसलिए हैं कि यह बाह्य और अन्तर क्रिया विशेष ही हैं ज्ञान विशेष नहीं ।" अतः अविद्या का अर्थ केवल कर्म नहीं उपासना भी है । विद्या का अर्थ भी उनका 'देवता ज्ञान' अस्पष्ट है । परमात्मा से भिन्न यह देवता-ज्ञान क्या है ?

दूसरे मन्त्र में अविद्या व विद्या के भिन्न भिन्न फल कहे हैं, किन्तु क्या फल हैं ? यह नहीं बतलाया गया है । किन्तु यहां श्री शङ्कराचार्य जी ने बृहदा० के प्रमाण देकर विद्या से देवलोक की प्राप्ति तथा अविद्या=कर्म से पितृलोक की प्राप्ति का उल्लेख कर दिया है । ये मूल-मन्त्रों से विपरीत होने से मान्य नहीं हो सकते । तृतीय-मन्त्र में विद्या व अविद्या के फलों का स्पष्ट उल्लेख है । अतः दूसरे मन्त्र की व्याख्या में कल्पित फलों का उल्लेख करना मन्त्रार्थ को न समझना ही है । अथवा अपनी कल्पना को बलात् मिलाना है ।

तीसरे मन्त्र की व्याख्या में मृत्यु=स्वाभाविक कर्म और ज्ञान, विद्या=देवताज्ञान तथा अमृत=देवतात्मभाव, ये तीनों अर्थ शाङ्कर-भाष्य में निराधार व काल्पनिक होने से मान्य नहीं हो सकते । 'मृत्यु' शब्द 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से बना है, अतः इसका अर्थ है—प्राणों का त्याग करना और 'अमृत' शब्द का अर्थ है—प्राण-त्याग का अभाव अर्थात् जन्म-मरण का अभाव । और यह अवस्था मोक्ष में ही होती है । अतः अमृत का अर्थ मोक्ष है । इसी प्रकार विद्या अर्थ का 'देवता-ज्ञान' काल्पनिक ही है ।

समीक्षा—श्री उव्वट महोदय ने विद्या का अर्थ आत्मज्ञान तथा अविद्या का अर्थ कर्म किया है । वे लिखते हैं—"विद्यां च आत्मज्ञानं च अविद्यां च कर्म च० ।"

अर्थ—विद्या अर्थात् आत्मज्ञान, अविद्या अर्थात् कर्म । (उव्वटभाष्य)

यहां उव्वटभाष्य में १२वें मन्त्र में तो विद्या अर्थात् आत्मज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म से घोर अन्धकार की प्राप्ति बतलाई जा रही है । और १४वें मन्त्र में उक्त विद्या (आत्मज्ञान) से मोक्ष की प्राप्ति तथा अविद्या (कर्म) से मृत्यु पर विजय का वर्णन किया जा रहा है । श्री उव्वट इन तीनों मन्त्रों की ठीक-ठीक सङ्गति नहीं लगा सके । उक्त विरोध का उनके भाष्य में कोई परिहार नहीं । यही दोष महर्षि के वेदभाष्य को छोड़ कर प्राय: सभी भाष्यों में उपलब्ध हो रहा है । १४वां मन्त्र १२वें मन्त्र का विरोध कर रहा है । इसका परिहार महर्षि के भाष्य में ही उपलब्ध होता है । परिहार यह है—१२वें मन्त्र में विद्या और अविद्या (कर्म, उपासना तथा जड़ वस्तु) की उपासना का निषेध है । जो लोग इनकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं । १४वें मन्त्र में विद्या और अविद्या को जानकर उसका ठीक-ठीक उपयोग करके उससे विशिष्ट फल प्राप्त करने का उपदेश है । अविद्या को जानकर आत्मा मृत्यु को पार करे तथा विद्या को जानकर आत्मा अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करे । महर्षि के भाष्य में विरोध का यह बड़ा ही सुन्दर समाधान है ।

दीर्घतमा: । ***आत्मा***=स्पष्टम् । स्वराड् उष्णिक् । ऋषभ: ।।

अथ देहान्तसमये किं कार्य्यमित्याह ।

अब देहान्त के समय क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ।।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥१५॥

पदार्थ:—**(वायु:)** धनञ्जयादिरूप: **(अनिलम्)** कारणरूपं वायुम् **(अमृतम्)** नाशरहितं कारणम् **(अथ) (इदम्) (भस्मान्तम्)** भस्म अन्ते यस्य तत् **(शरीरम्)** यच्छीर्य्यते=हिंस्यते तदाश्रयम् **(ओ३म्)** एतन्नाम-वाच्यमीश्वरम् **(क्रतो)** य: करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ **(स्मर)** पर्य्यालोचय **(क्लिबे)** स्वसामर्थ्याय **(स्मर) (कृतम्)** यदनुष्ठितं तत् **(स्मर)** ।।१५।।

अन्वयः—हे क्रतो ! त्वं शरीरत्यागसमये (ओ३म्) स्मर, क्लिबे परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर, कृतं स्मर । अत्रस्थो वायुरनिलमनिलोऽमृतं धरति । अथेदं शरीरं भस्मान्तं भवतीति विजानीत ।।१५।।

सपदार्थान्वयः—**हे क्रतो!** यः करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ! **त्वं शरीरत्यागसमये ओ३म्** एतन्नाम-वाच्यमीश्वरं **स्मर** पर्य्यालोचय; **क्लिबे** स्वसामर्थ्याय **परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर** पर्य्यालोचय; **कृतं** यदनुष्ठितं तत् **स्मर** पर्य्यालोचय।

भाषार्थ—हे (क्रतो) कर्म करने वाले जीव ! देहान्त के समय (ओ३म्) ओ३म्, यह जिसका निज नाम है उस ईश्वर को (स्मर) चारों तरफ देख; (क्लिबे) अपने सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए परमात्मा और अपने स्वरूप को (स्मर) याद कर; (कृतम्) और जो कुछ जीवन में किया है उसको (स्मर) स्मरण कर।

अत्रस्थो वायुः धनञ्जयादि-रूपः **अनिलम्** कारणरूपं वायुम् **अनिलोऽमृतं** नाशरहितं कारणं **धरति** ।

यहां विद्यमान (वायुः) धनञ्जयादि रूप वायु (अनिलम्) कारण रूप वायु को और अनिल (अमृतम्) नाशरहित कारण को धारण करता है ।

अथेदं शरीरं यच्छीर्य्यते= हिंस्यते तदाश्रयं **भस्मान्तं** भस्म अन्ते यस्य तत् **भवतीति विजानीत** ।।४०।१५।।

(अथ) और (इदम्) यह (शरीरम्) चेष्टादि का आश्रय, विनाशी शरीर (भस्मान्तम्) अन्त में भस्म होने वाला होता है, ऐसा जानो ।।४०।१५।।

भावार्थः— मनुष्यैर्यथा मृत्युसमये चित्तवृत्तिर्जायते, शरीरादात्मनः पृथग्भावश्च भवति; तथैवेदानीमपि विज्ञेयम् ।

भावार्थ—जैसे मृत्यु के समय चित्त की वृत्ति होती है; और शरीर से आत्मा का पृथक् भाव होता है; वैसी ही चित्त की वृत्ति तथा शरीर-आत्मा के सम्बन्ध को जीवनकाल में भी सब मनुष्य जानें।

एतच्छरीरस्य भस्मान्ता क्रिया कार्या; नाऽतो दहनात्परः कश्चित् संस्कारः कर्त्तव्यः ।

इस शरीर की भस्मान्त-क्रिया (अन्त्येष्टि) करनी चाहिए; इस दहन-क्रिया के पश्चात् कोई भी

	संस्कार नहीं करना चाहिए ।
वर्त्तमानसमय एकस्य परमेश्वरस्यैवाऽऽज्ञापालनमुपासनं; स्वसामर्थ्यवर्द्धनञ्चैव कार्यम् ।	जीवन काल में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन, उपासना तथा अपनी शक्ति की वृद्धि करनी चाहिए ।
कृतं कर्म विफलं न भवतीति मत्वा, धर्मे रुचिरधर्मेऽप्रीतिश्च कर्त्तव्या ।।४०।१५।।	किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं होता, ऐसा मानकर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रखनी चाहिए ।।४०।१५।।

***भा० पदार्थः*—**इदम्=एतत् । ओ३म्=एकः परमेश्वरः । स्मर= आज्ञापालनमुपासनञ्च कुरु । क्लिबे=स्वसामर्थ्यवर्द्धनाय । कृतम्=कृतं कर्म ।।४०।१५।।

***भाष्यसार*—देहान्त के समय क्या करें**—कर्म करने वाला जीव देहान्त अर्थात् शरीरत्याग के समय में 'ओ३म्' नाम का स्मरण करे। अपने सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए परमात्मा को और अपने स्वरूप को स्मरण करे । जो कुछ जीवन में किया है उसको स्मरण करे ।

इस शरीर में स्थित धनञ्जय आदि नामक वायु कारण रूप सूक्ष्म वायु के और सूक्ष्म वायु नाशरहित कारण (प्रकृति) के आश्रित है । शरीर से आत्मा का पृथक्भाव उक्त वायु के आश्रित है । शरीर से आत्मा के पृथग्भाव अर्थात् मृत्यु के समय में यहां जैसी चित्तवृत्ति बतलाई है; वैसी ही चित्तवृत्ति अब जीवन-काल में भी रखे ।

देहान्त के समय इस शरीर की भस्मान्त क्रिया (अन्त्येष्टि कर्म) करें । भस्मान्त क्रिया के उपरान्त इस शरीर का कोई संस्कार-कर्तव्य शेष नहीं रहता ।

जीवन-काल में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन, उसकी उपासना और अपने सामर्थ्य की वृद्धि करें । किया हुआ कर्म विफल नहीं होता, ऐसा समझ कर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रखें ।।१५।।

***अन्यत्र व्याख्यात*—**"भस्मान्तꣳशरीरम्" (य० ४०।१५)।। इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है (संस्कार-विधि, अन्त्येष्टिकर्म) ।।४०।१५।।

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के १७वें मन्त्र तथा यजुर्वेद के ४०।१५वें मन्त्र के उत्तरार्द्ध में निम्नलिखित पाठभेद है—

(वेद में) ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर ।।

(ईशावा०) ओ३म् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ।।

इस मन्त्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं–

(क) "ओ३म्" ऐसा कहकर यहां उपासना के अनुसार सत्यस्वरूप अग्नि संज्ञक ब्रह्म ही अभेदरूप से कहा गया है । क्योंकि 'ओम्' उसका प्रतीक है । हे क्रतो ! सङ्कल्पात्मक मन ! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है उसका स्मरण कर । अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः तू स्मरण कर ।"[1]

(ख) "और यह लिङ्ग शरीर उत्क्रमण करे ।"[2]

समीक्षा—यहां श्री शङ्कराचार्य जी ने 'ओम्' का अभिप्राय 'अग्नि' नामक ब्रह्म बतलाया है । क्या अग्नि नामक कोई विशेष ब्रह्म है, जिसको मृत्यु समय में स्मरण के लिए कहा गया है । अद्वैतवाद को मानने वालों को यह भ्रान्ति कैसे हो गई ? क्या 'अग्नि ब्रह्म' को मानकर 'अद्वैतब्रह्म' की सिद्धि सम्भव है, यदि मरते समय उनका अभिप्राय भौतिकाग्नि से है तो क्या मन्त्र में जडाग्नि को स्मरण करने के लिए कहा गया है ? और फिर अग्निब्रह्म की तरह वायु आदि महाभूत भी ब्रह्म हुए, उनको भी स्मरण करना चाहिए । अतः परब्रह्म से 'अग्नि' नामक ब्रह्म कोई भिन्न नहीं है । और न ही मन्त्र में ही 'अग्नि' का निर्देश किया है, फिर ऐसी व्याख्या मूल मन्त्र से विरुद्ध ही है ।

'ओम्' ब्रह्म का प्रतीक है, यह भी कथन सत्य नहीं । क्योंकि प्रतीक तो स्मृति-चिह्न होता है । 'ओम्' परब्रह्म का प्रतीक नहीं, अपितु उसका मुख्य निज नाम है । अतः जीवों के लिए इसी नाम का स्मरण करने का परमात्मा का उपदेश है ।

शाङ्कर-भाष्य में मन्त्र-पठित 'क्रतो' शब्द का 'सङ्कल्पात्मक मन' अर्थ किया है । मन स्मरण करने का साधन अन्तःकरण अवश्य है, किन्तु वह स्वयम् अचेतन होने से स्मरण नहीं कर सकता । स्मरण करने वाला क्रतु=जीवात्मा ही अर्थ यहां सङ्गत होता है । 'क्रतु=कर्म करने वाला' इस शब्दार्थ के अनुसार भी जीवात्मा ही अर्थ उचित है । श्री

---

१. "ओमिति यथोपासनम् । ओम् प्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते । हे क्रतो ! सङ्कल्पात्मक ! स्मर यन्मम स्मर्त्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर ।" (शा० भा०)

२. "लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामतु ।" (शा० भा०)

शङ्कराचार्य जी 'क्रतु' पद का जीवात्मा अर्थ कैसे करते ? उन्हें अपनी प्रतिज्ञा-हानि का भय दिखाई दे रहा था । किन्तु जब उन्होंने 'द्वा सुपर्णा सयुजा' इत्यादि स्थानों पर जीवात्मा को कर्म-फल भोक्ता माना है । कर्म करने वाला ही भोक्ता होता है तो यहां कर्म करने वाला 'मन' क्यों माना गया ? और स्वयम् उपनिषद् में अन्यत्र लिखा है-

आत्मानं रथिनं विद्धि......मनः प्रग्रहमेव च ।। (कठो० ३।३)

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।। (कठो० ३।४)

अर्थात् शरीररूपी रथ का जीवात्मा स्वामी है और मन इन्द्रियरूपी घोड़ों को वश में करने के लिए प्रग्रह=लगाम के समान है । और 'मनः' को अन्तःकरण तो सभी शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है । क्या साधन स्वयं विना कर्त्ता के कार्य कर सकता है ? क्या तलवार स्वयं ही किसी को दण्ड दे सकती है ? अतः 'क्रतु' का सङ्कल्पात्मक मन अर्थ मिथ्या कल्पित ही है । और कर्मों को ज्ञान का विरोधी मानने वाले 'कृतं=जीवन में किए कार्यों को कैसे स्मरण कर सकते हैं । परन्तु मन्त्र में तो कृत कार्यों को स्मरण करने का स्पष्ट उपदेश है, उसको कैसे पृथक् करके छोड़ा जा सकता है ?

मृत्यु के समय शरीर का तो भस्म (राख) ही अन्त हो जाता है और शाङ्कर भाष्य के अनुसार भी लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म-शरीर) दूसरे जन्म में उत्क्रमण करता है । यह लिङ्ग शरीर क्या जीवात्मा के विना ही उत्क्रमण करता है । ईशावास्यो० के मन्त्र ३ की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं-'त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।" अर्थात् इस शरीर को छोड़कर कर्म और ज्ञान के अनुसार शरीरान्तरों में चले जाते हैं । क्या यहां जीवात्मा से भिन्न का निर्देश है ? अतः यह लिङ्गदेह स्वयं जड़ होने से स्वयम् उत्क्रमण नहीं कर सकता । जीवात्मा ही लिङ्गदेह से आवेष्टित होकर जाता है । जीवात्मा को स्वीकार किए विना इन स्थलों की सङ्गति कदापि नहीं लग सकती । अतः शाङ्कर-भाष्य का 'क्रतु' शब्द का अर्थ सर्वथा ही परित्याज्य है ।

श्री उव्वट इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं-"इदानीं योगिन आलम्बनभूतमक्षरं कथ्यते-ओम् इति नाम वा प्रतिमा वा ब्रह्मणः ।" अर्थात् अब योगी के आलम्बन भूत अक्षर का कथन किया जाता है । 'ओम्' यह नाम योगी का आलम्बन है अथवा ब्रह्म की प्रतिमा योगी का आलम्बन है।

समीक्षा—इस मन्त्र में क्रतु=आत्मा के लिए 'ओ३म्' नाम-स्मरण

का उपदेश है । श्री उव्वट ने उसे केवल योगी के लिए ही सीमित कर दिया है, यह अनुचित है और योगी के लिए 'ओ३म्' नाम के साथ मन्त्र में अकथित 'ब्रह्म की प्रतिमा' का आलम्बन बताना कल्पना ही है । प्रथम तो यह बात मन्त्र में नहीं कही, और ब्रह्म की कोई प्रतिमा नहीं होती । वेद में ब्रह्म की प्रतिमा का स्पष्टरूप से निषेध किया है—"न तस्य प्रतिमाऽस्ति ।"

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः ।।

ईश्वरः काननुगृह्णातीत्याह ।।

ईश्वर किन मनुष्यों पर कृपा करता है, यह उपदेश किया है ।

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽ उक्तिं विधेम ।।१६।।

***पदार्थः—*(अग्ने)** स्वप्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर ! **(नय)** गमय **(सुपथा)** धर्म्येण मार्गेण **(राये)** विज्ञानाय, धनाय, वसुसुखाय **(अस्मान्)** जीवान् **(विश्वानि)** अखिलानि **(देव)** दिव्यस्वरूप **(वयुनानि)** प्रशस्यानि प्रज्ञानानि । वयुनमिति प्रशस्यनाम।। निघं० ३।८।। प्रज्ञानामसु निघं० ३।९।। **(विद्वान्)** यः सर्वं वेत्ति सः **(युयोधि)** पृथक्कुरु **(अस्मत्)** अस्माकं सकाशात् **(जुहुराणम्)** कौटिल्यम् **(एनः)** पापाचरणम् **(भूयिष्ठाम्)** बहुतमाम् **(ते)** तुभ्यम् **(नमउक्तिम्)** सत्कारपुरःसरां प्रशंसाम् **(विधेम)** परिचरेम ।।१६।।

***प्रमाणार्थ—*(वयुनानि)** प्रशस्यानि प्रज्ञानानि ! 'वयुन' यह पद निघण्टु (३।८) में प्रशस्य-नामों में पठित है—प्रशस्य=श्रेष्ठ । और 'वयुन' यही पद निघण्टु (३।९) में प्रज्ञा-नामों में भी पठित है । अतः यहां 'प्रशस्यानि प्रज्ञानानि' ऐसा अर्थ है ।।

अन्वयः—हे देवाग्ने परमेश्वर । यतो वयं ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम तस्माद्विद्वांस्त्वमस्मज्जुहुराणमेनो युयोध्यस्मान् राये सुपथा विश्वानि वयुनानि नय प्रापय ।।१६।।

***सपदार्थान्वयः—*हे देव** दिव्यस्वरूप **अग्ने=परमेश्वर** स्वप्रकाशस्वरूप करुणामय जग-

भाषार्थ— हे (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) स्वप्रकाश-स्वरूप करुणामय जगदीश्वर ! जिससे

दीश्वर ! **यतो वयं ते** तुभ्यं **भूयिष्ठां** बहुतमां **नमउक्तिं** सत्कारपुरःसरां प्रशंसां **विधेम** परिचरेम; **तस्माद्विद्वान्** यः सर्वं वेत्ति सः **त्वमस्मत्** अस्माकं सकाशात् **जुहुराणं** कौटिल्यम् **एनः** पापाचरणं **युयोधि** पृथक् कुरु । **अस्मान्** जीवान् **राये** विज्ञानाय, धनाय, वसुसुखाय **सुपथा** धर्म्येण मार्गेण **विश्वानि** अखिलानि **वयुनानि** प्रशस्यानि प्रज्ञानानि **नय**=**प्रापय** गमय ।।४०।१६।।

हम (ते) तेरे लिए (भूयिष्ठाम्) बहुत अधिक (नम उक्तिम्) सत्कारपूर्वक प्रशंसा (विधेम) करते हैं; इससे (विद्वान्) सर्वज्ञ तू (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलता और (एनः) पापाचरण को (युयोधि) दूर कर । (अस्मान्) हम जीवों को (राये) विज्ञान, धन और धन से प्राप्त होने वाले सुख की प्राप्ति के लिए (सुपथा) धर्म-पथ से (विश्वानि) सब (वयुनानि) श्रेष्ठ ज्ञान एवं श्रेष्ठ बुद्धि को (नय) प्राप्त करा ।।४०।१६।।

भावार्थः—ये सत्यभावेन परमेश्वरमुपासते, तदाज्ञां पालयन्ति; सर्वोपरि सत्कर्त्तव्यं परमात्मानं मन्यन्ते तान् दयालुरीश्वरः पापाचरण-मार्गात्पृथक्कृत्य, धर्म्यमार्गे चाल-यित्वा, विज्ञानं दत्त्वा, धर्मार्थकाम-मोक्षान् साद्धुं समर्थान् करोति । तस्मात् सर्वम् एकमद्वितीयमीश्वरं विहाय कस्याप्युपासनं कदाचिन्नैव कुर्य्युः।।४०।१६।।

भावार्थ—जो सच्ची भावना से परमात्मा की उपासना करते हैं; उसकी आज्ञा का पालन करते हैं तथा सब से अधिक सत्कार करने योग्य परमात्मा को मानते हैं; उनको दयालु ईश्वर पापाचरण के मार्ग से हटाकर; धर्म-मार्ग में चलाकर, उन्हें विज्ञान देकर, धर्म-अर्थ, काम-मोक्ष की सिद्धि के लिए समर्थ बना देता है । इसलिए सब मनुष्य एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़कर किसी की भी उपासना न करें ।।४०।१६।।

भा० पदार्थः—नम उक्तिम्=सत्यभावेन परमेश्वरोपासनं तदाज्ञा-पालनञ्च । विद्वान्=दयालुरीश्वरः । एनः=पापाचरणमार्गम् । युयोधि=पृथक्कुरु । सुपथा=धर्म्यमार्गेण । वयुनानि=विज्ञानानि, धमार्थकाममोक्षान् । नय=साद्धुं समर्थान् कुरु ।।४०।१६।।

भाष्यसार—**ईश्वर किन मनुष्यों पर कृपा करता है**—जो मनुष्य दिव्यस्वरूप, स्वप्रकाश-स्वरूप, करुणामय जगदीश्वर की बहुत

अधिक सत्कारपूर्वक प्रशंसा करते हैं अर्थात् सच्ची भावना से परमेश्वर की उपासना और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, सब से ऊपर सत्कार के योग्य परमात्मा को ही मानते हैं; उन पर विद्वान्, दयालु परमेश्वर बड़ी कृपा करता है । कुटिलता और पापाचरण के मार्ग से पृथक् करता है। धर्मयुक्त मार्ग में चलाकर उन्हें विज्ञान, धन और धन से प्राप्त होने वाले सुख प्रदान करता है । उन्हें श्रेष्ठ प्रज्ञान एवं श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त कराता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए उन्हें समर्थ बनाता है । अतः सब मनुष्य एक, अद्वितीय ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य की उपासना कभी न करें ।।४०।१६।।

अन्यत्र व्याख्यात—(क)–"अग्ने नय सुपथा०" (य० ४०।१६।।) हे सुख के दाता ! स्वप्रकाशस्वरूप ! सब को जानने हारे परमात्मन् ! आप हम को श्रेष्ठ मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये; और जो हम में कुटिल पापाचरण रूप मार्ग है उससे पृथक् कीजिए । इसीलिए हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत सी स्तुति करते हैं; कि आप हम को पवित्र करें । (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास)

(ख)–हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करने हारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर ! आप जिससे (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्या युक्त हैं; कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिए । इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नम उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें। (संस्कारविधि, ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना)

(ग)–हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप सब दुःखों के दाहक (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग–विज्ञान रूप धन की प्राप्ति के लिए (सुपथा) वेदोक्त धर्म-मार्ग से (अस्मान्) हम को (विश्वानि सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिये: और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपात सहित (एनः) अपराध पापकर्म को (युयोधि) दूर रखिये और

इस अधर्माचरण से हम को सदा दूर रखिए, इसीलिए (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नम उक्तिम्) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें ।।४०।१६।। (संस्कारविधि-संन्यासाश्रमप्रकरण)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के १८वें (यजुर्वेद के ४०।१६वें) मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"हे अग्ने ! मुझे सुपथ=सुन्दर मार्ग से ले चल । यहां 'सुपथा' यह विशेषण दक्षिण मार्ग की निवृत्ति के लिए है । मैं आवागमनरूप दक्षिणमार्ग से ऊब गया हूं, अतः तुझ से प्रार्थना करता हूं कि यथोक्त कर्मफल विशिष्ट हम लोगों को हमारे सम्पूर्ण कर्म अथवा प्रज्ञानों को जानने वाले हे देव ! तू राये=धन के लिए, कर्मफल भोग के निमित्त पुनः-पुनः आने जाने से रहित शुभ मार्ग से ले चल । तथा तू हम से कुटिल अर्थात् वञ्चनात्मक पापों को वियुक्त कर दे । अतः हम तेरे लिए बहुत सी नमः-उक्ति=नमस्कार वचन-विधान करते हैं ।"[1]

श्री शङ्कराचार्य जी ने लिखा है—"पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु" (ईशावास्यमिदं० मन्त्रे) अर्थात् पुत्रादि तीनों एषणाओं से रहित मनुष्य का आत्मज्ञान में अधिकार है, अग्निहोत्रादि कर्मों में अधिकार नहीं। और "निवृत्तलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम्।" (ईशावा० १५वें मन्त्रभाष्य में) अर्थात् इसके बाद निवृत्ति लक्षण वेदार्थ को अभिव्यक्त करने में इससे आगे बृहदारण्यक का उपयोग किया जाता है । इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन मन्त्रों में शङ्कराचार्य जी के मत में ज्ञानचर्चा ही होनी चाहिए । किन्तु प्रार्थना की जा रही है—राये= धन के लिए अथवा कर्मफल भोग के लिए तथा कुटिल पापाचरण को दूर करने के लिए । क्या इन में परस्पर विरोध होने से शाङ्कर-भाष्य की बात सत्य हो सकती है ? और कर्म-फल भोग की प्रार्थना से ज्ञान व

---

१. "हे अग्ने ! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण । सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम् । निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय । राये धनाय कर्मफलभोगायेत्यर्थः । अस्मान् यथोक्तधर्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान्=जानन् । किञ्च युयोधि= वियोजय विनाशय अस्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम् । भूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम=नमस्कारेण परिचरेम ।।"

कर्म में क्या विरोध हुआ ? यदि विरोध है तो यहां कर्म-फल भोग की प्रार्थना क्यों की जा रही है ।

और जब परब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की कोई सत्ता ही नहीं है तब प्रार्थना कौन किससे कर रहा है ? कुटिल पापाचरण से मुक्ति की कौन इच्छा कर रहा है ? आवागमनरूप दक्षिणमार्ग से विरक्ति किसे हो रही है ? कर्मों का फल कौन भोगेगा ? परब्रह्म को बार-बार नमस्कार वचन कौन बोल रहा है ? परब्रह्म किस के कर्मों व प्रज्ञानों को जानता है ? इत्यादि प्रश्नों का अद्वैतवादियों के पास क्या कोई उत्तर है ? अतः स्पष्ट है कि कर्मफल का भोक्ता पापाचरण कर्मों से युक्त, आवागमन के चक्र से दुःखी और अग्नि=परब्रह्म से प्रार्थना करने वाला जीवात्मा अवश्य ही परब्रह्म से भिन्न है ।

और शाङ्कर-भाष्य में मन्त्र-पठित 'सुपथा' को 'अदक्षिण-मार्ग' का विशेषण माना है । विशेषण के साथ विशेष्य का होना अत्यन्त आवश्यक है, ऐसा कभी नहीं होता कि विशेषण पद तो हो और विशेष्य पद का नाम भी न हो । मन्त्र में ऐसा कोई पद नहीं है, जिसका 'सुपथा' विशेषण हो । अतः 'सुपथा' पद को विशेषण मानना अशुद्ध व्याख्या है।

आत्मज्ञानी संन्यासी के लिए अग्निहोत्रादि कर्मों का अधिकार न बताना भी वेदशास्त्रविरुद्ध निर्देश है । वेद तथा ईशावास्योपनिषत् के दूसरे मन्त्र में जीवन भर कर्म करने का उपदेश दिया गया है और अद्वैतवादी इन तीन ग्रन्थों को प्रस्थानत्रयी कहते हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता । गीता में अग्निहोत्रादि कर्मों को करने के लिए संन्यासी को स्पष्ट निर्देश दिया है, त्याग का नहीं । देखिए—

(क) **सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥** गीता १८।२॥

अर्थात् सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं, कर्मों को नहीं ।

(ख) **यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।**
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ गीता १८।५॥

अर्थात् संन्यासियों को यज्ञ, दान तथा तप इन कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिए, करना ही चाहिए । क्योंकि ये तीनों कर्म मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं ।

(ग) **एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।**
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ गीता १८।६

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥ गीता १८।७॥

अर्थात् हे अर्जुन ! संन्यासियों को यज्ञ, दान तथा तप सम्बन्धी कर्मों को आसक्ति तथा फलेच्छा को छोड़कर करना चाहिए, यह मेरा निश्चित मत है । नियत कर्मों का परित्याग तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है । और मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मनिष्ठ संन्यासियों के लिए कर्म की प्रधानता बताते हुए लिखा है—

क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ (मुण्डक० ३।१।४)

अर्थात् जो ब्रह्मज्ञानियों में यज्ञादि शुभ-कर्म भी करता है, वह सब से श्रेष्ठ है । इस मन्त्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—"न हि बाह्यक्रियावान् आत्मक्रीड आत्मरतिश्च भवितुं शक्तः ।'''''बाह्यक्रियात्म-क्रीडयोर्विरोधात् । नहि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्र स्थितिः सम्भवति ।"

अर्थात् बाह्य अग्निहोत्रादि क्रिया करने वाला आत्मरत नहीं हो सकता । क्योंकि बाह्यक्रिया तथा आत्मरति में वैसा ही विरोध है, जैसा कि अन्धकार व प्रकाश में है ।

समीक्षा—यह शाङ्करभाष्य की व्याख्या स्वयं कल्पित है । मन्त्र में ऐसा कोई वर्णन नहीं है । और अग्निहोत्रादि दैनिक कर्त्तव्य मनुष्यमात्र के लिए हैं । उनमें किसी के लिए भी छूट नहीं है । इन यज्ञादि शुभ कर्मों के करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण से परमात्मा की उपासना सम्भव है । अतः इनमें परस्पर अनुसहायीभाव है, किसी प्रकार का विरोध नहीं है । जो इनमें विरोध समझते हैं, वे स्वयं भ्रान्ति में पड़े हुए हैं ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ।

अथान्ते मनुष्यानीश्वर उपदिशति ॥

अब अन्त में मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

पदार्थः—**(हिरणमयेन)** ज्योतिर्मयेन **(पात्रेण)** रक्षकेण **(सत्यस्य)** अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य **(अपिहितम्)** आच्छादितम् **(मुखम्)** मुखवदुत्तमाङ्गम् **(यः) (असौ) (आदित्ये)** प्राणे सूर्यमण्डले वा

(पुरुषः) पूर्णः परमात्मा **(सः) (असौ) अहम्) (ओ३म्)** योऽवति सकलं जगत्तदाख्यं **(खम्)** आकाशवद्व्यापकम् **(ब्रह्म)** सर्वेभ्यो गुणकर्मस्वरूपतो बृहत् ॥१७॥

अन्वयः—हे मनुष्या येन हिरण्मयेन पात्रेण मया सत्यस्यापिहितं मुखं विकाश्यते, योऽसावादित्ये पुरुषोऽस्ति सोऽसावहं खम्ब्रह्मास्म्यो३मिति विजानीत ॥१७॥

सपदार्थान्वयः— **हे मनुष्याः ! येन हिरण्मयेन** ज्योतिर्मयेन **पात्रेण** रक्षकेण **मया सत्यस्य** अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य **अपिहितम्** आच्छादितं **मुखं** मुखवदुत्तमाङ्गं **विकाश्यते; योऽसावादित्ये** प्राणे सूर्यमण्डले वा **पुरुषः** पूर्णः परमात्मा **अस्ति, सोऽसावहं खम्** आकाशवद्व्यापकं **ब्रह्म** सर्वेभ्यो गुणकर्मस्वरूपतो बृहत् **अस्म्यो३म्** योऽवति सकलं जगत्तदाख्यम् **इति विजानीत** ॥४०।१७॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जिस (हिरण्मयेन) ज्योति से परिपूर्ण (पात्रेण) सब के रक्षक मेरे द्वारा (सत्यस्य) कभी नष्ट न होने वाले सत्रूप कारण [प्रकृति] का (अपिहितम्) ढके हुए (मुखम्) मुख के समान उत्तम अङ्ग का विकास किया जाता है; (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) प्राण व सूर्यमण्डल में (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा है (सः) वह (असौ) परोक्ष (अहम्) मैं—(खम्) आकाश के समान व्यापक, (ब्रह्म) गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से सब से बड़ा हूं, (ओ३म्) मैं सब जगत् का रक्षक 'ओ३म् हूं; ऐसा जानो॥४०।१७

भावार्थ—सर्वान् मनुष्यान् प्रतीश्वर उपदिशति—हे मनुष्याः ! योऽहमत्राऽस्मि, स एवाऽन्यत्र सूर्यादौ, योऽन्यत्र सूर्यादावस्मि स एवात्रास्मि; सर्वत्र परिपूर्णः, खवद् व्यापको न मत्तः किञ्चिदन्यद् बृहद्, अहमेव सर्वेभ्यो महानस्मि ।

भावार्थ—सब मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है । हे मनुष्यो ! जो मैं यहां हूं, वही अन्यत्र सूर्य आदि में हूं और जो अन्यत्र सूर्यादि में हूं वही यहां हूं । मैं सर्वत्र परिपूर्ण, आकाश के समान व्यापक हूं; मुझ से कोई भी दूसरा बड़ा नहीं है, मैं ही सब से महान्=बड़ा हूं ।

मदीयं सुलक्षणपुत्रवत्प्राणप्रियं निजस्य नाम ओमिति वर्त्तते ।

सुलक्षण पुत्र के तुल्य प्राणों से प्रिय मेरा अपना नाम 'ओम्' है।

यो मम प्रेमसत्याचरणभावाभ्यां शरणं गच्छति; तस्याऽन्तर्यामि-रूपेणाऽहमविद्यां विनाश्य, तदात्मानं प्रकाश्य, शुभगुणकर्मस्वभावं कृत्वा, सत्यस्वरूपाऽऽचरणं स्थापयित्वा, शुद्धं योगजं विज्ञानं दत्त्वा, सर्वेभ्यो दुःखेभ्यः पृथक्कृत्य मोक्षसुखं प्रापया-मीत्योम् ।।४०।१७।।

जो मेरी प्रीति और सत्याचरण के भावों से शरण=भक्ति को प्राप्त करता है, तो मैं उसकी अन्तर्यामी रूप से अविद्या को विनष्ट करके, उसकी आत्मा को प्रकाशित कर, उसके शुभ गुण, कर्म, स्वभाव बनाकर, सत्य के स्वरूप का आचरण स्थापित कर, योग से उत्पन्न हुए शुद्ध विज्ञान को देकर, सब दुःखों से छुड़ाकर, मोक्ष-सुख को प्रदान करता हूं । यजुर्वेद भाष्य की समाप्ति पर अन्त में 'ओ३म्' नाम का स्मरण किया है ।।

भा० पदार्थः—आदित्ये=सूर्यादौ । पुरुषः=अहमीश्वरः । खम्=सर्वत्र परिपूर्णः सर्वव्यापकः । ब्रह्म=सर्वेभ्यो महान् । ओ३म्=सुलक्षणपुत्रवत्प्राणप्रियं नाम । सत्यस्य=सत्यस्वरूपस्य ।।

भाष्यसार—**अन्त में मनुष्यों को ईश्वर का उपदेश—**मैं ज्योतिर्मय, रक्षक ईश्वर—सत्य अर्थात् अविनाशी, यथार्थ, कारण (प्रकृति) के आच्छादित मुख को खोलता हूं । जो मैं यहां हूं, सो ही सूर्यादि में हूं और जो अन्यत्र सूर्यादि में हूं, सो ही यहां हूं । मैं सर्वत्र परिपूर्ण, आकाश के तुल्य व्यापक हूं । मुझ से कोई और बड़ा नहीं है । मैं ही गुण, कर्म, स्वभाव से सब से बड़ा हूं । जैसे उत्तम लक्षणों से युक्त पुत्र प्राणों के तुल्य प्रिय होता है वैसे सब से प्यारा निज नाम 'ओ३म्' है । प्रेमभाव और सत्याचरण से जो मेरी शरण में आता है मैं अन्तर्यामी रूप से उसकी अविद्या का विनाश करता हूं । उसकी आत्मा को प्रकाशित करता हूं । उसके शुभ गुण, कर्म, स्वभाव बनाता हूं । उसमें सत्यस्वरूप आचरण को स्थापित करता हूं । शुद्ध योगज विज्ञान का दान करता हूं । सब दुःखों से पृथक् करके मोक्ष-सुख प्राप्त कराता हूं । इति ओ३म् ।।४०।१७।।

अन्यत्र व्याख्यात—(क) "ओ३म् खम्ब्रह्म" ।।१।। (यजु०

४०।१७) ।। देखिये वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम हैं । (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास)

(ख) 'ओ३म् खं ब्रह्म (यजु० अ० ४०) ।। ओमिति ब्रह्म । तैत्तिरीयारण्यके । प्र० २ । अनु० ८।। ओम् और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं । (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार)

समीक्षा—उपर्युक्त व्याख्या यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के १७वें मन्त्र की है । ईशावास्योपनिषद् में इस मन्त्र के स्थान पर निम्न दो मन्त्रों का पाठ है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१।।
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह,
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
यो ऽ सावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।२।।

वेद और उपनिषद् के मन्त्रों में पाठभेद होते हुए भी अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है । इन मन्त्रों में परमात्मा के कल्याणादि गुणों का वर्णन करके यह बताया गया है कि जो परमात्मा कल्याणकारक गुणों वाला पुरुष है, उसके गुणों को धारण करके मैं वैसा पुरुष होऊं । यहां तद्धर्मतापत्ति द्वारा उस परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुणों को प्राप्त करके परमात्मा के सदृश होने का वर्णन है । उपनिषद् में जो व्याख्यारूप अधिक मन्त्र है, उसमें भी इसी बात को और स्पष्ट करके कहा है—"यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि" अर्थात् योगी परब्रह्म के अत्यधिक सान्निध्य में होकर उसके कल्याणकारक गुणों का साक्षात्कार (अनुभव) करने लगता है । इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि जीव ब्रह्म हो जाता है । महर्षि व्यास ने इस तथ्य को समझाते हुए स्पष्ट लिखा है—"शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" ।। ब्र० सू० १।१।३० अर्थात् परब्रह्म के गुणों का लाभ करके ही वामदेवादि ऋषियों ने अपने को ब्रह्मरूप कथन किया है ।

इस मन्त्र के 'सोऽहमस्मि' वाक्य को लेकर ही अद्वैतवाद का भवन खड़ा किया गया है । किन्तु इससे उनके अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती। यह परमयोगी की उच्चतम स्थिति में परब्रह्म के गुणों को धारण करने तथा सांसारिक पदार्थों से विरक्ति में ऐसा कहा गया है । जैसे लोक में भी अपेक्षाकृत सादृश्य देखकर अतद्वस्तु में तद्वस्तु का नाम कहने

में आता है । यथार्थ में वे दोनों भिन्न-भिन्न ही होती हैं । यदि अद्वैतवाद का लेशमात्र भी भाव 'जीव-ब्रह्म की एकता' का यहां होता तो 'अग्ने नय सुपथा०' इस अगले मन्त्र में सन्मार्ग पर चलाने, पाप से निवृत्त होने तथा बार-बार नमस्कार-वचन कहने की क्या आवश्यकता थी ? और जीव-ब्रह्म की एकता होने पर कौन किससे प्रार्थना करेगा ?

और 'सोऽसावहम्' अथवा 'सोऽहमस्मि' ये वाक्य मन्त्र में वर्णित विषय से ही सम्बद्ध हैं, पृथक् नहीं हैं । मन्त्र में परमात्मा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"जो परमात्मा प्राण या सूर्यमण्डल में पुरुष (पुरि शयनात्) पूर्ण है, और जो खम्=आकाश के समान व्यापक, ब्रह्म=गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से सब से बड़ा है और ओ३म्=सब जगत् का रक्षक होने से 'ओ३म्' जिसका निज नाम है, वह असौ=परोक्ष मैं अर्थात् परब्रह्म हूं ।" यहां जीव ब्रह्म की एकता की कोई बात नहीं है । और मन्त्र के पूर्वार्द्ध में भी परब्रह्म का ही वर्णन है—"हिरण्मय=ज्योति से परिपूर्ण पात्र=सब के रक्षक परब्रह्म के द्वारा सत्यस्य मुखम्=सत्रूप कारण (प्रकृति) का मुख के सदृश मुख्य परम सूक्ष्म तत्त्वों को आच्छादित कर रक्खा है ।" अतः मायावादी अद्वैतवाद की सिद्धि इस मन्त्र से कदापि नहीं होती । प्रकरण से विरुद्ध अर्थ मूल मन्त्र से विरुद्ध ही कहलायेगा ।

श्री शङ्कराचार्य जी इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—"जो सोने का सा हो, उसे 'हिरण्मय'[१] कहते हैं अर्थात् जो ज्योतिर्मय है, उस ढकने रूप पात्र से ही आदित्यमण्डल में स्थित सत्य=ब्रह्म का मुख-द्वार छिपा हुआ है ।"

यहां शाङ्कर-भाष्य में 'सत्य' पद का अर्थ किया है आदित्यमण्डल में स्थित ब्रह्म और उसका मुख (द्वार) ज्योतिर्मय आच्छादन (पात्र) से ढका बताया है । जो ब्रह्म 'स पर्यगात्०' मन्त्र में सर्वत्र व्यापक अकायम्=शरीररहित तथा 'अव्रणम्'=छिद्र- रहित बताया है, उसी ब्रह्म को आदित्य मण्डलस्थ बतलाना, उसका मुख बताना तथा ज्योतिर्मय ढकने से ढका हुआ कहना क्या ब्रह्म की व्यापकता को सिद्ध कर

---

(१) "हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत् । तेन पात्रेणैव अपिधानभूतेन सत्यस्यैवादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितम् आच्छादितं मुखं द्वारम् ।" (शा० भा०)

सकता है ? और ज्योतिर्मय ढक्कन क्या वस्तु है ? इसका स्पष्टीकरण शाङ्कर-भाष्य में कुछ भी नहीं किया । 'ईशावास्य०' मन्त्र में जगत् के सभी चराचर पदार्थ ईश=परब्रह्म से व्यापक होने से आच्छादित बताए हैं, और यहां उसी ब्रह्म को हिरण्मय पात्र से ढका बताना क्या परस्पर विरुद्ध नहीं है ? क्या ऐसी परस्पर विरोधी व्याख्या सत्य हो सकती है ?

वास्तव में 'पात्र' 'सत्य' आदि पदों की व्याख्या शाङ्कर-भाष्य से बिल्कुल स्पष्ट नहीं होती । इनके यौगिकार्थ तथा निरुक्तादि में वर्णित अर्थों पर यदि ध्यान दिया जाता तो सत्यार्थ स्पष्ट हो सकता था । 'पात्र' का अर्थ ढक्कन केवल लौकिकार्थ की दृष्टि से ही कर दिया है । और इस पद के अस्पष्ट होने से समस्त अर्थ ही स्पष्ट न हो सका । और मन्त्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या भी शाङ्कर-भाष्य में बिल्कुल असङ्गत की है—

"योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात् पूर्णं वानेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि।"

अर्थात् जो यह आदित्य मण्डलस्थ तथा व्याहृतिरूप अङ्गों वाला पुरुष है, और जो पुरुषाकार होने से अथवा जो प्राण-बुद्धिरूप से समस्त जगत् को पूर्ण किए हुए है, जो शरीररूप पुर में शयन करने के कारण पुरुष है, वह मैं ही हूं ।

यहां सब जगत् में पूर्ण परब्रह्म, आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म और शरीरस्थ पुरुष क्या एक ही हैं, अथवा भिन्न-भिन्न ? यदि यह कथन परब्रह्मपरक ही होता, क्योंकि वह व्यापक होने से सब वस्तुओं में विद्यमान है, तब तो कुछ ठीक होता किन्तु आदित्यमण्डलस्थ आदि कहकर उसके व्यापकत्व में सन्देह ही पैदा नहीं किया, प्रत्युत शरीरस्थ और प्राण-बुद्धि आदि जिसके अधीन हैं, ये एकदेशी जीवात्मापरक बातें परब्रह्म में कदापि सङ्गत नहीं हो सकतीं । 'पुरुष' शब्द का अर्थ संसाररूप पुर=नगर में शयन=स्थित होने से परमात्मा और इस शरीररूप पुर=नगर में शयन करने से जीवात्मा भी पुरुष है । दोनों में व्यापक-व्याप्य, सेवक-सेव्य, उपासक-उपासनीयादि सम्बन्ध तो कहे जा सकते हैं, किन्तु दोनों को एक कहना मूलमन्त्रार्थ से विरुद्ध तथा मिथ्या कल्पना ही है । और शरीरस्थ प्राण व बुद्धि आदि यदि परब्रह्म के अधीन हैं तो पाप-पुण्यादि का कर्त्ता भी ब्रह्म ही होगा और फिर भोक्तृभाव से भी कैसे बच सकता है ? क्या परब्रह्म स्वयं किए हुए कर्मों का फल स्वयं

को ही देता है । अतः शरीरस्थ प्राण व बुद्धि आदि जीवात्मा के अधीन हैं, ब्रह्म के नहीं । इन मिथ्यावादी नवीन वेदान्तियों ने परब्रह्म को भी अपने समान मायाजाल में फंसाने तथा पाप-पुण्य का कर्त्ता बनाकर स्वयं को निष्क्रिय बना लिया है । और स्वयं को परब्रह्म बताकर तथा कर्त्तव्य-विमुख होकर स्वयं को पापों से ग्रस्त करते रहते हैं, और सांसारिक लोगों का कोई उपकार न करके उनके ऊपर व्यर्थ में भार बने रहते हैं । ऐसी अवैदिक मान्यताओं को मानकर वेद-विरुद्ध शिक्षाओं के प्रचार से जो आत्मघात का महान् पाप ये करते हैं, इससे क्या वे कभी मुक्त हो सकते हैं ? ईश्वरीय व्यवस्था तथा अटल नियमों के बन्धन से कोई भी प्राणी बच नहीं सकता, चाहे कोई अपने को कितना ही शाङ्करमत का अनुयायी मानकर ब्रह्म मानता रहे, किन्तु सर्वत्र व्यापक कल्याणकारी शङ्कर की त्रिशूलसम कठोर न्याय-व्यवस्था को कौन भङ्ग कर सकता है ? चाहे साधु हो, अथवा अन्य आश्रमवासी हो, ब्रह्मचारी हो या गृहस्थी, बालक हो या वृद्ध, अज्ञानी हो या ज्ञानी, प्रत्येक को अपने किए कर्मों का फल स्वयम् अवश्य ही भोगना पड़ता है संस्कृत में ठीक ही कहा है–

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।।

यहां श्री शङ्कराचार्य से भिन्न दूसरे भी सभी भाष्यकार 'पात्र' शब्द को देखकर अधिक भ्रान्त हुए हैं । 'पात्र' शब्द का 'ढक्कन' अर्थ करने पर मन्त्र के पूर्वार्द्ध के साथ उत्तरार्द्ध की कोई सङ्गति ठीक नहीं लगती। महर्षि दयानन्द ने 'पात्र' शब्द का व्याकरण के उणादिकोष के (४।१५९) सूत्रानुसार यौगिकार्थ करके मन्त्र के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध की बहुत ही अच्छी सङ्गति लगाई है । पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध के अर्थों में यदि कोई सङ्गति नहीं है तो वह अर्थ प्रकरणविरुद्ध होने से दोषपूर्ण ही कहलायेगा।

यह यजुर्वेद-चालीसवां अध्याय
महर्षि दयानन्दकृत-भाष्य सव्याख्या समाप्त ।।

प्राक्कथन (केनोपनिषद्)

यह उपनिषद् सामवेद के ब्राह्मण का भाग होने से सामवेदीय है। सामवेद की 'तवल्कार' शाखा के अन्तर्गत होने से इसे 'तवल्कारोपनिषद्' कहा जाता है । इस शाखा में प्रथम आठ अध्यायों में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन किया गया है, और नवमाध्याय में ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, जो 'तवल्कारोपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है । इस शाखा के 'तवल्कार' नाम का कारण यह प्रतीत होता है कि जिस ऋषि ने सामगान के समय में हस्तचालन द्वारा सामवेद के उदात्तादि स्वरों का बोध कराया, और उस ऋषि के नाम से शाखा का नाम 'तवल्कार' प्रसिद्ध हुआ । यथार्थ में इन शाखाओं के लुप्त हो जाने के कारण कुछ भी निर्देश करना कठिन है । और इस उपनिषत् का प्रारम्भ 'केन' इस तृतीयान्त पद से प्रारम्भ होने के कारण इसका नाम 'केनोपनिषद् अधिक प्रसिद्ध है ।

इस उपनिषत् का प्रतिपाद्यविषय अवाङ्मनसगोचर एकमात्र ब्रह्म है । उपनिषत् के अन्त में विषय की समाप्ति पर लिखा है—"ब्राह्मी वाव ते उपनिषदमब्रूमेति ।" अर्थात् हम ने इसमें ब्रह्मविद्या का प्रवचन किया है । इसमें 'केन, कः, किम्' इत्यादि प्रश्नों के द्वारा ब्रह्मविषय में जिज्ञासा उत्पन्न करके ब्रह्म का विवेचन किया गया है । जिज्ञासा विना प्रश्न के उत्पन्न नहीं होती । जिज्ञासा के लिए प्रश्न का होना अनिवार्य है । वेद में भी प्रश्नोत्तर शैली से अनेक स्थलों पर ज्ञेय विषय पर प्रकाश डाला गया है । जैसे—

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥ (ऋ० १०।१२९।६)

किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ (ऋ० १०।१२९।१)

इसी प्रश्नोत्तर शैली से इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन किया गया है । जीवों को उस ब्रह्म की एकमात्र उपासना करनी चाहिए, जिसके आश्रय से श्रोत्रादि इन्द्रियों में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है । ब्रह्म के स्थान पर जो दूसरे जड़ देवताओं की आजकल उपासना की जा रही है, उसका इस उपनिषद् में बार-बार 'नेदं यदिदम् उपासते' कहकर स्पष्ट रूप से खण्डन किया गया है । और यह

भी निर्देश किया गया है कि–

'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (केनो० २।४)

इस ब्रह्मविद्या से ही अमृतम्=मृत्यु आदि रहित मोक्ष प्राप्त होता है। और यदि हमने इस विद्या की उपेक्षा की तो उपनिषत्कार ने सावधान करते हुए लिखा है–

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥
(केनो० २।५)

अर्थात् मनुष्य-जन्म में ब्रह्म की उपासना से ब्रह्म को जान लिया, तो मनुष्य जन्म की सफलता है, अन्यथा दुःख-बन्धन तथा विभिन्न योनियों में आवागमन के कारण सुखों की प्राप्ति दुर्लभ है । और जो–इस ब्रह्मविद्या को जान लेता है, उसका फल बताते हुए उपनिषत्कार स्वयं लिखते हैं–

यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानम्, अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति ॥ (केनो० ४।९)

अर्थात् जो इस ब्रह्मविद्या को जानकर सम्यक् उपासना करते हैं, वे पापकर्मों से पृथक् होकर चिरकाल तक स्वर्ग=मोक्ष में स्थिर होते हैं। इसलिए–'तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमुपासितव्यम् ॥' (केन० ४।६) वह ब्रह्म ही वननीय=सम्भजनीय तथा उपासनीय है ।

ब्रह्म-विद्या प्राप्ति के साधन–

गुरु ने शिष्य की ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा का उत्तर देकर ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के साधनों का भी निर्देश किया है–

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥
(केन० ४।८)

ब्रह्म-विद्या प्राप्ति के निम्न साधन हैं–

(१) **तपः**=शीतोष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभ, स्तुति-निन्दा, मान-अपमानादि द्वन्द्वों की सहनशीलता अथवा समदृष्टि रखना ।

(२) **दमः**=इन्द्रियों को वश में रखना ।

(३) **कर्म**=वेदोक्त अग्निहोत्रादि श्रेष्ठ कर्मों का करना । इन तीन साधनों से लोक में प्रतिष्ठा होती है और चञ्चलतादि दोषों के दूर होने पर प्रतिष्ठा=निश्चल स्थिति है ।

(४) **वेदाः सर्वाङ्गानि**=छः अङ्गों के सहित वेदों के पठन-पाठन से अविद्या का नाश करना और यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ।

(५) **सत्यम्**=मन, वचन व कर्म से सत्य का अनुष्ठान करना । क्योंकि यह ब्रह्म-ज्ञान के सभी साधनों का आयतन=आधार है । सत्य के विषय में कहा गया है—

अश्वमेधसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्त्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते ॥

अर्थात् हजारों अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान से जो फल प्राप्त होता है, उससे भी अधिक सत्याचरण का फल होता है ।

इस प्रकार इस उपनिषत् का मानव-जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

स्थानम्—
भूपेन्द्रपुरी (मोदीनगरम्)
भाद्रपदशुक्ला नवमी,
संवत् २०३५ वि०,
११ सितम्बर, १९७८ ई०

विनीत
राजवीर शास्त्री
(सम्पादक—दयानन्दसन्देश)

अथ केनोपनिषद्-भाष्यम्

तत्र प्रथमः खण्डः

(महर्षिदयानन्द-स्वामिशङ्कराचार्ययोः तुलनात्मकसमीक्षया संवलितम्)

शरीरादि अखिल सङ्घातों के रचयिता तथा आद्यप्रेरक ब्रह्म के विषय में शिष्य गुरु से जिज्ञासा करता है–

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१।१॥

***पदार्थ*—**(केन) किससे (प्रेषितम्) प्रेरित (मनः) मन (इषितम्) अभीष्ट विषय को (पतति) प्राप्त होता है और (केन) किससे (प्रथमः) सब इन्द्रियों से प्रथम (युक्तः) अपने कर्म में नियत हुआ (प्राणः) प्राण-वायु (प्रैति) अपना व्यापार करता है और (केन) किससे (इषिताम्) प्रेरित (इमाम्, वाचम्) इस वाणी को (वदन्ति) मनुष्य बोलते हैं, और (चक्षुः) नेत्रेन्द्रिय तथा (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय को (कः) कौन (उ) प्रसिद्ध (देवः) प्रकाशक देव (युनक्ति) अपने-अपने विषय के ग्रहण करने में प्रथम उत्पत्तिसमय में नियुक्त करता है ।

***भावार्थ*—**वेद में कहा है–"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५) अर्थात् शरीर में नेत्रादि पांच ज्ञान-इन्द्रियां, मन व प्राण ये सात ऋषि प्रत्येक शरीर में कार्य कर रहे हैं । वेद में अन्यत्र लिखा है="अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।" (अथर्व०) अर्थात् यह शरीर देवों के आठ चक्र और नव द्वार वाली अजेय नगरी है । यहां उपर्युक्त ऋषियों को ही देव कहा गया है । यद्यपि व्यवहार दशा में शरीर में ये जीवात्मा के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं, किन्तु इन सब को विषयग्रहण करने का सामर्थ्य परब्रह्म ही देता है । चक्षु रूप का ही ग्रहण करता है, रस का नहीं, श्रोत्र शब्द का ही ग्रहण करता है, रूप का नहीं । यह अपने-अपने विषय में जो नियतभाव व्यवस्था देखने में आती है, यह जीवकृत व्यवस्था नहीं है, इसका नियन्ता परब्रह्म ही है । और उत्तर प्रश्नानुरूप ही होना चाहिए । अगले उत्तर से भी यही स्पष्ट

है कि यह प्रश्न ब्रह्म-विषयक ही है । अतः इन प्रश्नों को जीवविषयक लगाना सर्वथा असङ्गत तथा प्रकरण-विरुद्ध है ।

समीक्षा—श्री शङ्कराचार्य जी इस श्लोक के प्रारम्भ में लिखते हैं—"तस्माद् दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासेयं केनेषितमित्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते ।" अर्थात् संसार के दृष्ट व अदृष्ट बाह्य साधनों तथा साध्यों से विरक्त पुरुष को प्रत्यगात्मविषयक (प्रति शरीर में विद्यमान आत्मविषयक) ब्रह्म-जिज्ञासा को 'केनेषितम्' इत्यादि श्रुति से दिखाया जाता है ।

यहां उपनिषत्कार का प्रश्न प्रत्यगात्मविषयक (जीवात्मा) नहीं है। क्योंकि प्रश्न के अनुसार ही उत्तर होना चाहिए । 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि उत्तर की सङ्गति जीवात्मा के साथ कदापि नहीं लगती । इस समस्त देहेन्द्रिय सङ्घात का रचयिता ब्रह्म है, जीवात्मा नहीं । परन्तु श्री शङ्कराचार्य जी ने इन प्रश्नों को न समझकर भ्रान्तिवश जीवात्मापरक लगाते हुए लिखा है—

केनेषितं कस्येष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति=गच्छति, स्वविषये नियमेन व्याप्रियते ।" अर्थात् किसकी इच्छा से मन स्वविषय में नियम से प्रवृत्त होता है ।

यहां 'इच्छा' तथा 'प्रेरित' अर्थों से महान् अन्तर आ गया है । इच्छा जीवात्मा का धर्म है ब्रह्म का नहीं । मन तथा दूसरी इन्द्रियां जीवात्मा की इच्छा से स्वविषयों में प्रवृत्त होती हैं, इसलिए इनके कर्मों के फल का भोक्ता जीवात्मा ही होता है । और मन ज्ञानादि की उपलब्धि का साधन है—नेत्र रूप का, श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है अन्य विषयों का नहीं, यह नियतव्यवस्था परब्रह्म की है । इस रहस्य को न समझकर श्री शङ्कराचार्य जी का यह कथन कितना भ्रान्तिजनक है—

"सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः ।" (केन० १।२ शा० भा०)

अर्थात् ब्रह्म उसे कहते हैं कि जिसके प्रयोजन के लिए मनादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है । यही इस समस्त प्रकरण का विवक्षित अभिप्राय है । जिस ब्रह्म के विषय में उपनिषदों में लिखा है—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते ॥

अर्थात् उस ब्रह्म का कोई कार्य तथा करण नहीं है, उसके लिए

मनादि को करण मानना कितनी मिथ्या मान्यता है । जीवात्मा की ब्रह्म से पृथक् सत्ता न मानने से शङ्कर-स्वामी को ऐसे मिथ्या अर्थ करने पड़े।

प्रथम मन्त्र में कहे प्रश्नों का उत्तर कथन करते हैं–

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥१।२

***पदार्थ*—**(यत्) जो (श्रोत्रस्य) कर्णेन्द्रिय का (श्रोत्रम्) श्रोत्र अर्थात् श्रवण-शक्ति देने वाला है, (मनसः) सुख-दुःखादि ज्ञान के साधन अन्तःकरण का (मनः) मन अर्थात् मननशक्ति देने वाला, (वाचः) वाणी का (ह) निश्चय से (वाचम्) वाणी अर्थात् बोलने की शक्ति देने वाला है, (प्राणस्य) प्राण का (प्राणः) प्राणशक्ति देने वाला है (चक्षुषः) चक्षु का (चक्षुः) चक्षु अर्थात् दर्शनशक्ति देने वाला है, (सः) उसको (उ) निश्चय से (धीराः) ध्यानी लोग (अतिमुच्य) सब पदार्थों से भिन्न मानकर अथवा इन्द्रियों के सुखों से पृथक् रहकर (अस्मात्, लोकात्) इस मृत्युलोक से (प्रेत्य) मरकर=पृथक् होकर (अमृताः) मरणधर्मरहित मुक्त (भवन्ति) हो जाते हैं ।

महर्षि दयानन्द ने (केन० १।२) के श्लोक के एक भाग का अर्थ करते हुए लिखा है–

"स उ प्राणस्य प्राणः ।" इस केनोपनिषत् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है । "प्राणो अग्निः परमात्मेति" यह मैत्र्युपनिषत् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है । प्राण, अग्नि, परमात्मा ये तीनों नाम एकार्थ वाची हैं तथा ईशानादि भी संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध से स्पष्ट हैं ।" (ल० भ्रा० नि० १९३ पृ०)

***भावार्थ*—**वैसे तो समस्त संसार परब्रह्म की रचना है, किन्तु मानव के शरीर की रचना बहुत ही अद्भुत है । जिसको पूर्णतः मानव आज तक नहीं जान सका है । इस शरीर में दर्शन-शक्ति, श्रवण-शक्ति, मनन-शक्ति, बोलने की शक्ति और जीवन-शक्ति का देने वाला होने से परब्रह्म चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् तथा प्राणादि नामों से कहा जाता है । उस परब्रह्म को जानना तथा उसका विवेक करना मानव-शरीर में ही सम्भव है । मानव जीवन का लक्ष्य भी परब्रह्म को प्राप्त करना ही है । जो परब्रह्म को इन सब प्राकृतिक साधनों से पृथक् जानकर प्रकृति के बन्धनों

में नहीं फंसता, उसे ही उस ब्रह्म का ज्ञान होता है और वही मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है । वेद में इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कहा है—

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

(यजु० ३१।१८)

अर्थात् उस ब्रह्म को ही जानकर जीव जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मोक्ष को प्राप्त करता है । मोक्ष-प्राप्ति का इससे भिन्न कोई उपाय नहीं है ।

समीक्षा—श्री शङ्कराचार्य जी ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

"कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः ? न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः । ......अयमत्र पदार्थः—श्रोत्रं तावत् स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम् । तच्च स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति ।"

"तथा चक्षुषश्चक्षू रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद् रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव ।"

अर्थात् 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' यहां द्वितीय 'श्रोत्रं' शब्द का अर्थ स्वविषय श्रवण-शक्ति है । इसी प्रकार दूसरे 'चक्षु' आदि शब्दों का अर्थ स्वविषयग्रहण-सामर्थ्य है और यह सामर्थ्य सर्वान्तरात्मा चैतन्य आत्मज्योति से प्राप्त होता है ।

यह अर्थ तो शङ्कर-स्वामी का प्रकरण-सङ्गत है । किन्तु यहीं पर ब्रह्म का लक्षण नितान्त असत्य है—"सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद् ब्रह्मेति" अर्थात् ब्रह्म वह है कि जिसके प्रयोजन के लिए समस्त करण=इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है । इन्द्रियों से ब्रह्म का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत जीवात्मा का सिद्ध होता है । ब्रह्म तो इन्द्रियों में स्वविषय-ग्रहण सामर्थ्य प्रदान करता है । ब्रह्म के विषय में तो कहा है कि—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ॥

(श्वेता० ३।१९)

अर्थात् ब्रह्म को इन चक्षु आदि इन्द्रियों की कोई आवश्यकता नहीं है । ब्रह्म से भिन्न चेतनसत्ता जीवात्मा की ही है । उसी को इन्द्रियों की आवश्यकता होती है । उसको स्वीकार करने से अद्वैतवाद की मिथ्या-मान्यता खण्डित हो जाती है । 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' इत्यादि श्रुति से भी यह स्पष्ट हो रहा है कि चक्षु आदि इन्द्रियां जीवात्मा के साधन हैं, इन

से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता ।

वह परब्रह्म इन्द्रियागोचर है, इस विषय में गुरु प्राचीन आचार्यों की साक्षी देते हुए कथन करते हैं–

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्याद् अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिता-दधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे[१] ॥१।३॥

पदार्थ—(तत्र) उस ब्रह्म में (चक्षुः) रूप ग्रहण करने वाला नेत्र (न, गच्छति) नहीं जाता है अर्थात् ब्रह्म के निराकार होने से नेत्र उसका ग्रहण करने में असमर्थ है, (वाक्) वाणी (न गच्छति) उसकी इयत्ता को नहीं जानती=नहीं कह सकती, (मनः, न) मन प्राप्त नहीं कर सकता। (यहां चक्षु आदि उपलक्षणार्थक ही है । दूसरी इन्द्रियां भी ब्रह्म को जनाने में असमर्थ हैं ।) इस कारण (न विद्मः) हम ब्रह्म को नहीं जानते और (न विजानीमः) विशेष करके भी हम ब्रह्म को नहीं जान सकते (यथा) जैसे (एतत्) इस उक्त ब्रह्म का (अनुशिष्यात्) शिष्यादि को उपदेश किया जाए । अर्थात् यथार्थ में जानी हुई वस्तु का ही उपदेश किया जाता है, किन्तु ब्रह्म इन्द्रियागोचर है, उसका उपदेश कैसे किया जाए ? (तत्) वह ब्रह्म (विदितात्) इन्द्रियों से जाने हुए विषय से (अन्यत्, एव) भिन्न ही है । (अथो) और (अविदितात्) अज्ञात वस्तु से (अधि) ऊपर=भिन्न है, अथवा प्रकृति के अव्यक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं से ब्रह्म भिन्न है । वह ब्रह्म ज्ञात व अज्ञात दोनों से विलक्षण है । (इति) इस प्रकार (पूर्वेषाम्) पूर्वज आचार्यों के ब्रह्म-विषयक वचन (शुश्रुम) हम ने सुने हैं, (ये) जो आचार्य गुरुजनों ने (नः) हमारे लिए (तत्) उस ब्रह्म के विषय में (व्याचचक्षिरे) उपदेश रूप में कहे हैं ।

भावार्थ—वह ब्रह्म निराकार, निर्विकार व अनन्त होने से अतीन्द्रिय है । उसकी इयत्ता को इन्द्रियां नहीं जान सकतीं । यहां ब्रह्म के विषय में 'विद्मः विजानीमः' इन दोनों क्रियाओं से यह स्पष्ट किया गया है कि जैसे जब हम किसी वस्तु को दूर देखते हैं, तो अवयव-विभाग का ज्ञान न होने से एक सामान्य ज्ञान होता और समीप में जाने पर अवयवों के

---

१. श्री शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र के दो खण्ड करके (३, ४) व्याख्या की है ।

विभागपूर्वक जो ज्ञान होता है, वह विशेष ज्ञान होता है । ब्रह्म को अतीन्द्रिय होने से हम सामान्य तथा विशेष इन दोनों प्रकारों से नहीं जान सकते । फिर उस असीम व अनन्त देव का दूसरों के लिए कैसे उपदेश किया जाए ? वह ब्रह्म विदित और अविदित अर्थात् ज्ञात व अज्ञात से भी परे है । उसे विदित (ज्ञात) कहना उसे सीमित करना है, और उसे अविदित (अज्ञात) कहना उसे अवस्तु ही बताना है । अतः वह ब्रह्म न तो ज्ञात है और न वह अज्ञात है । वह विदित (जाना गया) ऐसा भूतकालिक प्रयोग का विषय नहीं है और नहीं भविष्यत्काल का ही विषय है कि जाना जा सकेगा । उसके लिए तो वर्त्तमान का प्रयोग ही सार्थक हो सकता है कि उसे जानने का यत्न कर रहा हूं । क्योंकि वह ब्रह्म अनन्त है, उसे जितना जाना जायेगा, वह अल्प ही रहेगा । प्राचीन ऋषि निरभिमानी होकर ब्रह्म को जानने में निरन्तर लगे रहते थे । उसका पूर्णतः न जानना ही उसकी महत्ता का द्योतक है ।

वह ब्रह्म वाणी का विषय क्यों नहीं है ? और उपासना किसकी करनी चाहिए ? यह कथन करते हैं ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।४॥

पदार्थ—(यत्) जो ब्रह्म (वाचा) वाणी से (अनभ्युदितम्) नहीं कहा जा सकता है अथवा प्रकाशित नहीं होता (येन) जिस ब्रह्म से (वाक्) वाणी (अभ्युद्यते) प्रकाशित होती है अर्थात् ब्रह्मकृत नियम से ही वाणी उच्चारित होकर शब्दार्थ का बोध कराती है । (तत्, एव) उस वाणी के प्रकाशक को ही (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जान (यत्) जो (इदम्) यह वाणी का विषय शब्दादि कार्य जगत् है इसकी जो मनुष्य (उपासते) उपासना करते हैं, (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—"जो वाणी की इदन्ता" अर्थात् यह जल है, लीजिए वैसा विषय नहीं और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर और जो उससे भिन्न है, वह उपासनीय नहीं ।"   (सत्यार्थ० ३०९ पृ०)

भावार्थ—ब्रह्मर्षि ब्रह्म का वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों के आश्रय

से उपदेश करते रहते हैं । विना उपदेश के ज्ञान-प्राप्ति सम्भव ही नहीं है । फिर यह कहना कि ब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता क्या परस्पर विरुद्ध प्रतीत नहीं होता ? महर्षि के अर्थ से इस जिज्ञासा का समाधान हो जाता है कि वाणी जड़ पदार्थों के समान ब्रह्म का ज्ञान नहीं करा सकती क्योंकि ब्रह्म के धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है । शब्दों के कथन मात्र से जड़ पदार्थों के समान ब्रह्मज्ञान नहीं होता । क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं ।

शङ्करभाष्य में इस श्रुति से अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"श्रोतुराशङ्का जाता कथं त्वात्मा ब्रह्म ? आत्मा ही नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च संसारी वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान् स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति। तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रः प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति न त्वात्मा लोकप्रत्ययविरोधात् । यथान्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मेत्याचक्षते । तथा कर्मिणः—अमुं यजामुं यज इत्यन्या एव देवता उपासते । तस्माद् युक्तं यद् विदितमुपास्यं तद् ब्रह्म भवेत्ततोऽन्य उपासक इति ।"

अर्थात् सुनने वाले को ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि आत्मा ब्रह्म कैसे हो सकता है ? क्योंकि आत्मा उसका नाम है जो सांसारिक कर्मों तथा उपासना का अधिकारी है और साधनों को करके ब्रह्मादि देवों को अथवा स्वर्ग को प्राप्त करना चाहता है । इसलिए आत्मा से उपास्य विष्णु, ईश्वर, इन्द्र, प्राण या ब्रह्म नाम वाला भिन्न ही हो सकता है । आत्मा ब्रह्म नहीं हो सकता है, लोकज्ञान से विरुद्ध होने से । जैसे दूसरे तार्किक आत्मा को ईश्वर से भिन्न मानते हैं वैसे ही कर्मी=मीमांसक भी—'इसका यजन कर' 'इसका यजन कर' इस प्रकार आत्मा से भिन्न देवता की उपासना करते हैं । इसलिए यह स्पष्ट विदित होता है कि उपास्य-ब्रह्म से उपासक आत्मा भिन्न है ।

ऐसी आशंका उत्पन्न करके उसका समाधान इस श्रुति में शाङ्करभाष्य में दिखाते हुए लिखा है—

"यत्=चैतन्यमात्रसत्ताकं, वाचा=पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्या, अनभ्युदितम्=अप्रकाशितम्, येन=ब्रह्मणा सकरणा वाक् अभ्युद्यते=चैतन्य-ज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यते, तदेवात्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति विद्धि=विजानीहि । नेदं ब्रह्म यदिदमित्युपाधिभेदविशिष्ट-मनात्मेश्वराद्युपासते=ध्यायन्ति ।"

अर्थात् जो चैतन्यमात्र सत्ता वाला ब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता, जिस ब्रह्म से वाणी प्रकाशित होती है, प्रयोग की जाती है, उसी आत्मस्वरूप ब्रह्म को जानो । और यह ब्रह्म नहीं है जो उपाधि विशिष्ट अनात्मा को ईश्वरादि नामों से ध्यान करते हैं ।

समीक्षा—इस शाङ्कर-भाष्य में निम्न-दोष हैं—

(१) इससे अद्वैतवाद की सिद्धि कदापि नहीं होती, क्योंकि इसमें 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' कहकर जीवात्मा तथा ब्रह्म को भिन्न-भिन्न बताया है । ज्ञाता तथा ज्ञेय और उपासक तथा उपास्य दोनों एक कभी नहीं हो सकते । और 'उपासना' का अर्थ है—समीप बैठना । यदि जीवात्मा और ब्रह्म एक ही हैं तो कौन किसके पास बैठता है ?

(२) इस श्रुति में शङ्कर ने 'अभ्युद्यते' क्रिया का अर्थ 'प्रयोग करना' माना है, यह भी ब्रह्म-विषय में सङ्गत नहीं होता । क्योंकि ब्रह्म वाणी का प्रयोग कैसे कर सकता है, वह तो वाणी आदि इन्द्रियों से रहित है । परब्रह्म के वेद-ज्ञान को सीखकर वाणी की प्रवृत्ति होती है, वह ब्रह्म निराकार व निरवयव होने से वाणी का प्रयोग नहीं कर सकता। और शरीरादि बन्धनों से रहित होने से वह ब्रह्म करण=इन्द्रियों से रहित है । स्वयं श्री शङ्कराचार्य ने भी ब्रह्म को ईशावास्योपनिषत् के 'सपर्यगाच्छुक्रमकायम्०' मन्त्र में 'अकायम्=अशरीरम्' स्वीकार किया है । और वहीं भाष्य में यह भी माना है कि वह ब्रह्म त्रिविध शरीर=सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर तथा कारणशरीरों से रहित है ।

अतः शङ्कर स्वामी का यह कथन नितान्त असत्य तथा भ्रान्तिमूलक है कि—"येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वागभ्युद्यते=प्रयुज्यते ।" ब्रह्म द्वारा करणसहित वाणी का प्रयोग किया जाता है ।

(३) इस श्रुति में ब्रह्म से भिन्न की उपासना का निषेध किया है । ब्रह्म से भिन्न दो ही वस्तुएं हैं—(१) जीवात्मा और (२) प्रकृति । जीवात्मा को यह उपदेश दिया जा रहा है और वह उपासक है । अतः ब्रह्म से भिन्न जो उपास्य का प्रतिषेध किया है, वह प्रकृति=जड़ पदार्थों की उपासना का ही निषेध किया गया है । परन्तु श्री शङ्कराचार्य इस रहस्य को न समझकर अथवा दुराग्रहवश लिखते हैं—

"नेदं ब्रह्म—यदिदमित्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वराद्युपासते=ध्यायन्ति।" अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है, जो उपाधिभेद से अनात्मा या ईश्वरादि नामों की

उपासना करते हैं । जब इन वेदान्तियों के मत में ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं है तो ये उपाधिभेदविशिष्ट जीव व ईश्वरादि क्या वस्तुएं हैं ? माया के आश्रय से इनकी प्रतीति मानना भी मिथ्या है । महर्षि दयानन्द इस विषय में लिखते हैं–

"क्योंकि तुम माया का अर्थ ऐसा करते हो कि जो वस्तु न हो और भासे है तो इस बात को वह मानेगा जिसके हृदय की आंख फूट गई है क्योंकि जो वस्तु नहीं उसका भासमान होना सर्वथा असम्भव है। जैसा वन्ध्या के पुत्र का प्रतिबिम्ब कभी नहीं हो सकता ।"

(सत्यार्थ० एकादशसमु०)

नवीन वेदान्ती अन्तःकरणोपाधि से ब्रह्म को ही जीव मानते हैं जीव की पृथक् सत्ता नहीं मानते । और इस उपाधि को अनिर्वचनीय कहते हैं। वह न तो जड़ है, न चेतन । न वह सत्य है और न वह असत्य । किन्तु इन वेदान्तियों का यह कथन 'वदतो व्याघातः' के समान है । जिसको मानते हुए भी उसे असत् कहते हैं । और उनका यह दृष्टान्त भी उनकी मान्यता को खण्डित करता है कि जैसे एक व्यापक निराकार आकाश ही घटाकाश, मठाकाशादि भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, वैसे एक ब्रह्म ही अज्ञानवश (मायावश) समष्टि, व्यष्टि और अन्तःकरणों की उपाधियों से पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहा है । इस दृष्टान्त में जैसे घट, मठ, मेघादि को आकाश से भिन्न स्पष्ट रूप से मानकर घटाकाशादि बताते हैं, वैसे ब्रह्म से भिन्न कारण कार्यरूप जगत् और जीव को क्यों नहीं मानते? ब्रह्म को उपाधिवश जीवादि बताना वैसी ही मिथ्या बात है जैसे घटाकाशादि में कोई घटादि को भी आकाश बताने का दुस्साहस करने लगे ।

(४) इस श्रुति में 'नेदं यदिदमुपासते' कहकर स्पष्टरूप से ब्रह्म से भिन्न वस्तु को माना है । 'विद्धि' क्रिया भी ब्रह्म से भिन्न चेतनसत्ता (जीव) को बता रही है । जड़-पदार्थों के लिए ऐसी क्रियाओं का प्रयोग असम्भव है । अतः इससे त्रैतवाद की ही सिद्धि होती है । अद्वैतवाद का तो इससे स्पष्ट रूप से खण्डन हो ही रहा है ।

ब्रह्म मन का विषय क्यों नहीं ? और उपासना किसकी करनी चाहिए ? यह कथन करते हैं–

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।५॥

पदार्थ—(यत्) जिस ब्रह्म को (मनसा) मन से (न, मनुते) नहीं जाना जाता अर्थात् वह ब्रह्म 'इयत्ता' करके मन में नहीं आता । (येन) जिस ब्रह्म से (मनः) मन (मतम्) जाना गया (आहुः) ब्रह्मर्षि कहते हैं (तत्, एव) उसी मनीषी ब्रह्म[१] को ही (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जान (यत्) जो (इदम्) यह मन=अन्तःकरण है जिसकी (उपासते) सामान्य लोग उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—"जो मन से 'इयत्ता' करके मन में नहीं आता, जो मन को जानता है, उसी को तू ब्रह्म जान, उसी की उपासना कर । जो उससे भिन्न जीव और अन्तःकरण है, उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान पर मत कर ।" (सत्यार्थ० ३०९ पृ०)

भावार्थ—यहां जो ब्रह्म का मन से जानने का निषेध किया है, उसका तात्पर्य यही है कि मन का इतना सामर्थ्य नहीं है, जो ब्रह्म को पूर्णतः जानकर 'इयत्ता' में ला सके । वैसे मन (अन्तःकरण) ब्रह्म को जानने में साधन है । जैसा कि कहा है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' अर्थात् मनुष्यों का मन ही बन्धन व मोक्ष का कारण है अतः प्रस्तुत प्रकरण में कोई विरोध नहीं है ।

समीक्षा—इस श्रुति की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"यन्मनसा न मनुते यत्=चैतन्यज्योतिः, मनसोऽवभासकं न मनुते=न सङ्कल्पयति नापि निश्चिनोति मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात् । ... सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तमाहुः= कथयन्ति ब्रह्मविदः तस्मात्तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक् चेतयितारं ब्रह्म विद्धि ।"

अर्थात् जो ब्रह्म मन=अन्तःकरण से सङ्कल्प-विकल्प तथा निश्चय नहीं करता और जिस ब्रह्म से सवृत्तिक मन व्याप्त है । इसलिए उसी को ब्रह्म जानो, आत्मा के प्रति मन का=चेतयिता=ज्ञान कराने वाला अथवा प्रेरक है ।

यहां शाङ्करभाष्य में निम्न दोष हैं—

(क) "ब्रह्म मन से सङ्कल्प-विकल्प तथा निश्चय नहीं करता ।"

---

(१) परब्रह्म को (यजु० ४०।८) वेद में 'मनीषी' कहा गया है जिसका अर्थ महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—"यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति" (ऋ० भू० वेदनित्यत्व०) अर्थात् वह ब्रह्म सब जीवों के मनों का साक्षी व ज्ञाता है ।।

यह अर्थ मिथ्या होने से माननीय नहीं हो सकता । क्योंकि ब्रह्म को 'स पर्यगात्०' मन्त्र में अकायम्=शरीर रहित कहा है । जिसके भाष्य में स्वयं श्री शङ्कराचार्य ने ब्रह्म को सूक्ष्म, कारण तथा स्थूल शरीरों से रहित माना है । मन तो सूक्ष्म-शरीर का एक घटक ही है । जब ब्रह्म सूक्ष्म शरीर होने से मनादि करणों से रहित है, तब उसके लिए यह कहना नहीं सङ्गत होता कि वह ब्रह्म मन से सङ्कल्पादि नहीं करता । यथार्थ में यहां 'यत्' पद प्रथमान्त नहीं, प्रत्युत द्वितीयान्त है, जिसको शङ्कर-स्वामी ने भ्रान्तिवश नहीं समझा। द्वितीयान्त मानकर अर्थ इस प्रकार होगा—"जिस ब्रह्म को मन से 'इयत्ता' करके नहीं जाना जाता ।" इस अर्थ में कोई दोष नहीं आता ।

(ख) जीवात्मा के प्रति मन ब्रह्म चेतयिता=ज्ञान कराने वाला या प्रेरक है, यह बात भी शङ्कर-स्वामी की मिथ्या ही है । जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न चेतन सत्ता है, जिसके आधीन मनादि साधन कार्य करते हैं । यदि ब्रह्म को मनादि साधनों का 'चेतयिता' मान लिया जाए तो जीव कर्म करने में स्वतन्त्र कहां रह सकता है ? और कर्मफल भी जीवों को न मिल कर मनादि के चेतयिता को ही मिलना चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता । स्वयं शङ्कर स्वामी ने 'द्वा सुपर्णा०' (मु० ३।१।१) की व्याख्या में क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा को कर्मफल का भोक्ता और सर्वज्ञ ईश्वर को अभोक्ता स्वीकार किया है । इसलिए मन का चेतयिता ब्रह्म को मानकर शङ्करस्वामी ने एक परस्पर विरुद्ध तथा उपनिषत्कार के अभिप्राय से विरुद्ध व्याख्या की है ।

(ग) और यहां "नेदं यदिदमुपासते" कहकर उपनिषत्कार उपास्य चेतन-ब्रह्म उपासक चेतन-जीवात्मा तथा ब्रह्म से भिन्न-प्रकृति=मूर्त्त पदार्थों का प्रतिषेध करने के कारण स्पष्टरूप से त्रैतवाद को मान रहे हैं। जिसकी शङ्कर-स्वामी ने मिथ्याग्रह के कारण उपेक्षा की है ।

ब्रह्म चक्षु-इन्द्रिय का विषय क्यों नहीं है ? और उपासनीय कौन है ? इसका कथन करते हैं—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति[१] ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।६॥

पदार्थ—(यत्) जिस ब्रह्म को (चक्षुषा) रूपज्ञान के साधननेत्र

(१) पश्यतीति पाठान्तरम् उपलभ्यते ।

से (न, पश्यति) कोई नहीं देख सकता । (येन) जिस ब्रह्म के सामर्थ्य से (चक्षूंषि) सब आंखें=[प्रकाशक सूर्यादि] (पश्यन्ति) देखती हैं (तत्, एव) उसी चक्षुओं के चक्षु को (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जानो (यत्) जो (इदम्) यह चक्षु से ग्रहण करने योग्य मूर्त्त जगत् है, अथवा चक्षु के कारणभूत सूर्य, विद्युत् व अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं, जिनकी (उपासते) सामान्यजन उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है–

"जो आंख से नहीं दीख पड़ता और जिससे सब आंखें देखती हैं, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर । और जो उससे भिन्न सूर्य, विद्युत् और अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं, उनकी उपासना मत कर।"

(सत्यार्थ० ३०९ पृ०)

श्री शङ्कराचार्य जी इसके भाष्य में लिखते हैं–"यच्चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरोत्यन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन लोकः । येन चक्षूंष्यन्तः-करणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेवेत्यादि पूर्ववत् ।" अर्थात् जिस ब्रह्म को नेत्र से लोक अन्तःकरण के योग से नहीं देखता है । जिस चैतन्यात्मज्योति से चक्षूंषि=अन्तःकरण की विभिन्न वृत्तियों को लोक देखता है, उस को ब्रह्म जानो ।

समीक्षा–(क) यहां उपासना के योग्य ब्रह्म का प्रकरण है । और 'यत्' 'तद्' शब्दों का नित्य सम्बन्ध होता है । 'यत्' शब्द से जिसको कहा जा रहा है, 'तद्' शब्द भी उसी का निर्देश करता है । शाङ्कर-भाष्य में यहां यह दोष है–"जिस चैतन्यात्मज्योति से चक्षु वृत्तियों को देखता है उसी को ब्रह्म जानो ।" यहां प्रश्न यह है कि चक्षु से देखने वाला जीवात्मा है, या ब्रह्म । ब्रह्म तो इन्द्रियरहित है, अतः जीवात्मा ही चक्षु से देखता है, उसे ब्रह्म कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि वह स्वयम् उपासक है, वह उपास्य नहीं हो सकता । उपास्य उपासक से अवश्य भिन्न होना चाहिए ।

(ख) शाङ्कर-भाष्य में दूसरा दोष यह है कि उन्होंने 'चक्षूंषि' इस बहुवचन पद के अर्थ को नहीं समझा । यहां इस पद से शरीरस्थ चक्षु-इन्द्रिय का ग्रहण नहीं है, अपितु नेत्रेन्द्रिय के देखने में सहायक सूर्यादि प्रकाशक व दर्शक पदार्थों का ग्रहण है । क्योंकि ये सूर्यादि ब्रह्म के सामर्थ्य से ही प्रकाश कर रहे हैं । उपनिषद् में अन्यत्र इसी भाव को

स्पष्ट रूप से कहा है—

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ (कठो० ५।१५।)

अर्थात् ब्रह्म के प्रकाश से ही सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं । इस 'चक्षूंषि' बहुवचनान्त पद को देखकर 'पश्यन्ति' बहुवचनान्त ही पाठ उचित प्रतीत होता है । 'पश्यति' पाठ की यहां सङ्गति नहीं होने से 'अपपाठ ही मालूम पड़ता है । महर्षि दयानन्द की व्याख्या बुद्धिगम्य तथा प्रकरणानुकूल होने से स्पष्ट है ।

ब्रह्म श्रोत्रेन्द्रिय का भी विषय क्यों नहीं है ? और उपासना किसकी करनी चाहिए ? यह कथन करते हैं—

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।७॥

पदार्थ—(यत्) जिस ब्रह्म को (श्रोत्रेण) श्रवण-साधन इन्द्रिय से (न, शृणोति) कोई नहीं सुनता, (येन) जिस ब्रह्म के सामर्थ्य से (इदम्, श्रोत्रम्) यह कर्णेन्द्रिय (श्रुतम्) श्रवण-शक्ति प्राप्त करता है, (तत्, एव) उस श्रवण-शक्ति को देने वाले को (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जान (यत्) जो (इदम्) यह श्रोत्र ग्राह्य शब्दादि विषय की (उपासते) सामान्य जन उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का यह अर्थ किया है—

"जो श्रोत्र से नहीं सुना जाता और जिससे श्रोत्र सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर और उससे भिन्न शब्दादि की उपासना उसके स्थान में मत कर ॥" (सत्यार्थ० पृ० ३०९)

श्री शङ्कराचार्य जी ने इस श्रुति की व्याख्या में भी पूर्ववत् ही लिखा है—"येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्=यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेवेत्यादि पूर्ववत् ।" अर्थात् जिस चैतन्य आत्मज्योति से यह श्रोत्र अपने विषय को ग्रहण करता है, उसी को ब्रह्म जानो ॥

समीक्षा—इस शाङ्कर-भाष्य के दोष भी (१।६) के तुल्य ही समझने चाहिएं । क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय जीवात्मा के आधीन होकर विषय का ग्रहण करती है, और प्रकरण ब्रह्म का है अतः यही अर्थ करना सङ्गत है कि जिस ब्रह्म से श्रवण-शक्ति प्राप्त होती है अथवा श्रवण के आश्रयभूत आकाश में जो सामर्थ्य है, वह ब्रह्म-प्रदत्त है । ब्रह्म से भिन्न

चेतन जीवात्मा की सत्ता न मानने वाले शङ्कर स्वामी ने दुराग्रह वश ही श्रोता जीवात्मा व श्रवण-शक्ति को देने वाले ब्रह्म को एक मानकर प्रकरणविरुद्ध अर्थ किया है, इसे कौन विद्वान् स्वीकार कर सकता है ?

अब प्राणों का भी प्राण=प्राणन-शक्ति देने वाला ब्रह्म ही है, और वही उपासनीय है । यह कथन करते हैं—

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।८॥

पदार्थ—(यत्) जो ब्रह्म (प्राणेन) प्राण से (न, प्राणिति) प्राण के समान चलायमान नहीं होता (येन) जिस ब्रह्म के द्वारा (प्राणः) प्राण (प्रणीयते) प्राणन क्रिया=अपना गमनात्मक कर्म करता है, (तत्, एव) उसी प्राणों के प्राण ब्रह्म को (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जान (यत्, इदम्) जो इस प्राण-वायु की मनुष्य (उपासते) उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—

"जो प्राणों से चलायमान नहीं होता, जिससे प्राण गमन को प्राप्त होता है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर । जो यह उससे भिन्न वायु है, उसकी उपासना मत कर ।" (सत्यार्थ० पृ० ३०९)

भावार्थ—"यद्वाचा" से लेकर 'यत्प्राणेन' इन पांच श्लोकों के द्वारा उपनिषत्कार ने एकमात्र ब्रह्म को ही उपासनीय देव बताया है, और उससे भिन्न मूर्त्त-पदार्थों की उपासना कर स्पष्टरूप से निषेध किया है। वह निराकार ब्रह्म वाणी, नेत्र, श्रोत्र, प्राण और मन से ग्रहण करने योग्य नहीं है । कोई मनुष्य यह इच्छा करे कि मैं वाणी से ब्रह्म की रट लगाकर, आंखों को मूर्ति आदि के रूप में विषय बनाकर, कानों से कीर्त्तनादि के रूप में सुन-सुनाकर, प्राणों के द्वारा अन्दर बिठाकर तथा मन से विचार कर ब्रह्म का उपासक बन जाऊंगा, यह उसकी धारणा मिथ्या ही है, क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियादि का विषय ही नहीं है । अतः जो वर्त्तमान समय में उच्चध्वनि से भजन, कीर्त्तनादि से ब्रह्म की भक्ति का एक ढोंग किया जा रहा है, वह सच्ची उपासना नहीं है । फिर उपासना क्या है ? यह वेदादिशास्त्रों से जानी जा सकती है, जिनमें स्पष्ट कहा है कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (योग०) चित्त की समस्त वृत्तियों को

बाह्य विषयों से रोककर **"आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश"** (यजु० ३२।११) **अपने आपको सर्वात्मभाव से परब्रह्म को समर्पण करना ही सच्ची उपासना होती है ।**

केनोपनिषद् में जीव-ब्रह्म की भिन्नता–

इस प्रथम-खण्ड के आठों श्लोकों में उपास्य-उपासक तथा ज्ञाता-ज्ञेय से जीव-ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस उपनिषद् में अन्यत्र भी इस विषय का प्रतिपादन प्रसङ्गवश हुआ है। जैसे–

१. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २।५)

अर्थात् इस मनुष्यजन्म में आकर जीवात्मा ने यदि उस परब्रह्म को जान लिया, तब तो उसकी सफलता है, अन्यथा विभिन्न योनियों के गमनागमन चक्र में ही फंसे रहने से महती हानि होती है ।

इससे स्पष्ट है कि जन्म-जन्मान्तरों में जाने वाला ब्रह्म नहीं है, वह ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा ही है । जो अपने ज्ञेय ब्रह्म को जानकर दुःखों से छूटता है । यह बद्ध व मुक्त होने वाला जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न है।

२. भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः,
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति । (केनोप० २।५)

अर्थात् ब्रह्म का ध्यान करने वाले ब्रह्म को सब प्राणियों तथा पञ्चमहाभूतों में व्यापक जानकर मरने के बाद मुक्त हो जाते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म सर्वव्यापक सत्ता का नाम है, किन्तु जीवात्मा परिच्छिन्न एकदेशी है । जीवात्मा ब्रह्म के स्वरूप को जानकर दुःखबन्धन से छूटकर मुक्त होते हैं, अन्यथा नहीं ।

३. यो वा एतामेवं वेद अपहत्य पाप्मानम् ।
अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥
(केन० ४।९)

अर्थात् जो विद्वान् इस ब्रह्म-विद्या को जानकर, पापों से बच जाता है, वह परब्रह्म के सान्निध्य से मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है ।

यहां भी स्पष्ट कहा है कि ज्ञाता जीव और ज्ञेय ब्रह्म है । पापों से बद्ध व मुक्त होने वाला जीवात्मा है, ब्रह्म नहीं । अतः ज्ञाता-ज्ञेय तथा

बद्ध-मुक्त के भेद से जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न ही है ।

इस प्रकार इस प्रथम खण्ड में निराकार इन्द्रियागोचर ब्रह्म के विषय में यह बताया गया है कि वह इन इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता प्रत्युत चक्षुरादि इन्द्रियां भी ब्रह्मप्रदत्त सामर्थ्य को ही प्राप्त कर कार्य कर रही हैं, अतः उस सर्वत्र व्यापक अनन्तादि गुण वाले ब्रह्म की इयत्ता मनादि से कदापि नहीं हो सकती । अतः मूर्त्त-पदार्थों की उपासना न करके एक ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए ।

इति केनोपनिषद्भाष्ये प्रथमः खण्डः ।।

अथ केनोपनिषदि द्वितीयः खण्डः

प्रथम खण्ड में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन प्रारम्भ किया है । गुरु ने शिष्य के प्रश्नानुरूप प्रथम खण्ड में आठ श्लोकों के द्वारा उत्तर दिया । अब प्रकारान्तर से ब्रह्म की सूक्ष्मता व गम्भीरता का उपदेश करते हैं—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥२।१॥

पदार्थ**—**हे शिष्य ! (यदि) जो (त्वम्) तुम (अस्य ब्रह्मणः) इस पूर्वोक्त ब्रह्म का (यत्) जो (रूपम्) स्वरूप है उसको (सुवेद) अच्छी प्रकार जानता हूं (इति) इस प्रकार (मन्यसे) मानते हो तो (नूनम्) निश्चय करके (त्वम्) तुम (दभ्रम् एव) अल्प ही (वेत्थ) जानते हो । (अथ) और (नु) निश्चय करके (यत्) जो (अस्य) इस ब्रह्म का स्वरूप (देवेषु) विद्वानों में (विदितम्) विद्याप्रकाश से जाना गया है । वह (ते) तेरे लिए (मीमांस्यम् एव) तर्क-वितर्क तथा युक्तियों से विचार करने योग्य ही है, (मन्ये) ऐसा मैं मानता हूं ।

भावार्थ**—**इस मन्त्र में ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता का वर्णन किया गया है । अर्थात् ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म व सर्वत्र व्यापक है उसको 'इदन्ता' करके नहीं जाना जा सकता । अल्पज्ञ जीव का इतना सामर्थ्य नहीं है, कि वह ब्रह्म को पूर्णतः जानने में समर्थ हो सके । यदि कोई ब्रह्म को पूर्णतः जानने का घमण्ड करता है तो उसकी यह अहम्मन्यतामात्र ही है । गुरु शिष्य को अहङ्कार दोष से बचाने के लिए यह उपदेश कर रहे हैं ।

क्योंकि अहङ्कार ब्रह्मज्ञान में परम बाधक तथा पतन का कारण है । अतः यथाशक्ति जीवों को ब्रह्म की मीमांसा=तर्क वितर्कादि से खोज करते ही रहना चाहिए । मनुष्य ब्रह्म के विषय में जितना भी ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, वह अल्प ही रहेगा । अन्यत्र उपनिषदों में इसलिए कहा है–

स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता ॥ (श्वेताश्वतरो०)

वह ब्रह्म सारे विश्व को जानता है, परन्तु उसको पूर्णतः जानने वाला कोई नहीं है । और उस अनन्त ब्रह्म को जीव जान भी कैसे सकता है ? "पादो अस्य विश्वा भूतानि" (यजु० ३१।३) यह समस्त ब्रह्माण्ड तो ब्रह्म का एक भाग मात्र है । जब इसका भी हमें पूर्ण ज्ञान नहीं है तो ब्रह्म का कैसे सम्भव है । और सूर्य, अग्नि, वायु आदि दिव्य शक्ति-सम्पन्न देवों में व्याप्य-व्यापक भाव तथा नियाम्य-नियामक भाव से ब्रह्म की मीमांसा करनी चाहिए । अतः ब्रह्म का चिन्तन करते हुए अहङ्कार रहित होकर अपने ज्ञान को बढ़ाने में सतत विरत अवश्य रहना चाहिए।

आचार्य शङ्कर ने इस श्रुति की व्याख्या में लिखा है–

"सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः।"

"न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत् स्यात् ब्रह्म ।"

"तस्मात् सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव ।।"

"अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि न स्वतः ।।"

अर्थात् सब वेदान्तियों का यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि सभी जानने वालों का अपना आत्मा ही ब्रह्म है । ब्रह्म से भिन्न कोई ज्ञाता नहीं है, जिसके लिए ब्रह्म जानने योग्य है । इसलिए मैं ब्रह्म को भलीभांति जानता हूं, यह ज्ञान मिथ्या ही है । ब्रह्म के नाम, रूप तथा उपाधिकृत अनेक रूप हैं, स्वतः नहीं ।

समीक्षा–(क) आचार्य शङ्कर की यह मान्यता असत्य तथा वेदविरुद्ध है कि सभी का अपना आत्मा ब्रह्म है । इसलिए ब्रह्मज्ञान का विषय ही नहीं है । व्यासमुनि ने वेदान्तदर्शन में "भेदव्यपदेशाच्चान्यः।" "गुहां प्रविष्टावात्मनो हि दर्शनात् ।" इत्यादि सूत्रों के द्वारा जीव-ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है ।[१] वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं

१–और यदि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं होता, तो "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा ।" (वेदान्त०) इस सूत्र में ब्रह्म को जानने की इच्छा कैसे कही है ? अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म ज्ञान का विषय है ।

जिनमें जीव-ब्रह्म को पृथक्-पृथक् माना है । जैसे-

(क) न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ॥ (यजु० १७।३१)

अर्थ-जो तुम्हारे आत्मा में भी व्यापक है, उस सृष्टिकर्त्ता को तुम नहीं जानते ।

(ख) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(ऋ० १।१६४।२०)

अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों चेतन=सुपर्ण, व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त=सखा हैं । उनमें एक प्रकृतिरूपी वृक्ष के फलों को भोगता है, और दूसरा ब्रह्म न भोगता हुआ साक्षी मात्र रहता है ।

जीव-ब्रह्म की भिन्नता का उपनिषदों में बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है । जैसे-य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद। यस्यात्मा शरीरम्०। (बृहदा०) आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । (कठोप०) शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । (मु०) तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः। (कठो०) नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ।। (कठो०) गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके ।" इत्यादि उपनिषदों के बहुत प्रमाण हैं, जिनसे स्पष्ट है कि ब्रह्म हमारी आत्मा में भी व्यापक है । ब्रह्म का आत्मा शरीर है। अतः ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा परम सूक्ष्म चेतन सत्ता है और जीवात्मा अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, अल्पशक्ति वाला चेतन है । दोनों एक कभी भी नहीं हो सकते ।

जीवात्मा ज्ञाता तथा ब्रह्म ज्ञेय है, जीवात्मा उपासक तथा ब्रह्म उपास्य है । यदि ब्रह्म ज्ञान का विषय ही नहीं है, क्योंकि जीवात्मा स्वयं ब्रह्म है, तब तो समस्त वेदान्त-दर्शन ही मिथ्या है, जिसमें ब्रह्म की जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके ब्रह्म के सत्यस्वरूप का प्रतिपादन किया है और इस उपनिषद् में भी 'केनेषितं पतति' इत्यादि प्रश्न भी निरर्थक ही हो जाते हैं । और यदि सभी प्राणियों में एक ही ब्रह्म है, जीवात्मा की कोई सत्ता ही नहीं है तो इस मान्यता में अनेक दोष हैं-ब्रह्म को जन्म-मरण के चक्र में आने की क्या आवश्यकता थी ? एक ही ब्रह्म होने से दूसरे की देखी सुनी बात को दूसरा क्यों नहीं जानता ? पाप-पुण्य के कर्मों के फलभोग की व्यवस्था कभी न बन सकेगी । अद्वैतवाद की

मान्यता से पापों की वृद्धि और पुण्यों की न्यूनता होती है । इन्होंने अपने आपको ब्रह्म मानकर किसी भी पुण्य कार्य में प्रवृत्त न होकर अकर्मण्यता को बढ़ाया है । लौकिक-मनुष्यों को कर्त्तव्य से विमुख करके अधोगति की तरफ ले जाया गया है ।

(ख) ब्रह्म के उपाधिकृत अनेक रूपों की मान्यता भी अद्वैतवाद की मिथ्या है । इनके मत में सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरण में आकर जीव होता है । क्या जीव-दशा में ब्रह्म में सर्वज्ञादिगुण होते हैं ? यह सर्वजन विदित है कि हम सब अल्पज्ञ हैं तो ब्रह्म को भी उस दशा में अल्पज्ञ माना जाए ? यदि कहो कि अन्तःकरण के आवरण से ब्रह्म सर्वज्ञ नहीं रहता तो क्या अखण्डित ब्रह्म खण्डित हो जाता है ? और आवरण में आया ब्रह्म अपवित्र, अज्ञानी व पापबद्ध हो जाता है ? अतः अद्वैतवाद की यह मान्यता वेद व युक्ति से विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती । क्योंकि वेद में ब्रह्म के स्वरूप के विषय में बहुत ही स्पष्ट कहा है-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ॥

(य० ४०।८)

अर्थात् वह परब्रह्म सर्वत्र व्यापक सर्वशक्तिमान्, सब प्रकार के शरीरों से रहित, अव्रणम्=छिद्र रहित होने से अखण्डित व निरवयव, अस्नाविरम्=स्नायु आदि आवरणों के बन्धन में न आने वाला, शुद्धम्=राग, द्वेषादि से रहित होने से सदा पवित्र, अपापविद्धम्=पापाचरण से सदा मुक्त है ।

इस प्रकार ब्रह्म का जो स्वरूप है, वह सदा एक सा ही रहता है, उसके कभी भी विविध रूप नहीं होते । श्री शङ्कराचार्य जी की मान्यता वेदादिशास्त्रों से विरुद्ध, उपनिषद्-विरुद्ध, वेदान्त-विरुद्ध तथा युक्ति-विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है ।

अब ब्रह्म के जानने में हेतु कथन करता है-

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद् वेद तद् वेद नो न वेदेति वेद च ॥२।२॥

पदार्थ—(अहम्) मैं (सुवेद) ब्रह्म को अच्छी प्रकार जानता हूं (इति) इस प्रकार (न मन्ये) नहीं मानता और (न वेद) ब्रह्म को नहीं

जानता (इति) ऐसा भी (नो) नहीं मानता, (वेद च) और ब्रह्म है, यह जानता हूं । (नः) हम में से (यः) जो (तत्) उक्त वचन को (वेद) जानता है, वह (तत्) उस ब्रह्म को (वेद) जानता है । (न वेदेति) ब्रह्म को नहीं जानता ऐसा भी (नो वेद) नहीं जानता मानता हूं ।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्मज्ञानी की विशेषता बताते हुए कहा है कि—ब्रह्म को जानने वाला यह कदापि नहीं मानता कि मैं ब्रह्म को पूर्णरूप से जानता हूं क्योंकि ब्रह्म अनन्त है । और न यह कहता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता । क्योंकि उसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा होने से अयथार्थ भाषण कैसे कर सकता है । जो ऐसा जानता है, वह ब्रह्म का ज्ञाता है और जो इससे विपरीत आचरण करता है, वह ब्रह्म को नहीं जानता । क्योंकि ईश्वर विषयक—

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

(मैत्रायण्युप० ४।४)

अर्थात् ब्रह्म को जानने से जो सुख होता है, उसे वाणी से नहीं कहा जा सकता, उसे तो अन्तःकरण से अनुभव किया जाता है ।

श्री शङ्कराचार्य जी ने इस गाम्भीर्य को न समझ कर लिखा है—

"एकं वस्तु येन ज्ञायते तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा ।.....एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल ।"

अर्थात् जिसने एक वस्तु को जान लिया है, उसने उसको नहीं जाना है, यह परस्पर विरुद्ध है, संशय-विपर्यय को छोड़कर । और इत्यादि बातों से आचार्य ने शिष्य को विचलित करना चाहा, किन्तु वह विचलित नहीं हुआ ।

समीक्षा—इस श्रुति की व्याख्या से स्पष्ट है कि इसमें आचार्य का कोई वचन ही नहीं है । आचार्य ने शिष्य को इससे पहली श्रुति में जो कुछ कहा था, शिष्य ने इसमें उसका उत्तर दिया है । और उपर्युक्त व्याख्या से यह भी स्पष्ट है कि इसमें कोई भी बात परस्पर विरुद्ध नहीं है । जो ऐसा समझता है, वह उसकी भ्रान्ति ही है । यहां संशय तथा विपर्यय=मिथ्याज्ञान की कोई बात ही नहीं कही है, फिर उसे संशयादि से युक्त कहना उचित नहीं है । यह हमारी व्याख्या से ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है ।

पूर्वोक्त ब्रह्म का ही प्रकारान्तर से सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन करते हैं—

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥२।३॥

पदार्थ—(यस्य) जिस विद्वान् का (अमतम्) ब्रह्म को नहीं जानता ऐसा मत है, (तस्य) उसको (मतम्) ब्रह्म का ज्ञान है । (क्योंकि मन के द्वारा होनेवाला ज्ञान भी चक्षु आदि इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के समान ही है) (यस्य) जिस विद्वान् को यह गर्व है कि (मतम्) मैं ब्रह्म को जानता हूं (सः न वेद) वह ब्रह्म को नहीं जानता है । इसीलिए (विजानताम्) ब्रह्म का विशेष ज्ञान कहने वालों को (अविज्ञातम्) ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता और (अविजानताम्) जो ब्रह्मज्ञान का अहङ्कार नहीं करते, उनको (विज्ञातम्) ब्रह्म का विशेष ज्ञान है ।

भावार्थ—इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि जो अपने को ब्रह्म का ज्ञानी मानते हैं, वे ब्रह्म को नहीं जान सकते । क्योंकि ब्रह्म को जानने वाला यह कदापि कहेगा ही नहीं कि मैं ब्रह्म को जानता हूं । यथार्थ में साधारण व्यक्ति ब्रह्मज्ञानी की परीक्षा नहीं कर सकते । विरले योगी पण्डित गुरुदत्त को भी निरुत्तर होना पड़ा था। परन्तु ब्रह्म की सत्ता मानने में ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता । और इस मन्त्र का दूसरा भाव यह भी है कि ब्रह्म की अनुभूति तथा पूर्णज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक यथार्थज्ञान के द्वारा योगाभ्यासादि नहीं करता । जो शाब्दिक ज्ञान ही रखते हैं, ब्रह्म-प्राप्ति के दूसरे साधनों का अनुष्ठान नहीं करते, वे भी ब्रह्म के ज्ञाता नहीं हैं । ब्रह्म को जानने के लिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन तीनों साधनों की परमावश्यकता होती है । महर्षि दयानन्द ने इस रहस्य को एक वेद-मन्त्र में स्पष्ट किया है कि केवल ब्रह्म की सत्ता मानने वाला ब्रह्म को क्यों नहीं जानता ?

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

(यजु० १७।३१)

"जो परमात्मा इन सब भुवनों का बनाने वाला विश्वकर्मा है, उसको तुम लोग नहीं जानते । इसी हेतु से तुम (नीहारेण) अत्यन्त अविद्या से आवृत, मिथ्यावाद नास्तिकता की बकवाद करते हो ।......तुम

लोग (असुतृप:) केवल स्वार्थसाधक प्राणपोषणमात्र में ही प्रवृत्त हो रहे हो । (उक्थशासश्चरन्ति) केवल विषयभोगों के लिए ही अवैदिक कर्म करने में प्रवृत्त हो रहे हो । और जिसने सब भुवन रचे हैं, उस सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, परब्रह्म से उलटे चलते हो । अतएव उसको तुम नहीं जानते" ।। (आर्याभिविनय:)

इससे स्पष्ट है कि ईश्वर के जानने में मनुष्य क्यों असमर्थ रहते हैं और ईश्वर को मानने तथा जानने में क्या अन्तर है ।

ब्रह्मज्ञानी की विलक्षणता बताकर ब्रह्मज्ञान का फल कथन करते हैं—

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥२।४॥

पदार्थ—(प्रतिबोधविदितम्) प्रतिबोध से जाना गया ब्रह्म (मतम्) यथार्थज्ञान है । इस ब्रह्मज्ञान से मुमुक्षु पुरुष (हि) निश्चय से (अमृतत्वम्) मृत्युरहित जीवन्मुक्त दशा को (विन्दते) प्राप्त होता है । (आत्मना) आत्मस्वरूपज्ञान से (वीर्यम्) योगबल=अणिमादि सिद्धियों को (विन्दते) प्राप्त होता है, और (विद्यया) ब्रह्मज्ञान से (अमृतम्) जन्म-मरणादि दु:खरहित मोक्ष को (विन्दते) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—इस मन्त्र में 'प्रतिबोध' शब्द विशेष अर्थ को बताने वाला है । इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण कर रूपादि विषय के स्वरूप को धारण करने वाली बुद्धि को 'बोध' कहते हैं । और इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से निरोध करके अन्त:करण में धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम से जो ज्ञान की तरंग उत्पन्न होती हैं, उनका ग्रहण करना 'प्रतिबोध'[१] कहाता है और आत्मा के स्वरूप-ज्ञान से योगबल को प्राप्त करना इसलिए आवश्यक है कि उसके विना परमात्मा को नहीं जाना जा सकता । जैसा कि अन्यत्र कहा है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' इत्यादि प्रमाण से स्पष्ट है कि योगबल से रहित व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता ।

श्री शङ्कराचार्य जी ने यहां 'प्रतिबोध' शब्द से अपने आप को ब्रह्म

१—'प्रतिबोध' का दूसरा अर्थ यह भी है—वाक्यजन्य ज्ञान को बोध कहते हैं । और निदिध्यासन से ब्रह्म के गुणों को धारण करके जो उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, उसे 'प्रतिबोध' कहते हैं ।

मानना अर्थ करते हुए लिखा है–"बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते । सर्वे प्रत्यया विषयी भवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान् प्रतिबुध्यते, सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते, नान्यद् द्वारमात्मनो विज्ञानाय ।" अर्थात् 'बोध' शब्द बौद्धिक ज्ञान को बताता है । और जब सब ज्ञान हो जाते हैं, वह आत्मा प्रतिबोध विदित होकर ब्रह्म को जानकर ब्रह्म-रूप हो जाता है ।

समीक्षा—अपने आप को ब्रह्म समझना, यह भी एकमत है । पूर्वश्लोक में कहा है कि जिसका यह मत है, वह ब्रह्म को नहीं जानता। अतः शङ्कर-स्वामी का अर्थ सङ्गत नहीं है । और इसी श्लोक में कहा है कि 'अमृतत्वं हि विन्दते' 'वीर्यं विन्दते' इत्यादि । यदि वह स्वयं ब्रह्म ही है तो 'अमृतत्व प्राप्ति' और वीर्य=बल की प्राप्ति कौन किससे करता है । प्राप्ति अप्राप्त की की जाती है । अतः 'प्रतिबोध' शब्द का अर्थ अपने को ब्रह्म समझना' कदापि सङ्गत नहीं हो सकता ।

और यहां यह भी कहा है कि–'आत्मना विन्दते वीर्यम्' आत्मज्ञान से बल प्राप्त करता है । और उस बल से ब्रह्म के पद (मोक्ष) को प्राप्त किया जाता है । क्योंकि अन्यत्र कहा गया है कि–"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।" इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्या से आत्मिक बल प्राप्त होता है और तत्पश्चात् मोक्ष प्राप्त होता है । इस क्रम का उल्लङ्घन करके 'प्रतिबोध' शब्द का यह अर्थ करना 'ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो गया' नितान्त ही अविवेकपूर्ण तथा कल्पित है ।

मानव-जीवन का परम-लक्ष्य ब्रह्म-ज्ञान बताते हुए कहते हैं–

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य[1] धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२।५॥

पदार्थ—(चेत्) यदि (इह) इस मानव-जीवन में (अवेदीत्) ब्रह्म को जान लिया (अथ) तब तो (सत्यम् अस्ति) मनुष्य-जन्म सार्थक है (चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (न, अवेदीत्) ब्रह्म को नहीं जाना तो (महती विनष्टिः) बहुत बड़ी हानि है अर्थात् निरन्तर विभिन्न पशु-पक्षियों की योनियों के चक्र में घूमते रहने से उत्तम सुख का विनाश है। इसलिए (धीराः) ध्यानशील योगी पुरुष (भूतेषु-भूतेषु) सब चराचर

१–'विचित्य' इति शाङ्करभाष्ये पाठभेदः ।

जगत् में (विचिन्त्य) ब्रह्म का विवेचन करके तथा उसका साक्षात्कार करके (अस्मात् लोकात्) इस प्रत्यक्ष संसार से (प्रेत्य) देह-त्याग करके (अमृताः) मृत्यु आदि दुःखों से मुक्त (भवन्ति) हो जाते हैं ।

भावार्थ—मानव-जीवन का परम लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति । यदि इस उत्तम योनि को प्राप्त करके ब्रह्म को नहीं जाना, और सांसारिक भोग भोगकर ही यह जीवन बिता दिया तो दूसरी पशु-पक्षियों की योनियों तथा मानव-योनि में क्या अन्तर हुआ ? अतः मनुष्यों का यह परम कर्त्तव्य है कि उस ब्रह्म की शक्ति को संसार की प्रत्येक वस्तु में निहित जानकर ब्रह्म-विषयक ज्ञान को प्राप्त करें और दुःखपाश से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करने का अनवरत प्रयत्न करते रहें ।

इस मन्त्र में 'अवेदीत्' प्रयोग छन्दोवत् मानकर सार्वकालिक है, भूतकालिक नहीं । जैसे वेदों में 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (अ० ३।४।६) इस व्याकरण नियम से लुङादि लकार सामान्यकाल में प्रयुक्त हैं, वैसे ही यहां उपनिषद् में भी समझना चाहिए ।

आचार्य शङ्कर ने यहां लिखा है—

अमृता भवन्ति=ब्रह्मैव भवन्ति । अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं ।

समीक्षा—'अमृत' शब्द का अर्थ मृत्यु आदि दुःखों से रहित होना है, ब्रह्म होना नहीं । अतः शाङ्कर-भाष्य का अर्थ स्वयं कल्पित है। और यदि ब्रह्मस्थ पद (मोक्ष) को 'ब्रह्म' तात्स्थ्योपाधि से मान भी लिया जावे तो भी अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती । क्योंकि इनके मत में मोक्ष में जीव-ब्रह्म एक हो जाते हैं । जब जीव का पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता तो मोक्ष के सुख का कौन भोग करता है ? और उपनिषदों में जो मोक्ष की दशा में मुक्त जीवों का वर्णन किया है, वह सब मिथ्या ही हो जायेगा । जैसे—

(क) यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।		(मुण्डक०)

अर्थात् मुक्त जीव मोक्ष में स्वेच्छा से विचरण करते हैं और स्वाभीष्ट कामनाओं को प्राप्त करते हैं ।

(ख) ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।।
(मुण्डक०)

अर्थात् मुक्तजीव मोक्ष में परान्तकाल=मोक्ष की पूर्णावधि होने के

बाद मोक्ष से वापस संसार में आ जाते हैं ।

इत्यादि वर्णनों से स्पष्ट है कि मोक्ष में जीवों का ब्रह्म में लय कदापि नहीं होता । वे पृथक् रहकर ही मोक्षानन्द को भोगते हैं । अतः अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक आचार्य शङ्कर की व्याख्या कल्पित ही है ।

प्रथम-खण्ड में ब्रह्मज्ञान में इन्द्रियों की अनुपयोगिता और ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए, यह वर्णन किया । द्वितीय-खण्ड में ब्रह्मज्ञान की विलक्षणता तथा दुर्विज्ञेयता, ब्रह्मज्ञान का फल और मानव-जीवन का चरम-लक्ष्य ब्रह्म को जानना इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है।

इति केनोपनिषद्भाष्ये द्वितीयः खण्डः ।।

अथ केनोपनिषदि तृतीयः खण्डः

इस उपनिषत् के प्रथम खण्ड में एक परब्रह्म ही सर्वोत्कृष्ट होने से उपासनीय है, यह कथन किया । द्वितीय खण्ड में ब्रह्मज्ञान की विलक्षणता ब्रह्मज्ञान का फल तथा मानव-जीवन के परम लक्ष्य का वर्णन किया गया है । अब इस तृतीय-खण्ड में **अग्न्यादि भौतिक पदार्थों से ब्रह्म की उत्कृष्टता** का वर्णन करने के लिए एक आलङ्कारिक आख्यायिका के द्वारा ब्रह्म के विजय का वर्णन करते हैं—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माकम् एवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ।।३।१

***पदार्थ*—**(ब्रह्म) सब से महान् परमेश्वर ने (ह) निश्चय करके (देवेभ्यः) अग्नि आदि देवताओं से (विजिग्ये) विजय प्राप्त किया । (ह तस्य ब्रह्मणः) निश्चय से उस ब्रह्म की (विजये) जीत होने पर (देवाः) अग्नि आदि देवता (अमहीयन्त) महत्त्व को प्राप्त हो गए अर्थात् अपने को बड़ा मानने लगे । (ते) उन देवों ने (ऐक्षन्त) जान लिया कि (अयम् विजयः) यह विजय (अस्माकम् एव) हमारी ही है। (अयम् महिमा) यह महिमा (अस्माकम् एव) हमारी ही है ।

***भावार्थ*—**यहां ब्रह्म और अग्न्यादि देवों की इस आख्यायिका को चार्वाकादि नास्तिक मतों के खण्डन करने के लिए बनाया है । अग्नि, वायु आदि देवों में जो भी सामर्थ्य है, वह ब्रह्म-द्वारा प्रदत्त है ।

उसके सामर्थ्य के बिना अग्नि जला नहीं सकता, और वायु गति नहीं कर सकता । जैसा कि अन्यत्र कहा है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(कठो० ५।१५)

अर्थात् उस परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं। अतः अग्नि आदि अचेतन देवों को ही सब कुछ मानकर परब्रह्म को न मानने वालों के लिए इस आख्यायिका से उपदेश दिया गया है कि वह ब्रह्म सर्वोपरि तथा सर्वशक्तिमान् है । प्रकृति को ही सब कुछ मानने वाले अविद्याग्रस्त तथा भ्रान्त हैं ।

आचार्य शङ्कर ने इस आख्यायिका के विषय में लिखा है—

"तथेदं ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिकाऽऽरभ्यते । तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृदेवानामपि परो देवः, ईश्वराणामपीश्वरो, दुर्विज्ञेयो देवानां जयहेतुः, असुराणां पराजयहेतुः। ......अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये ।......अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत् प्रदर्श्यते। ......वक्ष्यमाणोपनिषद् विधिपरं वा सर्वम् । ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्त्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्येत्येतद्दर्शनार्थं व्याख्यायिका ।"

अर्थात् मन्दबुद्धि लोगों को ऐसी भ्रान्ति न हो कि ब्रह्म विज्ञात न होने से शशविषाण की भांति है ही नहीं, इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए यह आख्यायिका है । क्योंकि वही ब्रह्म सर्वथा प्रशासक, देवों में भी बड़ा देव, ईश्वरों में भी ईश्वर, दुर्विज्ञेय तथा देवों के जय का और असुरों के पराजय का हेतु है । अथवा ब्रह्म-विद्या की स्तुति के लिए, अथवा ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता प्रदर्शन करने के लिए, अथवा ब्रह्मज्ञान से भिन्न प्राणियों को जो कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व का मिथ्या अभिमान है, उसको दूर करने के लिए यह आख्यायिका है ।

समीक्षा—यह आख्यायिका ब्रह्मविद्या को समझाने के लिए एक आलङ्कारिक वर्णन है । इससे ब्रह्म-विद्या की महिमा व ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता का बोध होता है, और अहङ्कार का उन्मूलन भी होता है । किन्तु प्राणियों का मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूं इत्यादि अभिमान मिथ्या है, यह आचार्य शङ्कर का कथन सत्य नहीं है । यह केवल स्वाभिमत को बलात् दिखाने के लिए लिखा गया है । क्योंकि उनके मत में जीवात्मा की सत्ता ही नहीं है । यद्यपि 'द्वा सुपर्णा०' (मु०) मन्त्र की व्याख्या में

शङ्करस्वामी ने आत्मा व ईश्वर को भिन्न-भिन्न मानकर जीवात्मा को कर्मफल का भोक्ता और ईश्वर को सर्वज्ञ तथा साक्षीमात्र माना है । पुनरपि यहां जीवात्मा के कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व को मिथ्या दिखा रहे हैं। इस आख्यायिका में कहीं भी जीव के कर्त्तृत्वादि का निषेध भी नहीं किया गया है । अतः यह एक मिथ्या कल्पना ही है ।

उपर्युक्त आख्यायिका के स्पष्टीकरण से भी आचार्य शङ्कर को सन्तोष नहीं हुआ और इसमें पौराणिक-कल्पना का भी मिश्रण कर बैठे। इस खण्ड के अन्त में लिखते हैं—"अथवैवमेव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्त्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा तामुपाजगाम।" अर्थात् हिमालय की पुत्री उमा, जो सदा सर्वज्ञ ईश्वर के साथ रहती है, और ईश्वर को जानने में समर्थ है, वह इन्द्र उसके समीप में आया ।

अद्वैतवाद को मानने वालों से यहां प्रश्न किए जाते हैं कि यह उमा=हिमालय की पुत्री ईश्वर के साथ रहने वाली कौन है ? क्या इसे मानकर तुम्हारा अद्वैतवाद द्वैतवाद में नहीं बदलता ? क्या जड़ हिमालय की पुत्री का होना सम्भव है । और इस आख्यायिका से इसकी क्या सङ्गति है? उमा हैमवती आदि शब्दों के सत्य अर्थ यथास्थान द्रष्टव्य हैं।

अग्नि आदि देवों के अहङ्कार को खण्डित करने के लिए ब्रह्म यक्षरूप में प्रकट हुए, यह यहां कथन किया गया है—

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव ।
तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥३।२॥

पदार्थ—(तत्) उस ब्रह्म ने (ह) निश्चय करके (एषाम्) अग्नि आदि देवों की चेष्टा को (विजज्ञौ) सर्वज्ञभाव से जान लिया । (तेभ्यः) और उनके (अहङ्कार या मिथ्या ज्ञान को समाप्त करने के लिए) (ह) निश्चय से (प्रादुर्बभूव) ब्रह्म प्रकट हुए । वे देव (तत्) उस ब्रह्म को (न व्यजानन्त) नहीं जान सके कि (इदम् यक्षम्) यह अप्रतिम तेजयुक्त यक्ष (किम् इति) कौन है ।

भावार्थ—यहां ब्रह्म का यक्ष रूप में प्रकट होना और अग्नि आदि देवों का उसे न जानना, एक आलङ्कारिक वर्णन है यथार्थ नहीं । ब्रह्म एक सर्वव्यापक चेतन सत्ता है, उसे अग्नि आदि जड़ देवता कदापि जान भी नहीं सकते । जैसे मुण्डकोपनिषद् में परमात्मा के मुख, नेत्रादि

का आलङ्कारिक वर्णन किया गया है, वैसा ही यहां भी समझना चाहिए।

इस आख्यायिका का एक भाव यह भी है कि शरीर में भी पञ्चभूत कार्य कर रहे हैं । जब जीव परब्रह्म की उपासना से अद्‌भुत तेज व सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, तब अग्नि आदि के कार्य नेत्रादि इन्द्रियों में ऐसा गर्व पैदा हो जाता है कि यह तेज व शक्ति हमारी ही है । उस अहङ्कार को दूर करने के लिए भी इस आख्यायिका को बनाया है ।

ब्रह्म के निराकार होने से उसका शरीरधारी होकर संवाद करना कदापि सम्भव नहीं है, पुनरपि यहां आख्यायिका के रूप में ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता का ज्ञान कराने के लिए वर्णन किया गया है । क्योंकि आख्यायिका के द्वारा कठिन विषय भी सरल व सुगम हो जाता है ।

आलङ्कारिक आख्यायिका का स्पष्टीकरण–

यह समस्त संसार प्रकृति का विकार है । यह स्वयं न तो बन सकता और नहीं बिगड़ सकता है । इस का रचयिता तथा प्रलय करने वाला परब्रह्म है । अतः अग्नि आदि देवों में ब्रह्म का विजय=महत्त्व अधिक है । परन्तु परब्रह्म इन्द्रियागोचर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा सर्वत्र व्यापक सत्ता है, उसका जानना सरल न होने से अनात्मज्ञानी भौतिक अग्नि आदि जड़ देवों को ही उत्कृष्ट मानकर परब्रह्म को मानने से इन्कार कर देते हैं । ऐसे अनात्मवादी नास्तिक पुरुषों को समझाने के लिए उपनिषत्कार ने यह आलङ्कारिक गाथारूप में वर्णन किया है ।

अग्नि आदि देवों के सम्मुख ब्रह्म तेजस्वी यक्षरूप में प्रकट हुआ देवता उसे न जान सके । सब देवों ने मिलकर अग्नि देव को यक्ष को जानने के लिए भेजा कि तुम प्रकाशमान होने से यक्ष को जान सकते हो। अग्नि यक्ष के पास गया और यक्ष के पूछने पर सगर्व उत्तर दिया कि मैं सब को जलाने का सामर्थ्य रखने वाला अग्नि और प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान होने से 'जातवेदाः' हूं । किन्तु यक्ष के तिनके को भी जला न सका और निराश होकर वापस आ गया । तदनन्तर देवों ने वायु से प्रार्थना की कि तुम बहुत बलवान् व वेगवान् हो, तुम ही पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है । किन्तु यक्ष के पास जाकर वायु भी शक्तिहीन ही रहा और छोटे से तिनके को भी उड़ा न सका । वायु भी निराश होकर वापस आ गया ।

यहां अग्नि और वायु को भेजने का आशय यही है कि संसार में दो ही प्रमुख शक्तियां हैं—एक प्रकाश और दूसरी गति । इनके आश्रय से प्रत्येक वस्तु को पाया जा सकता है । किन्तु परब्रह्म को प्राप्त करने में ये दोनों शक्तियां भी तुच्छ व असमर्थ हैं । अग्नि भौतिक पदार्थों में व्यापक होकर भी विना व्यक्तरूप में आए तिनके को भी नहीं जला सकता । इसी प्रकार वायु भी व्यक्तावस्था में आकर ही तृण को उड़ा सकता है, अन्यथा नहीं । और अव्यक्त से व्यक्तावस्था में अग्नि आदि को परब्रह्म ही करता है । जो भी इनमें सामर्थ्य है, वह परब्रह्म से प्रदत्त है । अतः ब्रह्म की महिमा अपार तथा विलक्षण है ।

पुनः देवों ने इन्द्र=जीवात्मा को यक्ष के पास भेजा । यक्ष इन्द्र को देखकर अन्तर्धान हो गया । इस में एक रहस्य है कि यक्ष अग्नि तथा वायु को देखकर नहीं छिपा, पुनः इन्द्र को देखकर क्यों छिपा ? अग्नि व वायु जड़ होने से जानने में असमर्थ थे, किन्तु इन्द्र=जीवात्मा चेतन और ज्ञान-गुण वाला होता हुआ भी संसार के कला-कौशलों को बनाकर गर्व से पूर्ण था । ब्रह्म के छिपने का भाव यही है कि अहङ्कार युक्त जीवात्मा भी ब्रह्म को नहीं जान सकता । जब वह योग-साधनादि से दिव्य विभूति सम्पन्न हो जाता है और उमा=ब्रह्मविद्या से दिव्य प्रज्ञा को प्राप्त कर लेता है, तब यक्षरूप ब्रह्म को जानने में समर्थ हो जाता है ।

उस यक्षरूप ब्रह्म को जानने के लिए देवों का अग्नि को यक्ष के पास जाने का कथन करते हैं—

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति॥

(केनो० ३।३)

पदार्थ—(ते) वे सब देव (अग्निम्) अग्निदेव से (अब्रुवन्) कहने लगे कि (जातवेदः) हे उत्पन्नमात्र वस्तुओं में विद्यमान अग्नि देव ! (एतत्) यह (यक्षम्) यक्ष (किमिति) कौन है, (एतत्) इस रहस्य को (विजानीहि) तुम जानो । अग्नि ने उत्तर दिया (तथा, इति) वैसा ही करता हूं ।

भावार्थ—यक्ष के तेजस्वी स्वरूप को देखकर सभी देव विस्मित थे । अतः उन्होंने देवों में तेजस्वी अग्नि को ही सर्वप्रथम यक्ष के पास भेजा । 'अग्नि' का अर्थ भी 'अग्रणीः' है जो सब को आगे ले जाए । लोक में भी जो अग्रणी होता है, उसे ही मुखिया बनाकर भेजते हैं । वैसे

अग्नि ने अग्रणी बनकर यक्ष के पास जाने की स्वीकृति दी ।

उपचाररूप से अग्निदेव यक्ष के पास जाता है–

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति ।
अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥३।४॥

***पदार्थ*—**वह अग्निदेव (तत्) उस यक्ष के (अभ्यद्रवत्) सम्मुख गया । (तम्) उस अग्निदेव से, (अभ्यवदत्) यक्ष ने कहा–(कः, असि, इति) तुम कौन हो ? इस प्रकार । (वै) निश्चय से (अग्निः) अग्निदेव (अब्रवीत्) कहने लगे कि (अहम्) मैं (अग्निः अस्मि, इति) अग्नि हूं (वै) निश्चय से (अहम्) मैं (जातवेदाः) उत्पन्नमात्र पदार्थों में विद्यमान जातवेदा हूं ।

***भावार्थ*—**यहां यक्ष और अग्नि का प्रश्नोत्तर रूप से संवाद दिखाया गया है । अग्नि ने अभिमान सहित उत्तर दिया कि मैं प्रकाश करने वाला अग्नि हूं । और प्रत्येक पदार्थ में जो रूप दिखाई देता है, वह मेरा ही है, अतः मेरा नाम 'जातवेदाः' भी है ।

यक्ष ने अग्नि से प्रश्न किया–

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥३।५॥

***पदार्थ*—**(तस्मिन् त्वयि) उस पूर्वोक्तगुणविशिष्ट तुझ अग्नि में (किम्, वीर्यम्, इति) क्या पराक्रम अथवा सामर्थ्य है ? अग्नि ने उत्तर दिया कि (यत् इदम्) यह जो कुछ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर है (अपि) निश्चय करके (इदम्, सर्वम्) इस सब को (दहेयम् इति) जला सकता हूँ ।

***भावार्थ*—**अग्नि के साभिमान वचनों को सुनकर उसकी यक्ष ने परीक्षा के लिए उसके सामर्थ्य के विषय में पूछा । अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं सभी पार्थिव वस्तुओं को जला सकता हूं ।

यक्ष अग्निदेव के सामर्थ्य की परीक्षा करते हैं–

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धुम् । स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्ष-मिति ॥३।६॥

***पदार्थ*—**यक्ष ने (तस्मै) उस अग्निदेव के लिए (तृणम्) एक तिनका (निदधौ) धर दिया और (एतत्) इस तिनके को (दह, इति)

जला दे, ऐसा कहा । अग्नि (तत्) उस तिनके के (सर्वजवेन, उपप्रेयाय) पूरे वेग से समीप गया, परन्तु (तत्) उसको (दग्धुम्) जलाने को (न, शशाक)समर्थ न हो सका । (ततः, एव) उसके बाद ही (सः) वह अग्निदेव (निववृते) वापस आ गए और दूसरे देवों से कहने लगे (यत्) जो (एतत्) यह (यक्षम्, इति) यक्ष है (एतत्) इसको (विज्ञातुम्) जानने को (न, अशकम्) मैं समर्थ नहीं हुआ ।

भावार्थ—यक्ष ने अग्नि के अहङ्कार का मर्दन करने के लिए अग्नि के सम्मुख एक छोटा सा तिनका रक्खा, किन्तु अग्नि अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनके को न जला सका और निराश होकर वापस आ गया और देवों से आकर कहने लगा कि मैं इस यक्ष को नहीं जान सका ।

अब देवता यक्ष को जानने के लिए वायु को भेजते हैं–

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ॥३।७॥

पदार्थ—(अथ) अग्नि के सामर्थ्य जानने के बाद सब देव (वायुम्) वायु-देव से (अब्रुवन्) कहने लगे कि (वायो) हे वायु-देवता! (एतत्) इसको (विजानीहि) विशेषकर जानिए कि (एतत्) यह (यक्षम्) पूजनीय यक्ष (किमिति) कौन है ? वायु ने कहा (तथा इति) वैसे ही करता हूं ।

वायु का यक्ष के पास जाना और उसका संवाद कथन करते हैं–

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति । वायुर्वा अहमस्मीत्य-ब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥३।८॥

पदार्थ—वायु देवता (तत्) उस यक्ष के (अभ्यद्रवत्) सम्मुख गया, और यक्ष (तम्) उस वायु से (अभ्यवदत्) कहने लगे कि (कः, असि, इति) तुम कौन हो ? वायु (अब्रवीत्) बोला कि (वै) निश्चय से (अहम्) मैं (वायुः, अस्मि, इति) वायु हूं । (वै) निश्चय से (अहम्) मैं वायु (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में विचरने वाला 'मातरिश्वा' नामक (अस्मि, इति) हूं ।

भावार्थ—वायु को 'मातरिश्वा' इसलिए कहते हैं कि–

"मातरिश्वा वायुः, मातरि=अन्तरिक्षे श्वसिति, मातर्यश्वनितीति

वा ॥" (निरुक्त० ७।२६)

अर्थात् अन्तरिक्ष में शीघ्र गमन करने के कारण वायु को 'मातरिश्वा' कहते हैं ।

यक्ष ने वायु-देव से पूछा–

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥३।९॥

पदार्थ—(तस्मिन्, त्वयि) पूर्वोक्त गुणों वाले तुझ वायु में (किम्) क्या (वीर्यम्) पराक्रम या सामर्थ्य है ? वायु-देव ने कहा कि (यत्, इदम्) यह जो कुछ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर है, (अपि) निश्चय से (इदम्, सर्वम्) इन सब को (आददीयम्) ग्रहण कर लूं, उठा ले जाऊं, अथवा उड़ा दूं । इस प्रकार का सामर्थ्य मुझ में है ।

यक्ष वायु-देव के सामर्थ्य की परीक्षा करते हैं–

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्ष-मिति ॥३।१०॥

पदार्थ—यक्ष ने (तस्मै) उस वायु के लिए (तृणम्) एक तिनका (निदधौ) धर दिया और कहा (एतत्) इसको (आदत्स्व) उठा ले वा उड़ा दे । वायु (सर्वजवेन) सम्पूर्ण वेग से (तत्) उस तिनके के (उपप्रेयाय) समीप प्राप्त हुआ तो भी (तत्) उस तिनके को (आदातुम्) ग्रहण करने वा उड़ाने को (न शशाक) समर्थ न हुआ । (सः) वह वायु-देव (ततः, एव) उसी समय वहां से (निववृते) लौट आया और लौटकर दूसरे देवों से बोला कि (यत्) जो (एतत्) यह (यक्षमिति) तेजस्वी यक्ष है (एतत्) इसको (विज्ञातुम्) जानने के लिए (न, अशकम्) मैं समर्थ नहीं हुआ ।

भावार्थ—वायु के सम्मुख यक्ष ने एक तिनका रखकर कहा कि इसको उड़ा । वायु ने अपने सम्पूर्ण वेग से तिनके को उड़ाने का यत्न किया, परन्तु तिनके को उड़ा न सका । तब वायु लज्जित होकर वापस आकर देवों से कहने लगा कि मैं यक्ष को जानने में असमर्थ हूं ।

यक्ष को जानने में असमर्थ वायु के बाद देवता इन्द्र को यक्ष के पास भेजते हैं–

अथेन्द्रमब्रुवन्–मघवन् ! एतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति, तथेति तदभ्यद्रवत्, तस्मात् तिरोदधे ॥३।११॥

पदार्थ—(अथ) इसके बाद सब देवता (इन्द्रम्) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा देव से (अब्रुवन्) कहने लगे कि (मघवन्) हे ऐश्वर्यसम्पन्न जीवात्मन् ! (एतत्) यह (यक्षम्) यक्ष (किमिति) कौन है ? (एतत्) इसको (विजानीहि) विशेषकर जानने का प्रयत्न करें । इन्द्र ने (तथा, इति) वैसा ही करूंगा, ऐसा कहा और (तत्) उस यक्ष के (अभ्यद्रवत्) सम्मुख गया । (तस्मात्) उस इन्द्र से यक्ष (तिरोदधे) छिप गया ।

भावार्थ—सब देवों की प्रार्थना पर इन्द्र (जीवात्मा) यक्ष के सम्मुख गया, किन्तु इन्द्र को देखकर यक्ष छिप गया । यहां जीवात्मा को ही ऐश्वर्य सम्पन्न होने से 'मघवन्' कहा गया है । यहां यक्ष के छिपने का तात्पर्य यह है कि जब यक्ष के पास अग्नि और वायु जड़ देव आए थे तो यक्ष उनसे छिपा नहीं । इसमें रहस्य यह है कि वे दोनों देव अचेतन होने से यक्ष (ब्रह्म) को कदापि जान नहीं सकते थे । परन्तु चेतन जीवात्मा चेतनशक्ति ब्रह्म को जान सकता है । यदि जीव विद्याविहीन होने से अविद्या से ग्रस्त है और सांसारिक ऐश्वर्यों में लिप्त है, तब भी परमात्मा की प्राप्ति जीव को नहीं हो सकती । ऐश्वर्यसम्पन्न इन्द्र को देखकर यक्ष के अन्तर्धान से यही भाव द्योतित हो रहा है ।

समीक्षा—आचार्य शङ्कर ने इस आख्यायिका में इन्द्र कौन है ? और उससे यक्ष का अन्तर्भाव क्यों हुआ ? वे इस रहस्य को समझने में असमर्थ ही रहे हैं । उनके विचार में इन्द्र स्वर्गस्थ देवों का राजा है । जैसा कि उन्होंने अपने भाष्य में लिखा है–

(१) **इन्द्रः=देवानामीश्वरः ।** (केनोप० ३।१)

(२) **इन्द्रः=परमेश्वरो मघवा ।** (केनो० ३।११)

(३) **स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्र एकः सर्वान् उपरि अधिवसति ।** (मु० १।२।५)

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि इन्द्र को शङ्कर-स्वामी क्या मानते हैं । स्वर्ग कहां है ? वहां का राजा इन्द्र कौन है ? वह चेतन है अथवा अचेतन ? इत्यादि अनेक प्रश्नों का उनकी व्याख्या से कोई उत्तर नहीं मिलता। उनकी स्वर्गसम्बन्धी मिथ्या कल्पनाओं पर आज के वैज्ञानिक युग में कौन विश्वास कर सकता है ? यथार्थ में न कोई स्वर्गस्थान है और

न वहां का कोई राजा इन्द्र है । केवल एक ब्रह्म की सत्ता को मानने वाले इन्द्रादि देवों को मानकर कैसे अद्वैतवाद का मिथ्या दम्भ करते हैं? और इस आख्यायिका में अग्नि वा वायु देव तो इस लोक के, उनके साथ स्वर्ग के राजा इन्द्र की सङ्गति कैसे ? अतः यह सब असङ्गत कल्पना ही है ।

'स्वर्ग' शब्द का सत्य अर्थ सुखविशेष है । इस केनोपनिषद् के (४।९) खण्ड में 'स्वर्गे लोके' शब्द पठित है । जिसका अर्थ स्वयम् आचार्य शङ्कर ने 'सुखात्मके ब्रह्मणि' किया है । स्वर्गलोक विशेष नहीं। और अन्यत्र उपनिषदों में भी जो 'स्वर्ग' का वर्णन मिलता है, वह 'मोक्ष' के लिए ही है, स्थानविशेष के लिए नहीं । जैसे–

(१) **स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।** (कठो० १।१२)

अर्थात् स्वर्ग में मृत्यु, बुढ़ापे आदि का भय नहीं होता ।

(२) **शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥** (कठो० १।१८)

अर्थात् स्वर्गलोक में शोकादि दुःखों से छूटकर आनन्द में रहता है।

(३) **एषः वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥** (मुण्डक० १।२।६)

इस की व्याख्या में आचार्य शङ्कर ने 'ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात्' स्वर्ग में ब्रह्मलोक शब्दों को पर्यायवाची माना है ।

अब विद्या की सहायता से जीवात्मा को ब्रह्मप्राप्ति का कथन करते हैं–

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥३।१२॥

पदार्थ—(सः) वह इन्द्र=जीवात्मा (तस्मिन्, एव) उसी अर्थात् जहां ब्रह्म यक्षरूप में प्रकट हुआ और अन्तर्धान हुआ, (आकाशे) हृदयाकाश में (हैमवतीम्) हिरण्यमयी दिव्यप्रज्ञावाली अथवा सन्ताप को नष्ट करने वाले शान्त्यादि गुणों से सम्पन्न (बहुशोभमानाम्) (उमाम्) ब्रह्मविद्यारूपी (स्त्रियम्) स्त्री के समीप (आजगाम) प्राप्त हुआ और (ताम्) उससे (ह) दुःखी सा होकर (उवाच) बोला कि (एतत्) यह (यक्षम्) यक्ष (किम्, इति) कौन है ?

भावार्थ—इन्द्र (जीवात्मा) को यक्ष (ब्रह्म) के अन्तर्धान होने

पर बहुत दु:ख हुआ कि वह यक्ष को जानने के लिए आया था किन्तु जानने का ही अवसर नहीं मिला । तत्पश्चात् जीवात्मा ने योगाङ्गों का अनुष्ठान करते हुए अन्त:करण को शुद्ध किया और ब्रह्मविद्या को प्राप्त किया । यही इन्द्र की उमा=ब्रह्मविद्या से यक्ष को जानने की प्रार्थना है। यहां 'उमा' कोई स्त्रीविशेष नहीं है अपितु 'उमा ब्रह्मविद्या' (तैत्तिरीयोप० १।४८) इस प्रमाण से ब्रह्मविद्या का नाम ही 'उमा' है । 'उमा' अर्थ ही—'उम्=परमात्मानं माति प्रमापयति' अर्थात् जो परब्रह्म का ज्ञान कराती है । जब जीव योगसाधना करके दिव्य प्रज्ञा प्राप्त करता है, तब ब्रह्मविद्या से मिलन=ब्रह्म-प्राप्ति होती है और यक्ष (ब्रह्म) को जान पाता है । योग की दिव्यविभूतियां प्राप्त करना ही ब्रह्मविद्या (उमा) के दिव्य आभूषण हैं । इस उमा (ब्रह्मविद्या) से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, इस विषय में उपनिषदों में अन्यत्र भी कहा है—दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म- दर्शिभि: ।। (कठोप०) अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान सूक्ष्मबुद्धि से होता है । यह सूक्ष्मबुद्धि ब्रह्मज्ञान से ही होती है ।

ब्रह्म की प्राप्ति कहां होती है ? इस प्रश्न का भी यहां स्पष्ट समाधान किया है । ब्रह्म को खोजने के लिए बाह्य जगत् की कोई आवश्यकता नहीं होती । ब्रह्म को तो हृदय रूप आकाश में प्राप्त किया जाता है, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् (प्रपा० ८ । मं० १) में स्पष्टरूप से कहा है—

अथ यदिमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तरा-काशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।।

इसका अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ।" (ऋ० भू० उपासनाविषय)

इस खण्ड में वर्णित आख्यायिका के विषय में **महर्षि दयानन्द** कहते हैं—

"केनोपनिषद् में एक यक्ष की वार्त्ता है । यक्ष ने अग्नि के सम्मुख तृण डाला और अग्नि से कहा कि इस तिनके को तू जला दे । अग्नि से वह तिनका न जल सका, फिर वायु से कहा कि तू इस तिनके को उड़ा ले जा, वायु से भी वह तिनका न उड़ सका । ऐसा कहकर जो हैमवती नामक ब्रह्मविद्या है, उसका माहात्म्य दर्शाया है ।" (पूना प्रवचन ७४ पृ०)

इस तृतीय खण्ड में आलङ्कारिक आख्यायिका के द्वारा ब्रह्म की महत्ता, अग्नि आदि समस्त देवों की ब्रह्म की शक्ति से ही शक्तिसम्पन्नता, ब्रह्म का अविद्याग्रस्त से छिप जाना और विद्वान् व शान्त्यादि गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान होना इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है ।

इति केनोपनिषद्भाष्ये तृतीयः खण्डः ।।

अथ केनोपनिषदि चतुर्थः खण्डः

अब ब्रह्मविद्या के द्वारा जीव को ब्रह्म-प्राप्ति का कथन करते हैं—

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ।
ततो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।४।१।।

पदार्थ—(सा) वह उमा=ब्रह्मविद्या (ह) निश्चय से (इति) इस प्रकार (उवाच) कहने लगी कि वह यक्ष (ब्रह्म, इति) ब्रह्म ही है । तुम सब (वै) निश्चय करके (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (एतद्विजये) इस विजय में (महीयध्वम्) पूजा को प्राप्त करो । (इति) इस प्रकार (ततः) उमा=ब्रह्मविद्या से जानने के बाद जीव (विदाञ्चकार) ब्रह्म के तत्त्व को समझ गया कि (ब्रह्म, इति) यह यक्ष ब्रह्म ही है ।

भावार्थ—उस ब्रह्मविद्या के द्वारा देवों को यह ज्ञान हुआ कि यह तेजस्वी यक्ष ब्रह्म ही है । देवों में इन्द्र=जीवात्मा ने चेतन होने के कारण ब्रह्म-तत्त्व को समझ लिया । और यह भी देव जान गए कि ब्रह्म ही सर्वोत्कृष्ट शक्ति है, उसी की विजय में हमारी विजय है । अर्थात् उसी की स्तुति, प्रार्थना व उपासना करने से हमारी उन्नति सम्भव है, अन्यथा नहीं । जो उस ब्रह्म की शक्ति को न मानकर भौतिक देवों को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, उनके लिए यह उपदेश दिया है कि वे भ्रान्त हैं। क्योंकि उस ब्रह्म की अद्वितीय शक्ति से ही ये भौतिक अग्नि आदि कार्य कर रहे हैं । इनमें स्वतः कोई सामर्थ्य नहीं है । उससे बड़ा तथा उसके

समान भी कोई देव नहीं है ।

इस प्रकरण को अथवा इस आलंकारिक आख्यायिका को न समझ कर जो व्यक्ति यक्षावतार की कल्पना करते हैं और हिमालय की पुत्री उमा ने इन्द्र=जड़ बिजली को यह उपदेश दिया, ऐसा मानते हैं, उनकी मान्यता असत्य, असम्भव तथा उपनिषदों के वचनों से विरुद्ध होने से कैसे माननीय हो सकती है । हिमालय की पुत्री कौन है ? उसका जड़ बिजली को उपदेश का क्या प्रयोजन है ? और बिजली के पास उमा का स्थित रहना कैसे सम्भव है ? इत्यादि प्रश्नों का कोई उत्तर न देकर कैसे इस मान्यता को बलात् मनवाया जा सकता है ।

अब इन्द्रादि देवों की अन्य देवों से उत्कृष्टता का कथन करते हैं–

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते । ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥४।२॥

***पदार्थ*—**(यत्) जिस कारण से (अग्निः, वायुः, इन्द्रः) अग्नि, वायु और इन्द्र (एते देवाः) इन तीन देवों ने (हि) निश्चय करके (एनत्) इस यक्ष=ब्रह्म को (नेदिष्ठम्) अत्यन्त समीपता से (पस्पर्शुः) स्पर्श किया अर्थात् ब्रह्म को जानने के लिए अग्रसर हुए और (हि) निश्चय से इन्होंने ही (एनत्) इस यक्ष=ब्रह्म को (प्रथमः) सब से प्रथम (ब्रह्म, इति) ब्रह्म है, ऐसा (विदाञ्चकार) जानने का यत्न किया अथवा जाना, (तस्मात्) इसी कारण (एते देवाः) ये तीनों देव (अन्यान् देवान्) अन्य देवों की अपेक्षा (अतितराम् इव) मानो अधिक उत्कृष्ट हैं ।

***भावार्थ*—**इस श्लोक में अन्य देवों की अपेक्षा अग्नि, वायु तथा इन्द्र=जीवात्मा को श्रेष्ठ इसलिए बताया है कि इन्होंने ब्रह्म को सर्वप्रथम जानने का प्रयत्न किया । तात्पर्य यह है कि अग्नि प्रकाश का और वायु गति का देवता है । इनके सहयोग से चेतन इन्द्र=जीव ब्रह्म को जानने में समर्थ होता है । अर्थात् अग्नि व वायु दोनों ही मानव-जीवन के मुख्य आधार हैं, जिस मानवजीवन में ही इन्द्र=जीव ब्रह्म-प्राप्ति कर सकता है।

अब अग्नि व वायु की अपेक्षा इन्द्र=जीवात्मा की श्रेष्ठता का कथन करते हैं–

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥४।३॥

पदार्थ—(हि) क्योंकि (सः) इन्द्रः=जीवात्मा ने (वै) निश्चय करके (एनत्) इस ब्रह्म के (नेदिष्ठम्) चेतन ज्ञानादि गुणों के कारण अतीव समीप से (पस्पर्श) स्पर्श किया, ब्रह्म को जानने के लिए उपासनादि यत्न किए और (सः) उस इन्द्र ने (एनत्) इस ब्रह्म को (हि) निश्चय से (ब्रह्म, इति) यह यक्ष ब्रह्म है, इस प्रकार (प्रथमः) सर्वप्रथम (विदाञ्चकार) जाना (तस्मात्) इसी कारण इन्द्र देवता (अन्यान् देवान्) अग्नि आदि देवों की अपेक्षा (वै) निश्चय करके (अतितराम् इव) मानो अधिक उत्कृष्ट हुआ ।

भावार्थ—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०" मन्त्र में जीवात्मा व परब्रह्म को कतिपय ज्ञान चेतनादि गुणों की समानता के कारण 'सयुजा सखाया' कहा है । किन्तु जीव-ब्रह्म एक कदापि नहीं हैं । दोनों के परस्पर व्याप्य-व्यापक, सेव्य-सेवक, उपास्य-उपासकादि सम्बन्ध हैं । अग्नि आदि अचेतन देवों की अपेक्षा चेतन इन्द्र=जीवात्मा ब्रह्म की उपासनादि करने के कारण ब्रह्म के नेदिष्ठम्=अत्यन्त समीप है । इसीलिए इन्द्र अन्य देवों में श्रेष्ठ है ।

अब ब्रह्मज्ञान को विद्युत् के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं–

तस्यैष आदेशो यदैतद् विद्युतो व्यद्युतत्तदा इतीति, न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ॥४।४॥

पदार्थ—(तस्य) उस प्रकट तथा अन्तर्धान हुए यक्षरूप ब्रह्म का (एषः) यह पूर्वोक्त (आदेशः) दृष्टान्त है अर्थात् आलङ्कारिक वर्णन है। वह यक्षरूप ब्रह्म (विद्युतः, आ) बिजली की तरह (आ इति उपमार्थे) (व्यद्युतत्) चमका तथा (आ, न्यमीमिषत्) आंख की झपक के सदृश प्रकट हुआ और छिप गया (इति) इस प्रकार का (अधिदैवतम्) देवता विषयक उपमा देकर ब्रह्म का उपदेश किया है ।

भावार्थ—ब्रह्मरूप यक्ष के प्रकट होने तथा बाद में छिपने के दृष्टान्त से यह भी स्पष्ट किया गया है कि जब योगी अपनी चित्तवृत्तियों को रोककर ब्रह्म की तरफ लगाता है तो उस प्रथमावस्था में कभी-कभी ब्रह्म का वैसा ही प्रकाश प्रतीत होकर छिप जाता है, जैसे बिजली चमक कर तत्काल छिप जाती है । तत्पश्चात् व्यापक ब्रह्म का योगी के हृदय में अवभास धीरे-धीरे बढ़ने लगता है । योगी उस ब्रह्म के प्रकाश तथा

आनन्द के लिए फिर अनवरत प्रयास करने लगता है । यद्यपि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन बाह्य किसी भी पदार्थ से नहीं किया जा सकता । वह तो अवर्णनीय है पुनरपि बाह्य देवता की उपमा से यहां सामान्यजनों को बोध कराया गया है ।

ब्रह्म-ज्ञान को मन के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं–

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्य-भीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥४।५॥

पदार्थ—(अथ) आधिदैविक दृष्टान्त के बाद (अध्यात्मम्) शरीर के भीतर (अन्तःकरणविषयक) मन का ब्रह्मज्ञान में दृष्टान्त देते हैं । (यत्) जिस पूर्वोक्तगुणवाले ब्रह्म के प्रति (एतत्, मनः) यह मन (गच्छति, इव) चलता हुआ सा जान पड़ता है । (च) और (अनेन) इस मन से (अभीक्ष्णम्) बार-बार (सङ्कल्पः) निश्चय करके (उपस्मरति) समीपता से ब्रह्म का स्मरण करता है ।

भावार्थ—यहां अध्यात्म उपदेश है अर्थात् जिसको ब्रह्म को जानने और दुःखों से छूटने की इच्छा हो वह पुरुष इस प्रकार ध्यान करे कि मेरा मन उस परम ज्योति ब्रह्म की ओर जा रहा है, मेरा यही दृढ़ सङ्कल्प हो कि मैं ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ही सदा पूर्ण यत्न कर रहा हूं । यथार्थ में जब योगी की ब्रह्माकार वृत्ति हो जाती है तो उसका मन बाह्यविषयों से निरुद्ध होकर परब्रह्म की तरफ जाता सा प्रतीत होने लगता है । यथार्थ में सर्वव्यापक परब्रह्म तो मन में भी विद्यमान है, अतः मन कहीं जाता नहीं । और अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रकाश होने से मन ब्रह्म का ही अनवरत चिन्तन करता है । जैसा कि योगदर्शनकार मुनि ने भी कहा है–

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (योग०)

अर्थात् चित्त की वृत्तियों के बाह्यविषयों से निरोध होने पर द्रष्टा=परब्रह्म के स्वरूप में स्थित हो जाता है ।

ब्रह्म ही उपासना के योग्य है, यह कथन करते हैं–

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवम् ।
वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥४।६॥

पदार्थ—(तत्) वह पूर्वोक्त ब्रह्म (ह) निश्चय से (तद्वनम्)

योगियों वा विद्वानों से सेवन करने योग्य है, अतः उसका (नाम) प्रसिद्ध (तद्वनम्) 'तद्वन' नाम है, (इति) इस प्रकार (उपासितव्यम्) उस ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए । (सः, यः) सो जो मनुष्य (एतत्) इस ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (अभिवेद) सब प्रकार से जानता है, (एनम्) उस उपासक की (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (ह) निश्चय से (संवाञ्छन्ति) इच्छा करते हैं अर्थात् उस उपासक का सब सम्मान करते हैं और उसके अनुयायी बन जाते हैं ।

भावार्थ—सब देवों का एक मात्र ब्रह्म ही आश्रय करने योग्य होने से सर्वोत्कृष्ट है । उसी की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिए जो उपासक इस रहस्य-विद्या को जानकर ब्रह्म से भिन्न जड़ देवों की उपासना का परित्याग कर देता है, वह ही वास्तव में ज्ञानी कहलाता है। उस सच्चे उपासक की ही सदा लोक में प्रतिष्ठा होती है और दूसरे मनुष्य उसको हृदय से चाहते हैं । सच्चा उपासक प्राणीमात्र में ब्रह्म की सत्ता मानकर सब के साथ प्रेम का व्यवहार करता है, और राग-द्वेषादि से शून्य होने के कारण सब प्राणियों का प्यारा बन जाता है ।

उपनिषत् के प्रारम्भ में शिष्य द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देकर गुरु अब उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं–

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥४।७॥

पदार्थ—हे शिष्य तुमने कहा था कि (भोः) हे पूज्य गुरुदेव ! (उपनिषदम्) ब्रह्मविद्या को (ब्रूहि, इति) कहिए, इस प्रकार । गुरु ने कहा सो (ते) तेरे लिए (उपनिषद्) ब्रह्मविद्या (उक्ता) मैं कह चुका (वाव) निश्चय करके (ते) तेरे लिए (ब्राह्मीम्) ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी (उपनिषदम्) रहस्य विद्या को (अब्रूम, इति) हम कथन कर चुके हैं । 'इति' शब्द ब्रह्मविद्या के पूर्ण होने का सूचक है ।

भावार्थ—शिष्य ने गुरु से 'केनेषितं' इत्यादि कहकर ब्रह्मविद्या के विषय में जिज्ञासा की थी । गुरु ने ब्रह्मविद्या का उपदेश करके उसकी समाप्ति की सूचना यहां दी है । इसे 'ब्राह्मी उपनिषद्' कहकर गुरु ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि देव और यक्ष की जो आख्यायिका इसमें दी गई है, वह ब्रह्म को समझाने के लिए ही दी गई है । ब्रह्म से

भिन्न यक्ष कोई अन्य देव नहीं है ।

अब ब्रह्मविद्या का प्रवचन करने के बाद गुरु ब्रह्म-विद्या प्राप्ति के साधनों का शिष्य के प्रति कथन करते हैं—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः ।
सर्वाङ्गानि सत्यम् आयतनम् ॥४।८॥

***पदार्थ*—**(तस्यै) उस ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए (तपः) शीत-उष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभ इत्यादि द्वन्द्वों की सहनशीलता, (दमः) मन तथा बाह्येन्द्रियों का निग्रह, (कर्म) वेदोक्त अग्निहोत्रादि तथा सदाचरणादि कर्म (इति) ये ही तीन ब्रह्म-ज्ञान के मुख्य साधन हैं । और (प्रतिष्ठाः) दुष्कर्मों को छोड़कर सत्कर्मों के अनुष्ठान से लोक में प्रतिष्ठा=प्रशंसा प्राप्त करना, अथवा शरीर, इन्द्रिय तथा मन की चञ्चलतारहित स्थिति प्रतिष्ठा कहाती है, (वेदाः) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चारों वेदों (सर्वाङ्गानि) और वेद के छः अङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र और ज्योतिष शास्त्र) का पठन-पाठन (सत्यम् आयतनम्) सब श्रेष्ठ व्यवहारों के आधार सत्य का मन, वचन, कर्म से आचरण करना, ये पूर्वोक्त तप आदि साधनों के सहायक साधन हैं ।

***भावार्थ*—**ब्रह्मविद्या प्राप्ति के साधनों में सत्य को आयतनम्=आधार माना है । क्योंकि सत्याचरण के विना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती । जैसा कि मनु ने कहा है—'मनः सत्येन शुध्यति' अर्थात् मन की शुद्धि सत्य से होती है । जब तक अन्तःकरण मलीन है, तब तक उपर्युक्त सभी साधन निरर्थक ही रहते हैं । अर्थात् सभी साधनों का मुख्य लक्ष्य है—मन की शुद्धि । जैसे कि कहा है—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ (मनु०)

जो मलीन अन्तःकरण वाला पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते । और अन्तःकरण की शुद्धि में मुख्य साधन सत्य है, अतः सत्याचरण को "आयतन" कहा है। किसी कवि ने सत्य का माहात्म्य ठीक ही कहा है—

अश्वमेधसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्त्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते ॥

अर्थात् हजारों अश्वमेध यज्ञों के करने से जो फल मिलता है, सत्याचरण से उससे भी अधिक फल मिलता है ।

अब ब्रह्मविद्या के फल का कथन करते हैं—

यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानम्, अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतिष्ठिति प्रतितिष्ठति ॥४।९॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (एताम्) इस केनोपनिषद् में वर्णित ब्रह्मविद्या को (एवम्) इस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त साधनों सहित (वै) निश्चय से (वेद) जानता है, वह (पाप्मानम्) जन्म-जन्मान्तरों से सञ्चित अन्तःकरण की मलीन वासनाओं को (अपहत्य) नष्ट करके (अनन्ते) जन्म-मरणादि से अपरिच्छिन्न तथा विनाशरहित (ज्येये) सर्वोत्कृष्ट (स्वर्गे लोके) मोक्ष में (प्रतितिष्ठति) दुःखों से छूटकर स्थित हो जाता है । 'प्रतितिष्ठति' शब्द के दुबारा पाठ का प्रयोजन है— अतिशयकर स्थिति बताने तथा ग्रन्थ की समाप्ति बताने के लिए है ।

भावार्थ—'विद्ययाऽमृतमश्नुते' (यजु०) विद्या से अमृत=मोक्ष की प्राप्ति होती है । इस वैदिक विधि के अनुसार उपनिषत्कार ने उसे स्पष्ट कर समझाया है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद्या और तप, दम=जितेन्द्रियता तथा कर्म=धर्माचरणादि दोनों आवश्यक हैं । इसी भाव को यहां "एवम् वेद" कहकर स्पष्ट किया है । और यहां यह भी संकेत किया है कि ब्रह्मविद्या ज्ञानयोग व कर्मयोग का समन्वितरूप ही है । ज्ञानयोग के विना कर्मयोग नेत्रहीन अन्धे के समान और कर्मयोग के विना ज्ञानयोग पङ्गुवत् ही अधूरा रहता है । और अन्तःकरण की मलीन पाप-वासनाएं ब्रह्म की उपासना से दग्ध हो जाती हैं, यही पापों का दूरीकरण है । किन्तु पापकर्मों का फल अवश्य भोगना होता है । 'स्वर्ग' कोई ऊपर स्थान-विशेष नहीं है, यह विशेषसुख मोक्ष के लिए यहां प्रयुक्त हुआ है । आचार्य शङ्कर ने भी यहां स्वर्ग का अर्थ "सुखात्मके ब्रह्मणि" ही किया है । अतः स्वर्गलोक की कल्पना, उसे एक स्थान-विशेष मानना वहां पर देवों का निवास और वहां का राजा इन्द्र है, इत्यादि पौराणिक-कल्पनाएं मिथ्या ही हैं । और यहां 'स्वर्ग' के लिए 'अनन्ते' विशेषण पठित है, जिसका अर्थ आचार्य शङ्कर ने 'अपर्यन्ते' किया है । जिसका अर्थ उन्होंने यह लगाया है कि मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं होती,

अतः अनन्त काल तक मोक्ष होता है । किन्तु यह अर्थ उपनिषत्कारों तथा वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से कदापि माननीय नहीं हो सकता। युक्ति से भी इसका खण्डन हो जाता है । मोक्ष का सुख हमारे कर्मों का ही फल है, अतः हमारे सान्तकर्मों का फल अनन्त कैसे सम्भव है ? यह ईश्वरीय कर्मफल-व्यवस्था से विरुद्ध मान्यता है । ब्रह्म में जीव का लय मानकर अद्वैतवादी ऐसा अर्थ करते हैं किन्तु जीवात्मा चेतन और ब्रह्म से भिन्न नित्य सत्ता है, यह हमने इसमें स्थान-स्थान पर सप्रमाण दर्शाया है । अतः मोक्ष में जीव का लय कभी नहीं होता । "ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।" (मुण्डक०) इत्यादि उपनिषत् की अन्तःसाक्षी से स्पष्ट है कि जीवों की मोक्ष से पुनरावृत्ति होती है । अतः यहां 'अनन्ते' पद का अर्थ 'विनाशरहित' अथवा 'मृत्यु' आदि से 'रहित' ही उचित तथा सङ्गत है ।

इस चतुर्थ-खण्ड में ब्रह्मविद्या, इन्द्रादि देवों की उत्कृष्टता, ब्रह्मज्ञान में विद्युत् तथा मन का दृष्टान्त, ब्रह्म ही उपासनीय है, ब्रह्मप्राप्ति के साधनों का वर्णन तथा ब्रह्मविद्या के फलादि विषयों का वर्णन किया गया है ।

इति केनोपनिषद्भाष्ये चतुर्थः खण्डः ।।

समाप्ता चेयं ब्राह्मी केनोपनिषद् ।।

कठोपनिषत्-प्राक्कथनम्

यह कठोपनिषद् यजुर्वेद की कठशाखान्तर्गत है । 'कठ' महर्षि का नाम है, उनसे प्रोक्त उपनिषद् भी 'कठ' नाम से ही प्रसिद्ध हो गई। कठ-शाखा का यह उपनिषद्-भागमात्र ही अधिक प्रचरित है ।

अध्यात्म-ज्ञान के स्रोत उपनिषदों का मुख्य प्रयोजन यही है कि ब्रह्म-स्वरूप का बोध कराना तथा मानव को सांसारिक-दुखों से मुक्त करके मोक्ष-प्राप्ति कराना । इस उपनिषद् में यमाचार्य-नचिकेता के गुरु-शिष्य संवाद रूप में ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है । यह एक आलङ्कारिक वर्णन है । महर्षि-दयानन्द ने इस विषय में बहुत स्पष्ट लिखा है-

"नचिकेता और यम इन दोनों का यह परस्पर संवाद है कि हे नचिकेतः ? जो अवश्य प्राप्त करने के योग्य परब्रह्म है, उसी का मैं तेरे लिए संक्षेप से उपदेश करता हूं । और यहां यह भी जानना उचित है कि अलङ्कार रूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिए ।" (ऋ० भू० वेदविषय०)

अतः नचिकेता और यम ये कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं । इस उपनिषद् की अन्तःसाक्षी से भी यही स्पष्ट होता है कि यह आलङ्कारिक संवाद है-

(१) **नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ॥** कठो० ३।१६।।

अर्थात् यह सनातन नाचिकेत-उपाख्यान है । 'उपाख्यान' शब्द आख्यान का पर्यायवाची ही है ।

(२) इस उपनिषद् में यम को मृत्यु, वैवस्वत तथा अन्तकादि शब्दों से कहा गया है । जो किसी व्यक्ति-विशेष के वाचक नहीं हो सकते । और इस की पुष्टि निम्न वाक्य से और अधिक हो रही है

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।। (२।६)

अर्थात् जो ऐसा मानता है कि यह लोक ही है, परलोक नहीं है, वह बार-बार मेरे वश में आता है । इससे स्पष्ट है कि यम व्यक्ति नहीं है । यह परब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त है, क्योंकि जीव उसकी कर्मफल भोगने की व्यवस्था के ही वशीभूत रहता है ।

इस रहस्य को वेद के मन्त्र में भी समझा जा सकता है–

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि ॥ (अथर्व० ६।१३३।३)

अर्थात्–ब्रह्मचारी=ब्रह्म को जानने का इच्छुक कहता है कि मैं मृत्यु=परमात्मा का ब्रह्मचारी हूं। ब्रह्मचर्य का पालन तभी सम्भव है कि जब वह परब्रह्म को अपना आचार्य मानता हो, क्योंकि यह मृत्युरूप आचार्य उसकी प्रत्येक चेष्टा को देखता है, अतः दुष्कर्म से बचा जा सकता है।

'मृत्यु' शब्द से यहां जन्म-मरण रूप दुःख भी अर्थ ले सकते हैं। क्योंकि इस सांसारिक दुःख से सन्तप्त मानव ही दुःखमोचक परब्रह्म की शरण में जाने का प्रयत्न करता है। अतः मृत्यु ही मानो परब्रह्म का उपदेश दे रहा है। महात्मा बुद्ध और महर्षि दयानन्द के जीवन की घटनाएं इस विषय को और स्पष्ट कर देती हैं, जो मृत्यु को देखकर इतने सन्तप्त हुए कि पूर्ण विरक्त होकर तथा सांसारिक सुखों को त्यागकर परब्रह्म के ही ध्यान में लग गए। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी जैसा नास्तिक महर्षि दयानन्द के मृत्यु-दृश्य को देखकर ईश्वर-भक्त बन गया। इसी प्रकार अत्याचारी पापी जन भी बहुधा मृत्यु से भयभीत होकर धार्मिक व आस्तिक बनते देखे जाते हैं। यही जीवात्मा को मृत्यु की शिक्षा है।

'नचिकेताः' शब्द का अर्थ भी जीवात्मा के साथ सङ्गत होता है निघण्टु में 'चिकेतति' क्रिया गत्यर्थक धातुओं में पठित है, उससे औणादिक प्रत्यय करने पर 'चिकेतस्' पद बनता है। उससे नञ्समास करने पर छन्दोवत् मानकर 'नञ्' के 'न' का लोप 'नक्षत्र' 'नकुल' आदि शब्दों के समान नहीं हुआ। जिसका अर्थ हुआ–जो शरीर में अविचल=अपरिणामी रहता है, उस अमर जीवात्मा को 'नचिकेताः' कहते हैं। 'यम' शब्द परमात्मा का नाम है। जिसका अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है–

(क) "(यमु उपरमे) इस धातु से 'यम' शब्द सिद्ध होता है। 'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः' जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता है और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसलिए परमात्मा का नाम 'यम' है।" (स० प्र० प्र० समु०)

(ख) यमस्य=सर्वनियन्तुः (ईश्वरस्य)।

(ऋ० १।८३।५ महर्षिभाष्यम्)

यमः=यन्ता (परमेश्वरः) । (यजु० ३५।१ महर्षिभाष्यम्)

इस प्रकार 'यम' शब्द वेदों में भी परमात्मा के लिए प्रयुक्त है । और उपनिषत् की अन्तःसाक्षी से भी यम का अर्थ परमात्मा सिद्ध होता है ।

"लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।" (कठो० १।२७) नचिकेता कहता है कि हे यम ! यदि आप को जान लेंगे तो धनादि तो स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगे ।

यहां सर्वविध धनों का दाता तथा 'जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम्' जीवन देने वाला होने से यम परमात्मा से भिन्न कोई नहीं हो सकता । अतः यम परमात्मा और नचिकेता जीवात्मा का यह आलङ्कारिक वर्णन है ।

तीनों वरदानों का आध्यात्मिक स्वरूप–

सभी उपनिषदों का चरम-उद्देश्य आत्मा तथा परमात्मा का ज्ञान कराना है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष-प्राप्ति कराना है । कठोपनिषद् में नचिकेता ने यमाचार्य से तीन वरदान मांगे हैं–(१) पिता की प्रसन्नता (२) स्वर्ग्य-अग्नि (यज्ञविद्या) का उपदेश (३) मरने के बाद आत्मा की सत्ता है या नहीं और परमात्मज्ञान । इन तीनों वरदानों को यथार्थ में समझने के लिए हमें मानवजीवन के लक्ष्य को जानना परमावश्यक है । न्यायदर्शन के ४।१।५९ सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि इस विषय में लिखते हैं–

"जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते । ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः ।"

अर्थात् जो गृहस्थ ब्राह्मण=ब्रह्म को जानना चाहता है, उसको तीन ऋणों से मुक्त होना परमावश्यक है । तीन ऋण ये हैं–ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण । इनकी निवृत्ति के ये उपाय हैं–ऋषि-ऋण की निवृत्ति ब्रह्मचर्य=वेद-पठन, ब्रह्म की उपासना तथा संयम से होती है। देव-ऋण की निवृत्ति यज्ञ के द्वारा होती है और पितृ-ऋण की निवृत्ति उत्तम सन्तान से होती है । नचिकेता ने भी प्रथम वरदान में पितृ-ऋण से निवृत्त होने के लिए, द्वितीय वरदान में यज्ञविद्या से देव-ऋण से मुक्त होने के लिए तथा तृतीय वरदान में ऋषि-ऋण से मुक्त होने के लिए ब्रह्म=परमात्मा के ज्ञान की प्रार्थना की है ।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दुःखों से निवृत्ति चाहने वाले

मनुष्य को क्रमशः तीनों ऋणों से मुक्त होने का यत्न करना चाहिए । अतः तीनों वरदान आध्यात्मिक-ज्ञान के लिए क्रमशः सोपान (सीढ़ी) की भांति हैं ।

(प्रश्न) क्या संन्यासी के लिए भी इन तीन ऋणों से मुक्त होना आवश्यक है ?

(उत्तर) जो मनुष्य गृहस्थ में प्रवेश करता है, उसको तीनों ऋणों से मुक्त होना परमावश्यक है, किन्तु जिसने ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले लिया है, उसके लिए इन ऋणों का बन्धन नहीं है । न्यायदर्शन के भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन ने 'जायमानो ह वै०' इस प्रमाण की व्याख्या करते हुए लिखा है–'गृहस्थः सम्पद्यमानो जायमानः ।" जब मनुष्य गृहस्थ में प्रवेश करता है, तब वह इन ऋणों से बंधता है । कठोपनिषद् में जो आध्यात्मिक वरदानों का वर्णन है, वे भी मध्यम मार्ग के पथिकों के लिए एक सामान्य-पद्धति का ही निर्देश दे रहे हैं । 'ऋण' शब्द यहां प्रधानार्थ को न कहकर 'ऋणैरिव ऋणैः' लाक्षणिक 'ऋण के समान' अर्थ में प्रयुक्त है । जो गृहस्थी इन ऋणों को नहीं चुकाता वह ऋणी व्यक्ति की तरह निन्दनीय होता है और ऋण-मुक्त प्रशंसनीय होता है ।

आचार्य-शङ्कर ने प्रथम दो वरदानों के विषय में लिखा है–

"वरद्वयसूचितं वस्तु नात्मतत्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम् ।"

(कठो० १।१९)

अर्थात् प्रथम दो वरदान आत्म-तत्त्व का विज्ञान नहीं कराते । यह उनका कथन उपनिषत् के आशय से विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है । जिस उपनिषद् का प्रयोजन बताते हुए स्वयं श्री शङ्कराचार्य ने लिखा है– **"प्रयोजनं चास्य उपनिषद आत्यन्तिकी संसार-निवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्ति-लक्षणा ।"** (कठो० के भाष्यारम्भ में) अर्थात् इस उपनिषत् का प्रयोजन है संसार से अत्यन्त निवृत्ति होने से ब्रह्मप्राप्ति कराना । यदि ये दोनों वरदान आत्मतत्त्वबोध कराने में कथञ्चिदपि सहायक नहीं तो इस उपनिषद् में उनका कथन निरर्थक ही हो जायेगा ।

यथार्थ में श्री शङ्कराचार्य कोई एक निश्चित धारणा न करके ही उपनिषदों का भाष्य कर गए हैं । वे अग्निहोत्रादि श्रेष्ठ कर्मों को भी त्याज्य समझते हुए लिखते हैं–**"नहि कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठता सम्भवति कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात् ।"** (मुण्डक १।२।१२) अर्थात् अग्निहोत्रादि

कर्मों के करने से ब्रह्मनिष्ठ नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म और आत्मज्ञान में परस्पर विरोध है । दूसरे स्थान पर लिखते हैं–**"वैराजं पदं ज्ञानकर्म-समुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ।"** (कठो० १।१७) अर्थात् वैराजपद=ब्रह्म का ज्ञान तथा कर्मों के अनुष्ठान से प्राप्त होता है । क्या इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध नहीं है ?

उपनिषत्कार का आशय तो बहुत ही स्पष्ट है कि तीनों वरदानों से आत्मज्ञान होता है । जब तक मानव अपने मानवीय कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता, और अग्निहोत्रादि श्रेष्ठ कार्यों के करने से बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि नहीं कर पाता, तब तक वह आत्मज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी नहीं बन सकता और नहीं सुख–शान्ति प्राप्त कर सकता है । जिन्हें उपनिषत्कार ने **"मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य"** (कठो० १।१८) कहकर मृत्यु के जाल माने हैं । जिनका अर्थ स्वयम् आचार्य शङ्कर ने 'अधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान्' किया है, उनसे निवृत्त होने के लिए ही प्रथम दोनों वरदान परमोपयोगी हैं। आचार्य शङ्कर ने उपनिषद्–भाष्य में अनेक स्थानों में ज्ञान और कर्म में विरोध मानकर लिखा है, किन्तु उपनिषत् की अन्तःसाक्षी से उनका कथन परस्पर विरुद्ध है और मिथ्या ही है । प्रमाणस्वरूप कुछ अन्य उद्धरण–

(क) **'परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः ॥**
(ईशावा० १८ । शा०)

(ख) **'अविद्यां=विद्याया अन्या अविद्या तां कर्मेत्यर्थः कर्मणो विद्या-विरोधित्वात् । तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेवोपासते ।"**
(ईशावा० ९ । शा०)

(ग) **'पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता, द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति, उच्यते ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यम् ।"**
(ईशावा० २। शा०)

अर्थ–

(क) परमात्मविद्या और कर्म का विरोध होने से समुच्चय नहीं हो सकता।

(ख) विद्या से भिन्न को अविद्या कहते हैं और वह कर्म ही अविद्या है। कर्म विद्या का विरोधी है ।

(ग) प्रथम (ईशावा०) मन्त्र में संन्यासी के लिए ज्ञाननिष्ठा कही गई और दूसरे (कुर्वन्नेवेह०) मन्त्र में ज्ञान में असमर्थ के लिए कर्म–निष्ठा कही गई है । ज्ञान और कर्म का पर्वत के तुल्य अविचलित विरोध है ।

इस प्रकार आचार्य-शङ्कर की मान्यता स्पष्ट है कि ज्ञान और कर्म में परस्पर विरोध है । किन्तु उनकी यह मान्यता उनके अपने भाष्य से तथा उपनिषत्कार की अन्त:साक्षी के विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती । देखिए कतिपय उनके उद्धरण–

१–**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣲ समाः॥** (ईशा० २ मन्त्र)

इसकी व्याख्या में स्वयं श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं–"कुर्वन्नेव निर्वर्त्तयन्नेवेह कर्माण्यग्निहोत्रादीनि जिजीविषेत्=जीवितुमिच्छेच्छतं शत-संख्याकाः समाः संवत्सरान् ।" अर्थात् मनुष्य १०० वर्ष तक अग्निहोत्रादि कर्मों को करता हुआ ही जीने की इच्छा करे । जब श्री शङ्कराचार्य जी मनुष्य की पूर्णायु–'तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम्' सौ[१] वर्ष ही मानते हैं, तब इन शुभकर्मों का त्याग कैसे सम्भव है ।

२–**त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् जन्म-मृत्यू ॥**
(कठो० १।१७)

इसकी व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं–"त्रिकर्मकृत्=इज्याध्ययनदानानां कर्त्ता तरति=अतिक्रामति जन्म-मृत्यू ।" अर्थात् यज्ञ, अध्ययन तथा दान इन तीन कर्मों को करने वाला जन्म व मृत्यु का उल्लङ्घन कर जाता है । अर्थात् आवागमन के चक्र से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । जब यज्ञादि कर्मों से भी मोक्ष-प्राप्ति होती है तो ये कर्म परमात्म-ज्ञान में बाधक कैसे हो सकते हैं ?

३–**त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य०**
(कठो० १।१८)

अर्थात् जिसने इस अग्नि का तीन प्रकार अर्थात् आहवनीयादि रूप में चयन किया है, वह मृत्यु के बन्धनों से छूटकर स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है । यहां परमात्म-ज्ञान का तथा अग्निहोत्रादि पुण्यकर्मों का उद्देश्य एक ही माना है फिर इनमें विरोध कैसे सम्भव है ?

४–**ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥** (कठो० २।१०)

नचिकेता से यमाचार्य कहते हैं कि–**मैं यज्ञादि से प्राप्त होने**

---

१. यद्यपि यह उनकी मान्यता सत्य नहीं है । वेद में स्पष्ट कहा है कि–"भूयश्च शरदः शतात्" (यजु०) अर्थात् सौ वर्षों से अधिक भी जीवें। और प्रत्यक्ष भी मनुष्यों की १०० वर्षों से अधिक आयु देखी जाती है ।

वाले सुखों को अनित्य मानता हूं किन्तु मैंने फिर भी यज्ञादि के लिए अग्नि का चयन किया है, क्योंकि इन अनित्य साधनों से नित्य परमात्मा की प्राप्ति होती है । यहां यमाचार्य ने अपनी साक्षात् अनुभूति का ही वर्णन किया है । अत: परमात्मज्ञान में यज्ञादि कर्म कदापि बाधक नहीं हो सकते ।

५-**प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्॥**
(कठो० १।१४)

यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! मैं तेरे लिए उस अग्नि का उपदेश कर रहा हूं, जो स्वर्ग्य=स्वर्ग का साधन है । और यह अग्नि 'अनन्तलोकाप्तिम्' अविच्छिन्न सुखों को देने वाली है ।

इत्यादि उपनिषत् के प्रमाणों से स्पष्ट है कि अग्निहोत्रादि कर्मों तथा परमात्म-ज्ञान में विरोध कदापि नहीं है, प्रत्युत साधन-साध्य भाव है । दूसरे मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में भी यज्ञादि कर्मों को नित्य-कर्म मानकर इनमें किसी के लिए भी छूट नहीं दी है । जो नवीन वेदान्ती अथवा दूसरे पौराणिक बन्धु यज्ञादि श्रेष्ठकर्मों को संन्यासी के लिए विहित नहीं मानते हैं, वे भ्रान्त ही हैं । क्योंकि ज्ञानयोग और कर्मयोग एक दूसरे के सहायक हैं, विरोधी नहीं । विना ज्ञान के कर्म करने वाला अन्धे के समान है, जिसे सन्मार्ग का ज्ञान ही नहीं हो सकता और विना कर्म के ज्ञान पङ्गुवत् (लंगड़े की भांति) है । जिसे सन्मार्ग का तो ज्ञान है, किन्तु उसके अनुसार न चलने से ज्ञान के फल से वञ्चित ही रहता है । इसीलिए गीता में यज्ञादि को अपरिहार्य बताते हुए लिखा है-

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (गीता० १८।५)

अर्थात् यज्ञ, दान तथा तप ये तीन कर्म कभी भी त्याज्य नहीं हैं। क्योंकि इनसे मनीषियों की भी शुद्धि होती है । इस प्रकार कठोपनिषद् के तीनों वरदान परमात्म-ज्ञान में उपयोगी हैं । इनसे परस्पर किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है ।

कठोपनिषद् में जीव-ब्रह्म की भिन्नता का वर्णन-

जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही अनादि, सत् तथा चित्=चेतन हैं। यह दोनों का साधर्म्य है, किन्तु परमात्मा आनन्दस्वरूप, सर्वत्र व्यापक,

निराकार, सर्वज्ञ, सृष्टिकर्त्ता जीवों के कर्मों का साक्षी तथा कर्मफल-दाता, वेद-ज्ञान का उपदेष्टा, न्यायकारी, परम-पवित्र, सर्वशक्तिमान् आदि गुणयुक्त है और जीवात्मा परिच्छिन्न, कर्म करने में स्वतन्त्र किन्तु कर्म-फल भोगने में परतन्त्र, अल्पज्ञ तथा इच्छा, द्वेष, सुख-दुःखादि गुणों वाला है और यह प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न है । महर्षि दयानन्द ने दोनों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य बताते हुए लिखा है–

(क) "दोनों चेतनस्वरूप हैं । स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है । परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सब को नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं । और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं । ईश्वर के नित्य-ज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं । और जीव के (इच्छा, द्वेषादि) ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं ।"

(ख) "इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ, और सर्वव्यापक स्वरूप है । इसलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है ।"

(ग) "वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है । जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव-ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामि-भृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध हैं ।"

(घ) "(प्रश्न) ब्रह्म और जीव की सदा एकता अनेकता रहती है वा कभी दोनों मिलके एक भी होते हैं वा नहीं ?

(उत्तर) अभी इसके पूर्व कुछ उत्तर दे दिया है, परन्तु साधर्म्य अन्वयभाव से एकता होती है । जैसे आकाश से मूर्त्तद्रव्य जडत्व होने से और कभी पृथक् न रहने से एकता और आकाश के विभू, सूक्ष्म अरूप, अनन्तादि गुण और मूर्त्त के परिच्छिन्न दृश्यत्व आदि वैधर्म्य से भेद होता है । अर्थात् जैसे पृथिव्यादि द्रव्य आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते, क्योंकि अन्वय अर्थात् अवकाश के विना मूर्त्तद्रव्य कभी नहीं रह सकता और व्यतिरेक अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से पृथक्ता है । वैसे ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उस

से अलग नहीं रहते और स्वरूप से एक भी नहीं होते ।

जैसे घर के बनाने के पूर्व भिन्न-भिन्न देश में मट्टी, लकड़ी और लोहादि पदार्थ आकाश ही में रहते हैं । जब घर बन गया तब भी आकाश में है और जब वह नष्ट हो गया अर्थात् उस घर के सब अवयव भिन्न-भिन्न देश में प्राप्त हो गए, तब भी आकाश में हैं । अर्थात् तीन काल में आकाश से भिन्न नहीं हो सकते और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे, हैं और न होंगे । इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में भिन्न और स्वरूप भिन्न होने से एक कभी नहीं होते ।" (क से घ तक, सत्यार्थ० सप्तम समु०)

उपर्युक्त महर्षि दयानन्द के द्वारा जीव-ब्रह्म की भिन्नता का साधर्म्य वैधर्म्य के दृष्टान्तों से स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है । परन्तु नवीन वेदान्ती इससे विपरीत जीव की परब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं मानते, यह उनकी भ्रान्ति ही है । उपनिषदों की अन्तःसाक्षी से भी जीव-ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है—

१—ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ॥
(कठो० ३।१)

यहां स्पष्ट-रूप से द्विवचनान्तों का प्रयोग जीव-ब्रह्म की भिन्नता को बता रहा है । दोनों ही हृदय रूप गुफा में प्रविष्ट हैं अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्मतम होने से जीवात्मा में भी व्यापक है । दोनों ही ऋत=सत्य विज्ञान का सेवन करते हैं । ऐसा ही "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।" (ब्रह्मसूत्र १।२।११ में भी आत्मानौ कहकर दोनों को भिन्न-भिन्न माना है । इसके भाष्य में श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं—"एकस्तत्र कर्मफलं भुङ्क्ते नेतरः" अर्थात् एक जीवात्मा कर्मों का फल भोगता है, दूसरा परमात्मा नहीं । और यहीं दोनों में भेद मानते हुए लिखते हैं—"एवं च प्राप्तृ-प्राप्य गन्तृ-गन्तव्याविवेकार्थरथरूपकद्वारा द्वावात्मानावुपन्यस्येते ।" अर्थात् प्राप्य-प्रापक, गन्ता-गन्तव्य के भेद से रथ रूपक द्वारा यहां दो आत्माओं का वर्णन है ।

(२) अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः॥ (कठो० ६।१७)

अर्थात् इस शरीर में अङ्गुष्ठमात्र हृदय-स्थान में जीवात्मा का

निवास है और अन्तरात्मा परब्रह्म उसमें भी व्यापक है ।

(३) यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥

(कठो० ६।८)

अर्थात् जीव उस परमात्मा को जानकर मोक्ष को प्राप्त करता है। यहां ज्ञाता तथा ज्ञेय के भेद से दोनों को भिन्न-भिन्न माना है ।

(४) आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥ (कठो० २।२०)

अर्थात् वह परमात्मा इस जीवात्मा के हृदय-स्थान में विराजमान है। अर्थात् परमात्मा की उपासना का स्थान हृदय-स्थान ही है । क्योंकि यहां उपासक जीवात्मा और उपास्य परमात्मा दोनों ही विद्यमान हैं ।

(५) यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ॥ (कठो० २।२३)

अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति केवल उपदेशादि से नहीं होती किन्तु वह परमात्मा जिस जीवात्मा को पवित्रादि गुणयुक्त समझता है और उस पर अनुकम्पा करता है वह जीवात्मा ही उसे प्राप्त कर सकता है । यहां अनुकम्पा करने वाला और अनुकम्पित भेद से जीव-ब्रह्म को भिन्न-भिन्न माना है ।

(६) एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा.....तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति ॥

(कठो० ५।१२)

अर्थात् वह परब्रह्म सब प्राणियों का अन्तरात्मा है । और योगीपुरुष उसका अपनी आत्मा में ही साक्षात्कार करते हैं । यहां द्रष्टा-दृश्य भेद से जीव-ब्रह्म की भिन्नता का प्रतिपादन किया है ।

(७) नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्० ॥ (कठो० ५।१३)

यहां परब्रह्म को नित्यों से भिन्न नित्य तथा चेतन तत्त्वों से भिन्न चेतन माना है । जो कि अद्वैतवाद में कभी सङ्गत नहीं हो सकते । अतः चेतन ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा ही चेतन तत्त्व है और प्रकृति तथा जीवात्मा दोनों नित्य हैं ।

इत्यादि इस उपनिषत् के बहुत प्रमाणों से जीव-ब्रह्म की भिन्नता सिद्ध होती है । जिन उपनिषदों को अद्वैतवादी अपना सर्वाधिक आधार बताते हैं, उन से भी उन की मान्यता का स्पष्ट खण्डन हो रहा है । स्वाध्यायशील पाठक रहस्यात्मक उपनिषद्-विद्या को समझने के लिए समस्त पूर्वापर की सङ्गति लगाने का यत्न करें और मिथ्या भ्रान्तियों का निराकरण कर सत्यज्ञान के प्रसार में सहायक बनें । **–राजवीर शास्त्री**

(सं० दयानन्दसन्देश)

अथ कठोपनिषद्-भाष्ये प्रथमा वल्ली

तच्च भाष्यम्

(महर्षि दयानन्द-स्वामिशङ्कराचार्ययोः तुलनात्मकसमीक्षया संवलितम्)

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ।।१।१।।

***पदार्थ*—**(ह वै) ये दोनों निपात यम-नचिकेता के प्रसिद्ध आख्यान को स्मरण कराने के लिए हैं । अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों को इस इतिहास का स्मरण करना चाहिए कि (उशन्) संसार की सब एषणाओं का परित्याग तथा दुःखों से छूटने की इच्छा करते हुए (वाजश्रवसः) वाजश्रवा अन्नादि पदार्थों के स्वामी तथा विद्वान् व्यक्ति ने (सर्ववेदसम्) अपने सब अन्न धनादि पदार्थों को (ददौ) दे दिया अर्थात् विश्वजित्=सर्वमेध यज्ञ किया और उसमें सर्वस्व त्याग कर संन्यास ग्रहण किया । (तस्य) उसका (ह) निश्चय से (नचिकेताः, नाम) नचिकेता नाम का (पुत्रः) पुत्र (आस) था ।

***भावार्थ*—**यहां 'ह वै' पद प्रसिद्ध आख्यान को बताने के लिए प्रयुक्त हैं । 'नचिकेताः' तथा 'वाजश्रवसः' शब्द भी ऐतिहासिक व्यक्ति-विशेष के वाचक नहीं हैं, प्रत्युत इनके शाब्दिक अर्थ के अनुसार ही अर्थ लेना चाहिए । 'नचिकेताः' का अर्थ अपरिणामी अमर जीवात्मा है । 'चिकेताः' पद गत्यर्थक निघण्टु पठित 'चिकेतति' क्रिया से 'असुन्' प्रत्ययान्त है । और नञ्समास करने पर 'नचिकेताः' शब्द बनता है । जिसका अर्थ है-शरीर में अविचल=अपरिणामी जीवात्मा और 'वाजश्रवसः' का अर्थ है-"वाजोऽन्नं श्रवः=धनं यस्य" अर्थात् जिसके अन्नादि पदार्थ ही धन हैं अर्थात् ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति । अथवा-"वाजोऽन्नं विज्ञानं वा श्रवः=श्रवणं विद्या च यस्य सः" जिसके पास भौतिक अन्नादि ऐश्वर्य या विज्ञान तथा विद्या दोनों हैं, ऐसे ऐश्वर्यवान् तथा विज्ञानयुक्त विद्वान् व्यक्ति को 'वाजश्रवाः' कहते हैं ।

विश्वजित्=सर्वमेधयज्ञ प्राजापत्येष्टि ही है, जिसमें मोक्षार्थी को

सर्वस्व त्याग करना पड़ता है । जिसके विषय में मनुस्मृति के प्रमाण देकर महर्षि दयानन्द लिखते हैं–

"अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे नियोजयेत् ॥१॥
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥२॥" (मनु०)

अर्थ–विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़ गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर, वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष में अर्थात् संन्यासाश्रम में मन लगावे ॥१॥

प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है, आहवनीय, गार्हपत्य, और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ॥२॥ (संस्कार० संन्यासप्रकरण से)

और मनुस्मृति तथा उपनिषद् दोनों में 'सर्ववेदसम्' पद पठित है । मनु ने यहां स्पष्ट लिखा है कि अपने सब पदार्थों को 'प्राजापत्येष्टि' में दक्षिणा में देना चाहिए । यही भाव उपनिषत् के आख्यान से भी स्पष्ट हो रहा है ।

न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि इस विषय में लिखते हैं–**"प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ।" इति श्रूयते, तेन विजानीमः–प्रजावित्त-लोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलार्थित्वे समारोपणं विधीयत इति ॥"** (न्याय० ४।१।६१ वात्स्या०)

अर्थात् ब्राह्मण=ब्रह्मनिष्ठ मोक्ष की इच्छा वाला प्राजापत्येष्टि करके उसमें अपने सब भौतिक पदार्थों को दक्षिणा में ऋत्विजों को देकर आत्मा में अग्नि=ब्रह्माग्नि का समारोपण करके संन्यासी हो जाए ।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य मुनि ने भी सर्वस्व त्यागकर संन्यास की दीक्षा ली थी । इस विषय में ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण देते हुए वात्स्यायनमुनि लिखते हैं–**"एवं च ब्राह्मणानि–सोऽन्यद् व्रतमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीमिति होवाच–प्रव्रजिष्यन् वा अरे अहमस्मात् स्थानादस्मि''''इति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज ।"** (न्याय ४।१।६१ वात्स्या०)

सर्वमेध=प्राजापत्येष्टि में दी जाने वाली दक्षिणा में त्रुटि देखकर

नचिकेता के हृदय में क्या भाव उत्पन्न होते हैं, उनका कथन करते हैं—

तं ह कुमारꣳ ह सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु ।
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥१।२॥

***पदार्थ*—**(ह) यह प्रसिद्ध है कि (तम्) उस (कुमारम्) अज्ञानी नचिकेता को (दक्षिणासु) दान किए हुए गायादि पदार्थों के (नीयमानासु) विद्वान् वेदपाठी ऋत्विजों को यथायोग्य देते समय (श्रद्धा) सत्य भावना अथवा आस्तिकता रूप बुद्धि (आविवेश) उत्पन्न हुई (सः) और वह नचिकेता (अमन्यत) विचार करने लगा ।

***भावार्थ*—**नचिकेता को यहां 'कुमार' शब्द से अज्ञानी होने के कारण कहा गया है । ऐसा ही मनु जी मानते हैं 'अज्ञो भवति वै बालः।' जब उसने देखा कि मेरे पिता ऋत्विजों को ऐसी दक्षिणा दे रहे हैं, जिसका फल तो क्या मिलेगा, प्रत्युत पाप का भागी बनना पड़ेगा । ऐसी दक्षिणा देने से क्या लाभ ? इस प्रकार नचिकेता विचार करने लगा ।

नचिकेता अपने पिता द्वारा दी जाने वाली दक्षिणा के दोष के विषय में विचार करता है—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् ह गच्छति ता ददत् ॥१।३॥

***पदार्थ*—**जो गौएँ (पीतोदकाः) पहले पानी पी चुकी हैं, जो (जग्धतृणाः) तृण (चारा) खा चुकी हैं (दुग्धदोहाः) जिनका दूध दुहा जा चुका है और (निरिन्द्रियाः) दुर्बलेन्द्रिय होने से प्रजननादि में भी असमर्थ हैं । (ताः) उन वृद्ध गायों को जो (ददत्) दक्षिणा में देता है (सः) वह (अनन्दाः) आनन्द-रहित दुःखमय (ते) वे (नाम) प्रसिद्ध (लोकाः) स्थान-विशेष अथवा जन्म हैं, (तान्) उन लोकों को (गच्छति) प्राप्त होता है ।

***भावार्थ*—**नचिकेता ने अपने पिता को दक्षिणा में ऐसी वृद्ध गौओं को देते हुए जब देखा जो वृद्धावस्था के कारण खाने-पीने तथा सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ हैं, तब वह सोचने लगा कि ऐसी दक्षिणा देकर पिता जी दक्षिणा के फल से तो वञ्चित ही रहेंगे और उनको दुःखमय जन्मों में जाना होगा । उन्हें कदापि स्वर्गसुख प्राप्त न हो सकेगा। ऐसा सोचकर वह अपने पिता के पास जाकर अपनी भावना प्रकट

करता है और पिता जी को भावी दुःख से बचाने की बात सोचता है ।

तत्पश्चात् दक्षिणा में त्रुटि समझकर नचिकेता पिता के पास जाकर कहता है—

स होवाच पितरं तात कस्मै मां दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयछं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥१।४॥

पदार्थ—(ह) यह प्रसिद्ध है कि (सः) वह नचिकेता (पितरम्) अपने पिता वाजश्रवस ऋषि से (उवाच) कहने लगा कि (तात) हे तात—पिता जी ! (माम्) मुझे (कस्मै) किसके लिए (दास्यसि) दोगे अर्थात् आपने अपना सब कुछ (गाय आदि) दक्षिणा में दे दिया, केवल मैं एक शेष रहा हूं (इति) इस प्रकार अर्थात् पिता ने अबोध पुत्र की बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया और कोई उत्तर नहीं दिया । तब नचिकेता ने वही बात (द्वितीयम्) दूसरी बार (तृतीयम्) तथा तीसरी बार (ह) निश्चय से वही बात (उवाच) कही अर्थात् मुझे किस को दोगे ? तब पिता ने क्रुद्ध होकर कहा कि (मृत्यवे) मृत्यु के लिए (त्वा) तुझे (ददामि, इति) दूंगा, इस प्रकार ।

भावार्थ—सर्ववेदस याग में दक्षिणा में बूढ़ी गायों को दान करते हुए अपने पिता को देखकर नचिकेता से नहीं रहा गया और वह पिता से अपनी बात को प्रकारान्तर से कहने के लिए बार-बार आग्रह करता है कि मैं भी आपका ही धन हूं । मुझे आप किसको दोगे ? अबोध बालक के बार-बार आग्रह करने पर पिता ने क्रुद्ध होकर यह कहा कि मैं तुझे मृत्यु को देता हूं । पिता ने यह बात केवल धमकाने के लिए कही थी । अन्यथा कौन ऐसा निर्दयी पिता है, जो अपने पुत्र को मृत्यु को देना चाहता हो ?

अपने पिता के क्रोधावेश में कहे वचन सुनकर नचिकेता मन में विचार करने लगा कि—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किः स्विद् यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥१।५॥

पदार्थ—मैं (बहूनाम्) बहुत बालकों में (प्रथमः) प्रथम=उत्तम भाव को (एमि) प्राप्त हूं (बहूनाम्) बहुत बालकों में मध्यमभाव को (एमि) प्राप्त हूं अर्थात् मैं किन्हीं की अपेक्षा निकृष्ट नहीं हूं, पुनरपि

पिता ने ऐसा क्यों कहा कि तुझे मृत्यु को दूंगा ? इस प्रकार एकान्त में बैठा नचिकेता विचार करने लगा कि (यमस्य) मृत्यु का (किंस्वित्) क्या (कर्त्तव्यम्) करने योग्य कार्य शेष है (यत्) जिसे पिता (अद्य) इस समय (मया) मेरे से (करिष्यति) करायेंगे ।

***भावार्थ*—**नचिकेता ने पिता के वचनों पर विचार करना शुरू किया कि मैं ऐसा अयोग्य नहीं हूं कि पिता ने मुझ से दुःखी होकर मृत्यु को देने के लिए कह दिया हो अथवा यम का क्या कार्य शेष है, जिसे पिता मेरे से कराना चाहते हैं ? भाव यह है कि यम परमात्मा का नाम है, उसके द्वारा उपदिष्ट जो वेद-ज्ञान है, उसमें निर्दिष्ट कर्त्तव्यों में कौन सा शेष रह गया है कि जो मेरे पिता मेरे से कराना चाहते हैं ।

अथवा नचिकेता के पिता ने अपने पुत्र को ब्रह्मविद्या दिलाने के लिए ही 'मृत्यु' को देने को कहा है । मृत्यु के बाद आत्मा की सत्ता है, या नहीं ? आत्मा किसकी व्यवस्था से जन्म-जन्मान्तरों को प्राप्त होता है ? इस प्रकार की शिक्षा को उपचार से 'मृत्यु' शब्द कहा गया है । 'मृत्यु' अथवा 'यम' कोई स्थानविशेष में रहने वाला देवता नहीं है।

नचिकेता प्राचीन-परम्पराओं का स्मरण कराते हुए पिता जी को प्रतिज्ञा-पालन के लिए आग्रह करता है-

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥१।६॥

***पदार्थ*—**आप सदृश धर्मात्मा पुरुषों को शोक कभी नहीं करना चाहिए (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे) हमारे पितामहादि पूर्वज वृद्ध लोग सत्-आचरण करते रहे हैं (तथा) उसी प्रकार आप भी (अनुपश्य) अनुसरण कीजिए अर्थात् शोकरहित होकर अपने वचनों का पालन कीजिए और (परे) दूसरे धर्मात्मा सत्पुरुष जैसे अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हैं, वैसे ही (प्रतिपश्य) आप भी प्रतिज्ञा का पालन करें । प्रतिज्ञा का पालन इस विनश्वर शरीर के मोहजाल में पड़कर नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि (मर्त्यः) मनुष्य (सस्यम्, इव) खेत में उत्पन्न हुए जौ आदि के समान (पच्यते) जीर्ण अर्थात् वृद्धावस्था को प्राप्त करता है और (पुनः) फिर मरने के बाद (सस्यम्, इव) खेती के समान (आजायते) उत्पन्न होता है ।

***भावार्थ*—**नचिकेता अपने कुल की मान-मर्यादाओं की तरफ ध्यान दिलाते हुए अपने पिता जी को प्रतिज्ञा-पालन करने के लिए विवश करता है, और सत्पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करने का आग्रह करता है । नचिकेता ने विनश्वर शरीर की अपेक्षा प्रतिज्ञा-पालन के महत्त्व पर अधिक बल देते हुए कहा कि आत्मा तो अमर है और यह शरीर तो खेती की तरह बार-बार मिलता रहता है । अतः इसके मोह-जाल में फंसकर प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ना चाहिए । इससे मुझे मृत्यु आचार्य को अवश्य देकर अपने वचनों का पालन कीजिए । क्योंकि अवश्यम्भावी इस विनश्वर मानव-जीवन के लिए प्रतिज्ञा-भङ्ग करना उचित नहीं है ।

नचिकेता के समझाने पर पिता ने नचिकेता को मृत्यु को दे दिया। मृत्यु=ब्रह्मज्ञानी आचार्य के घर पर नचिकेता गया किन्तु वे घर पर नहीं थे। तीन दिन के बाद जब मृत्यु घर पर आए तो उनको बताया गया। कि–

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति, हर वैवस्वतोदकम् ॥१।७॥

***पदार्थ*—**(वैवस्वत) हे विवस्वान् के पुत्र यमाचार्य ! (गृहान्) घर में (वैश्वानरः) अग्नि के समान तेजस्वी ब्रह्मतेज को धारण करने वाला (ब्राह्मणः) ब्रह्मचारी या विद्वान् (अतिथिः) अतिथि (प्रविशति) प्रवेश करता है । (तस्य) उस अतिथि की (एताम्) परम्परा से प्राप्त सत्कार रूप (शान्तिम्) सुखद प्रसन्नता को (कुर्वन्ति) सत्पुरुष करते रहे हैं, इसलिए आप भी (उदकम्) अर्घ्य जलादि सत्कार सामग्री को (हर) प्राप्त कीजिए अर्थात् अतिथि का योग्य सत्कार कीजिए ।

***भावार्थ*—**यहां विद्वान् अतिथि को वैश्वानर=अग्नि के समान ज्ञानादि गुणों का प्रकाशक तथा दुर्गुणों और अज्ञान को जलाने वाला कहा है । जो ऐसे अतिथि की योग्य सेवा से सत्कार नहीं करते, वे अग्नि से दग्ध होने के समान उत्तम गुणों के प्राप्त न होने से सदा दुःखी रहते हैं। यहां यम को वैवस्वत=विवस्वान्=सूर्य का पुत्र कहा है । उसका आशय यह है कि सूर्य काल का निर्माण करता है और 'कालः पचति भूतानि' काल सब प्राणियों को पकाता अर्थात् नष्ट कर देता है, ऐसा ईश्वरीय-नियम सर्वत्र सृष्टि में दिखाई देता है । अतः अवश्यम्भावी विनश्वरभाव को

याद दिला कर कर्त्तव्यपालन से विमुख न होने की शिक्षा दी गई है ।

प्रसङ्ग-वश अतिथि-सत्कार न करने से क्या-क्या दोष होते हैं, उनका कथन करते हैं-

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृताञ्चेष्टापूर्त्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान् । एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥१।८॥

***पदार्थ*—**(यस्य) जिस (पुरुषस्य) पुरुष के (गृहे) घर पर (ब्राह्मणः) विद्वान् अतिथि (अनश्नन्) भोजनादि सत्कार न प्राप्त करता हुआ (वसति) वास करता है । उस (अल्पमेधसः) मन्दबुद्धि पुरुष के (आशा-प्रतीक्षे) आशा=परोक्ष अभीष्ट-विषय की प्रार्थनापूर्वक प्राप्ति की उत्कण्ठा तथा प्रतीक्षा=प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर अथवा प्राप्त करने योग्य वस्तु की प्राप्ति की इच्छा (सङ्गतम्) सत्सङ्गति से होने वाला फल (सूनृताम्) सत्य तथा मधुरवाणी का फल (इष्टापूर्त्ते) यज्ञादि वैदिक कर्मों का फल तथा सामाजिक भलाई के लिए किए गए वापी (बावड़ी), कूप, तडाग (तालाब) बाग-बगीचा, अनाथालय, प्याऊ, धर्मशालादि पुण्यकर्मों के फल को (च) और (सर्वान्) सब (पुत्र-पशून्) पुत्र तथा पशुओं को (एतत्) यह असत्कृत अतिथि (वृङ्क्ते) रहित अर्थात् नष्ट कर देता है।

***भावार्थ*—**यहां विद्वान् अतिथि का सत्कार न करने से क्या-क्या हानियां होती हैं, उन्हें प्रसङ्गवश दिखाया है । जिसके घर अतिथियों का योग्य सत्कार नहीं होता, उसके सभी पुण्यों का फल नष्ट हो जाता है अर्थात् अतिथि-सेवा न करने से सद्गुणों का प्रकाश न होने से पाप-वृद्धि होती है । उस घर में धीरे-धीरे पुण्य कर्मों की समाप्ति से पाप-कर्म बढ़ने लगते हैं और दुःखों की वृद्धि हो जाती है । अतः विद्वान् ब्रह्मवेत्ता तथा धर्मात्मा अतिथियों का सदा सत्कार करना चाहिए ।

यद्यपि इस आख्यायिका के गुरु-शिष्य संवाद में नचिकेता की अपेक्षा यम का स्थान ऊंचा तथा प्रशस्य है । और यम बाहर जाने के कारण ही अतिथि-सत्कार नहीं कर सके थे, उन्होंने कोई जान-बूझकर दोष नहीं किया था, पुनरपि अतिथि-सत्कार की सब अवस्थाओं में अपरिहार्यता तथा बड़ों को भी छोटों का यथायोग्य सम्मान अवश्य करना चाहिए, यह प्रदर्शन करने के लिए ही यहां अतिथि के असत्कार के

दोषों की परिगणना की गई है ।

इस श्लोक में नचिकेता को जन्म के अभिप्राय से 'ब्राह्मण' नहीं कहा गया है, किन्तु ब्रह्म-ज्ञान का योग्याधिकारी तथा ब्रह्म-ज्ञान का परम जिज्ञासु समझकर 'ब्राह्मण' शब्द का व्यवहार किया गया है । क्योंकि ब्राह्मणादि तीन वर्णों को 'द्विज' कहते हैं और द्विज का अर्थ है जिसका दुबारा जन्म हो । और दूसरा जन्म निषेकादि संस्कारों तथा यज्ञादि से होता है । संस्कार से हीन व्यक्ति द्विज नहीं हो सकता । वह एकजाति होने से शूद्र ही होता है । देखिए इस में मनु जी का प्रमाण–

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ (मनु०१०।४)

अर्थ–ब्राह्मण; क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण संस्कार होने से द्विजातियां हैं । और चतुर्थ शूद्र एकजाति=एक जन्म वाला ही होता है । पांचवां कोई वर्ण नहीं है ।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ (मनु० २।२८)

इस श्लोक का महर्षि दयानन्दकृत अर्थ देखिए–"रज-वीर्य के योग से ब्राह्मण-शरीर नहीं होता किन्तु·····(स्वाध्यायेन) पढ़ने-पढ़ाने (जपैः) विचार करने-कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारण-सहित पढ़ने-पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का सङ्ग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकार आदि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़ के दुराचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है ।" (सत्यार्थ० चतुर्थ०)

समीक्षा–श्री शङ्कराचार्य जन्मजात ब्राह्मण का ही ब्रह्मविद्या में अधिकार बताते हुए लिखते हैं–"ब्राह्मणस्यैव विशेषतोऽधिकारः सर्वत्यागेन ब्रह्मविद्यायामिति ।" (मुण्डको० १।२।१२) अर्थात् ब्रह्मविद्या में ब्राह्मण ही का अधिकार होता है सब कुछ त्याग करने से ।

यह उनका कथन सत्य नहीं है । क्योंकि जिस किसी भी मनुष्य का शरीर उपर्युक्त संस्कारों से ब्राह्मण का किया जाता है, उसी को मोक्ष

का अधिकार है । चाहे उसका किसी भी वर्ण में जन्म क्यों न हुआ हो।

विद्वान् ब्राह्मण के घर पर भूखा रहने तथा उसके अतिथि-सत्कार के न होने रूप दोष को सुनकर यमाचार्य नचिकेता से प्रार्थना करते हैं-

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥१।९॥

पदार्थ—(ब्रह्मन्) हे ब्रह्मज्ञान के योग्य नचिकेता ! तुम (अतिथिः) अतिथि होने से (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य हो । अतः (ते) तुम्हारे लिए मेरा (नमः, अस्तु) प्रणाम प्राप्त हो और (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण (अस्तु) होवे अर्थात् आप, प्रसन्न होकर मेरा अपराध क्षमा करें। (ब्रह्मन्) हे ब्राह्मणरूप अतिथे (यत्) जिस कारण से (मे) मेरे (गृहे) घर पर (तिस्रः रात्रीः) तीन रात (अनश्नन्) विना कुछ खाए (अवात्सीः) तुमने निवास किया है (तस्मात्) इस कारण से (प्रति) एक-एक रात के प्रति (त्रीन्, वरान्) तीन वरदानों को (वृणीष्व) मांगो।

भावार्थ—नचिकेता अपने पिता की आज्ञा के अनुसार यमाचार्य के घर पर पहुंचा, किन्तु यमाचार्य के घर पर न होने से तीन दिन तक उनकी प्रतीक्षा में निराहार ही रहा । यमाचार्य जब घर पर आए तो उन्होंने अपने घर पर अतिथि के सत्कार न होने से बहुत पश्चात्ताप किया और नचिकेता को प्रणाम करके कहने लगे कि मुझे प्रसन्न होकर ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि जिससे मेरा कल्याण होवे और अपने अपराध की क्षमा मांगते हुए यम ने नचिकेता को एक-एक रात्रि के लिए एक-एक करके तीन वरदान प्रदान किये ।

यहां भी यम नचिकेता के आख्यानक का एक सुन्दर व शिक्षाप्रद आलङ्कारिक वर्णन किया गया है । यम परमात्मा का नाम है, यहां उस सर्वव्यापक परमेश्वर के गृह=घर का अभिप्राय यह है कि 'गृह' का अर्थ है 'गृह्णातीति गृहम्' जो सब को ग्रहण करता है अर्थात् व्यापकरूप से समस्त पदार्थों का नियन्त्रण किए हुए है, इसलिए उसे "अत्ता चराचरग्रहणात्" (वेदान्त०) चर-अचर जगत् को ग्रहण करने के कारण 'अत्ता' कहते हैं। उस गृह=ग्रहण करने वाले परमात्मा के आश्रय में रहना ही उसके घर में रहना है । अथवा परमात्मा का गृह=उपासना का स्थान हृदय है, जिसे 'ब्रह्मपुर' कहा गया है । इस हृदय में जो जिज्ञासु होकर अनश्नन्=भोग

न करता हुआ अर्थात् समस्त इन्द्रियों के विषयों से पृथक् होकर परमात्मा का ध्यान करता है, और तिस्रो रात्रीः=शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक त्रिविध[१] अशुद्धियों का परित्याग कर देता है, तब यम=परमात्मा जिज्ञासु पर अनुग्रह कर के वरदान देता है ।

इस श्लोक में यमाचार्य नचिकेता से 'नमस्ते' कहकर सत्कार करते हैं। परस्पर मिलते समय छोटे-बड़ों को 'नमस्ते' शब्द का ही व्यवहार करना चाहिए। जो पौराणिक सनातनधर्मी बन्धु इस शब्द के स्थान पर इससे भिन्न 'जय राम' 'राधेश्याम' आदि शब्दों का मिलते समय उच्चारण करते हैं, वे प्राचीन शास्त्रीय श्रेष्ठ परम्परा का उल्लङ्घन करने के कारण प्रत्यवाय के भागी होते हैं। महर्षि दयानन्द ने इस शिष्ट तथा शास्त्रीय परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। और पौराणिक-बन्धुओं की इस भ्रान्ति का भी यहां स्पष्ट रूप से निराकरण हो जाना चाहिए कि बड़ों को छोटों के लिए 'नमस्ते' का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यमाचार्य गुरु-स्थानीय होने से बड़े हैं और उन्होंने शिष्य नचिकेता को यहां स्वयं 'नमस्ते' की है ।

यमाचार्य के कहने पर नचिकेता प्रथम वरदान मांगता है—

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो! ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१।१०

पदार्थ—(मृत्यो) हे यमाचार्य ! (गौतमः) गोतमवंशी मेरा पिता (मा, अभि) मेरे प्रति (शान्त-सङ्कल्पः) शान्त चित्तवाला (सुमनाः) प्रसन्न मन वाला (वीतमन्युः) क्रोध से रहित (यथा) जैसे (स्यात्) होवे और (त्वत्प्रसृष्टम्) आपके भेजे हुए (मा, अभि) मेरे प्रति (प्रतीतः) प्रसन्नता से पहचानकर (वदेत्) कुशलक्षेमादि पूछता हुआ बोले—(एतत्) यह (त्रयाणाम्) तीन वरों में से (प्रथमम्) पहला (वरम्, वृणे) वर मांगता हूं।

---

(१) त्रिविध अशुद्धियां—"शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसा-स्तेय-प्रतिषिद्ध-मैथुनान्याचरति । वाचा=अनृत-परुष-सूचनाऽसम्बद्धानि । मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति ।" (न्याय० वात्स्यायनभाष्ये)

अर्थात् शारीरिक अशुद्धियां ये हैं—हिंसा=वैरभाव से दुःख देना । स्तेय=मन, वचन, कर्म से चोरी करना और शास्त्रविरुद्ध आचरण करना । वाचिक=झूठ बोलना, कठोर बोलना, चुगली करना और प्रमत्तवत् अधिक बोलना । मानसिक दूसरों से द्रोह करना, दूसरों की वस्तुओं पर गिद्ध की भांति लालसा रखना, और वेद व ब्रह्म पर विश्वास न करना ।

भावार्थ—नचिकेता ने यमाचार्य से प्रथम वर यह मांगा कि मेरे गौतम=गोतमवंशी अर्थात् गो=इन्द्रियों पर संयम रखने वाले पिता जी मेरे प्रति क्रोध-भाव को त्यागकर पूर्ववत् ही स्नेहपूर्ण व्यवहार करने लगें और आपके पास से वापस जाने पर मेरे से प्रसन्नता से बोलें ।

यहां मृत्यु के पास से नचिकेता का वापस जाना और अपने पिता जी की प्रसन्नता का वरदान मांगना इत्यादि बातों से स्पष्ट है कि यह एक आलङ्कारिक ही वर्णन है । अन्यथा मृत्यु के पास से और वह भी दक्षिणारूप में दिए हुए का वापस आना कैसे सम्भव है ?

नचिकेता को प्रथम-वरदान देते हुए यमाचार्य कहते हैं—

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥१।११

पदार्थ—(आरुणिः) अरुण के पुत्र तेरे पिता (औद्दालकिः) उद्दालक (यथा) जिस प्रकार प्रीति का व्यवहार (पुरस्तात्) पहले करते थे, वैसे ही (मत्प्रसृष्टः) मेरे से विदित किए हुए (भविता) हो जायेंगे। और तुम्हें देखकर (रात्रीः) रात्रियों में (सुखम्) सुखपूर्वक (शयिता) सोया करेंगे और (वीतमन्युः) क्रोध-रहित होकर (त्वाम्) तुम्हें (मृत्युमुखात्) मृत्यु के पास से अर्थात् मृत्यु-दुःख से (प्रमुक्तम्) छूटे हुए को (ददृशिवान्) देखेंगे ।

भावार्थ—नचिकेता को प्रथम वरदान देते हुए यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! तुम्हारे पिता अब क्रोध-रहित होने से शान्तचित्त होकर तुम्हारे पर पूर्ववत् ही स्नेह का व्यवहार किया करेंगे और तुम्हें ज्ञानप्राप्त होने से मृत्यु से छूटा हुआ देखकर सुख की नींद सोवेंगे । और पुत्र-वियोग के दुःख से भी मुक्त हो जायेंगे । यहां 'मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्' पदों से स्पष्ट है कि 'मृत्यु' का अर्थ यहां प्राणवियोग नहीं है । क्योंकि प्राण-वियोग होने के बाद कोई जीव वापस नहीं आ सकता ।

अब नचिकेता द्वितीय-वर मांगने की इच्छा से यमाचार्य से स्वर्गविषयक चर्चा प्रारम्भ करते हैं—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे, शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१।१२॥

पदार्थ—(स्वर्गे, लोके) स्वर्ग-लोक में (किञ्चन) कुछ भी

(भयम्) भय (न, अस्ति) नहीं है (न तत्र) और न वहां पर (त्वम्) तुम अर्थात् मृत्यु-दु:ख है, (न) और न कोई (जरया) वृद्धावस्था से (बिभेति) डरता है । (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में (अशनाया-पिपासे) भूख-प्यासादि (उभे) दो-दो दु:ख द्वन्द्वों को (तीर्त्वा) तरकर (शोकातिग:) शोक=मानस-दु:ख से पार हुआ मनुष्य (मोदते) आनन्द से रहता है ।

***भावार्थ*—**यहां स्वर्ग-लोक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्वर्ग-लोक में कुछ भी भय नहीं होता, मृत्यु आदि दु:ख नहीं सताते, वृद्धावस्था भी नहीं सताती है और भूख-प्यासादि से रहित होकर जीवात्मा शोकमुक्त हो जाता है और आनन्द से रहता है । यहां मोक्ष को ही 'स्वर्ग' नाम से कहा गया है । न्यायदर्शन में अपवर्ग (मोक्ष) का वर्णन करते हुए लिखा है—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग: ॥ न्याय० १।१।२२॥

तेन दु:खेन जन्मनाऽत्यन्तविमुक्ति:=अपवर्ग: । कथम् ? उपान्तस्य जन्मनो हानम् अन्यस्य चानुपादानम्, एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं वेदयन्तेऽपवर्गविद: । तद् अभयमजरममृत्युपदं ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति ॥"

(वात्स्यायन-भाष्यम्)

अर्थात् दु:ख की=जन्म की अत्यन्त निवृत्ति को अपवर्ग कहते हैं? कैसे गृहीत जन्म की निवृत्ति और अन्य जन्म का ग्रहण न होना । इस विनाशरहित (जन्म-मरणरहित) अवस्था को (मोक्ष को) विद्वान् अपवर्ग कहते हैं । इस अवस्था को अभय, जरा=बुढ़ापे से रहित, मृत्यु से रहित कहते हैं ।

न्यायदर्शन के मोक्ष वर्णन से उपनिषत्कार की सर्वथा समता है; अत: यहां 'स्वर्ग' शब्द मोक्ष-अर्थ में ही जानना चाहिए ।

हमारे पौराणिक-बन्धु स्वर्ग किसी स्थान-विशेष को बताते हैं । जहां ऐसे भोगों की प्राप्ति होती है, वहां जाने वालों को कई सौ अप्सराएं मिलती हैं और स्वर्ग में 'विजरा' नामक नदी को पार करने वाला यात्री बूढ़ा नहीं होता इत्यादि । आचार्य शङ्कर भी इसी मान्यता से प्रभावित होकर लिखते हैं—"यत्र यस्मिन् स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्र एक: सर्वानुपरि अधिवसति ॥" (मुण्डको० १।२।५) अर्थात् स्वर्गलोक में देवों का पति एक इन्द्र सर्वोपरि है । और इनके अनुसार यमराज के दूत मृत जीवों को पकड़कर पाप-पुण्य के अनुसार नरक व स्वर्ग में भेजते हैं । उसके लिए

पौराणिक बन्धु दान, पुण्य, श्राद्ध, तर्पण, गोदानादि वैतरणी नदी को तरने के लिए करते हैं । पौराणिकों के ही समान दूसरे ईसाई, मौहम्मद आदि भी ऐसे ही स्थान-विशेषों को स्वर्ग व नरक माने हुए हैं ।

महर्षि दयानन्द ने जहां दूसरी बहुत सी भ्रान्तियों का निवारण किया है । वहां इस सम्बन्ध में भी बहुत स्पष्ट करके लिखा है–

(क) "यही सुखविशेष स्वर्ग और विषय-तृष्णा में फंसकर दुःखविशेष भोग करना नरक कहाता है । 'स्वः' सुख का नाम है । 'स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः ।" "अतो विपरीतो दुःखभोगो नरक इति ।" जो सांसारिक सुख है, वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वही विशेष स्वर्ग कहाता है ।"
(सत्यार्थ० नवम समु०)

(ख) "स्वर्ग सुखभोग और नरक दुःखभोग का नाम है ।"
(सत्यार्थ० द्वादश समु०)

(ग) "स्वर्ग" नाम सुख-विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है । "नरक" जो दुःखविशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है ।" (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः)

महर्षि के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्वर्ग व नरक कोई स्थान-विशेष नहीं हैं, प्रत्युत सुख-भोग तथा दुःखभोग के नाम हैं । और यह भी स्पष्ट हो रहा है कि 'स्वर्ग' शब्द सांसारिक सुख तथा मोक्ष के सुख दोनों के लिए प्रयुक्त होता है । हमें शास्त्रों में प्रकरणानुसार ही अर्थ लगाने चाहिए ।

'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में भी सांसारिक तथा मोक्ष के सुखों के लिए हुआ है । जैसे–

(क) दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह । (मनु०)
अपना तथा पितरों का जितना सुख है, यह सब स्त्री ही के आधीन होता है ।

(ख) सः सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ॥ मनु०॥
हे स्त्रीपुरुषो ! जो तुम अक्षय मुक्ति का सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो नित्य प्रयत्न से गृहाश्रम को धारण करो ।

उपनिषत्कार के अभिप्राय के अनुसार 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग सुखविशेष के लिए हुआ है, स्थान-विशेष के लिए नहीं । उपनिषद् में

नचिकेता के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है–

(क) त्रिकर्मकृत्[१] तरति जन्म-मृत्यू ॥

(ख) ब्रह्मजज्ञं[२] वेदमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥

(ग) स मृत्युपाशान् पुरतः प्रमोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

(कठो० १।१७, १८)

जो यज्ञ, अध्ययन तथा दान इन तीन धार्मिक कर्मों को करता है, वह जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट जाता है । जो सर्वज्ञ देव परब्रह्म को जान लेता है, वह शोकमुक्त होकर स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है । और परब्रह्म को जानने वाला मृत्यु=दु:ख के बन्धनों से मुक्त होकर स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि यहां स्वर्ग से अभिप्राय सुखविशेष (मोक्ष) से ही है, स्थान से नहीं । क्योंकि उत्तर या वरदान प्रश्नानुरूप ही होना चाहिए ।

स्वर्गादि शब्दों के अर्थ में भ्रान्ति का कारण–स्थानविशेष की भ्रान्ति का कारण 'लोक' शब्द भी है । लोक शब्द को देखकर प्राय: स्थान-विशेष ही अर्थ लगाया जाता है । किन्तु यह उनकी भ्रान्ति ही है क्योंकि इसका प्रयोग स्थान तथा सुख दोनों के लिए होता है । पृथिवी-लोकादि में लोक शब्द स्थान का वाची भी है किन्तु स्वर्गलोक में नहीं। क्योंकि सुख हमारे कर्मों का फल होता है, उसका किसी स्थान से सम्बन्ध जोड़ना ठीक नहीं । जो स्थान एक मनुष्य के लिए सुखद प्रतीत होता है, वही दूसरे के लिए दु:खद भी होता है । यह स्थानविशेष अर्थ प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है । ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां सुख ही सुख हो, दु:ख न हो । आज के वैज्ञानिक जगत् में ऐसी कल्पनाओं पर कैसे विश्वास किया जा सकता है । विवाह-संस्कार में वधू कहती है–

(क) **"शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ।"**

अर्थात् मैं आज से स्वस्थ रहती हुई पति के सुख को प्राप्त करूं अर्थात् पति के सुख को ही अपना सुख मानूं ।

(ख) **"ऋतस्य यौनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टान्त्वा सह पत्या**

---

१. त्रिकर्मकृत्=इज्याध्ययनदानानां कर्त्ता तरति अतिक्रामति जन्ममृत्यू ।। (कठो० १।१७ शा० भाष्य)

२. ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञः ।। (शाङ्करभाष्ये)

दधामि ।"–इस मन्त्र में "सुकृतस्य लोके" पद पुण्य-कर्मों के सुख अर्थ का ही बोध करा रहा है ।

(ग) **आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतु कृणुष्व॥**

इस मन्त्र में भी अमृत=नष्ट न होने वाले लोकं=सुख के लिए कहा है । इत्यादि वेदादि शास्त्रों में 'लोक' शब्द का प्रयोग 'सुख' अर्थ में भी हुआ है। आचार्य शङ्कर भी 'लोक' शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं–

(क) लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति कर्मफलं लोक उच्यते ॥
(मु० १।२।१)

जो कर्म-फल भोगा जा रहा है, उस कर्म-फल को ही 'लोक' शब्द से कहा जाता है । (ख) ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात् (मु० १।२।६) अर्थात् 'ब्रह्मलोक' का अर्थ स्वर्ग है । (ग) क्षीणलोकाः= क्षीणकर्मफलाः (मु० १।२।९) अर्थात् 'क्षीणलोक' शब्द का अर्थ है कि जिसके कर्मों का फल क्षीण हो गया है । इस प्रकार 'लोक' शब्द का अर्थ 'सुख' अथवा 'कर्मफल' भी है ।

'स्वर्ग' व 'नरक' शब्दों के 'स्थान-विशेष' की कल्पना में शब्दों की समानता भी प्रमुख कारण हुआ है । जैसे नाक तथा विष्टप शब्द द्युलोक तथा मोक्ष दोनों के लिए प्रयुक्त हैं । निरुक्तकार लिखते हैं–

१–(सूर्यपरक) **नाक आदित्यो भवति । नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः ।**

२–(मोक्षपरक) **अथ द्यौः, कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति ।**

१–(सूर्यपरक) **विष्टप आदित्यो भवति, आविष्टो रसान्, आविष्टो भासंज्योतिषाम्।आविष्टो भासेति वा।**

२–(मोक्षपरक) अथ द्यौः, आविष्टा ज्योतिभिः, पुण्यकृद्भिश्च ।।

अर्थात् 'नाक' शब्द सूर्य के लिए इसलिए प्रयुक्त है क्योंकि यह रसों व प्रकाश का नेता=प्रापक है और मोक्ष अर्थ में इसलिए है कि 'कम्' सुख-वाचक है, उससे नञ् समास किया–अकम्=दुःखम् । और फिर नञ् समास करने पर 'नाकम्=दुःखरहित' शब्द प्रसिद्ध हुआ । इसी प्रकार 'विष्टप' शब्द भी द्व्यर्थक है । सूर्य का वाचक इसलिए है कि यह रसों में प्रविष्ट तथा प्रकाश से युक्त है और मोक्ष अर्थ इसलिए है क्योंकि वहां परमात्मा का प्रकाश है तथा पुण्य कर्म करने वाले उसे प्राप्त करते हैं।

नाकादि शब्दों की भांति 'स्वर्ग' शब्द के भी दो अर्थ हैं–(१) सुख-विशेष तथा (२) सूर्यलोक । क्योंकि सूर्यलोक ऊपर है, अतः स्वर्ग की कल्पना भी ऊपर ही की गई । जबकि भ्रमणशील लोक-लोकान्तरों को देखकर किसी को भी ऊपर या नीचे कहना भी उचित नहीं है ।

'स्वर्ग' शब्द का 'सूर्यपरक' अर्थ देखिये–

स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम् ॥ (शत० १२।९।२।८)
स्वर्गो वै लोको ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ (ऐत० ४।४)
बृहद् वै स्वर्गो लोकः ॥ (तै० १।२।२।४)
मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः ॥ (शत० ६।७।४।११)

इस प्रकार 'स्वर्ग-लोक' की स्थान-विशेष अर्थ की कल्पना में दो मुख्य कारण प्रतीत होते हैं–१ लोक शब्द । २ सूर्य-परक अर्थ । यद्यपि इनसे भिन्न मनुष्यों को बहकाकर स्वार्थसिद्धि तथा अज्ञान आदि भी कारण हैं, किन्तु इस कल्पना को जो बल तथा प्रवाह प्राप्त हुआ है, उसके उपर्युक्त दो ही कारण हैं ।

स्वर्ग के अर्थ 'सुख' में भी भ्रान्ति–

कुछ विद्वानों का यह मत है कि इन्द्रियों के सुख को 'सुख' और मोक्ष के सुख को 'आनन्द' कहते हैं । उनके विचार में यह भेद 'सुख' शब्द के निर्वचन से होता है । उनका कथन यह है कि 'ख' इन्द्रियों को कहते हैं, क्योंकि ये शरीर में खोदी हुई सी हैं । निरुक्त में सुख शब्द का यह निर्वचन किया है–"सुखं कस्मात् ? सुहितं खेभ्यः । खं पुनः खनतेः ।" (निरुक्त ३।१३)

परन्तु 'इन्द्रियों को जो अच्छा लगे, उसे सुख कहते हैं' यह अर्थ महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों के अनुकूल नहीं है । महर्षि ने सांसारिक तथा मौक्तिक दोनों सुखों के लिए 'सुख' शब्द का प्रयोग किया है । जैसे–

मौक्तिक आनन्द के लिए 'सुख' शब्द का प्रयोग–

(क) "सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर **मुक्ति का सुख** होना ।"
(ख) "इसी से जीव मुक्ति में सुख भोगता है ।"
(ग) "अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन

जीवों में नहीं, इसलिए **अनन्त सुख** नहीं भोग सकते ।"

(घ) "हम को मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता०।"

(ङ) "जो ये ब्रह्मलोक—अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके **मोक्ष-सुख** को भोगते हैं ।"

(च) "जो मुक्ति में जीव का लय होता तो **मुक्ति का सुख** कौन भोगता ।" (स० प्र० नवमसमु०)

(छ) "पारमार्थिक सुख को प्राप्त होके० ।" (सं० वि० गृहाश्रम०)

सांसारिक सुख के लिए 'आनन्द' शब्द का प्रयोग—

(क) "और सर्वदा आनन्द में रहें ।" (सं० वि० सामान्य०)

(ख) "मोदमानौ=आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ।" (सं० वि० गृहाश्रम०)

(ग) "हसामुदौ=हास्य और आनन्दयुक्त......गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ।" (सं० वि० गृहाश्रम०)

(घ) "जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ।" (सं० वि० गृहाश्रम०)

(ङ) "तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे ।" (सं० वि० गृहाश्रम०)

परमात्मा के लिए 'सुख' शब्द का प्रयोग—

(क) "कस्मै=सुखस्वरूपदेवाय=सकलैश्वर्य के देने हारे परमात्मा के लिए ।" (सं० वि० सामान्य०) क्या परमात्मा भी इन्द्रियों के सुख को ग्रहण करता है ?

इस प्रकार महर्षि दयानन्द के लेखों से स्पष्ट है कि सुख व आनन्द शब्दों के प्रयोग में उन्होंने कोई भेद नहीं किया है । और महर्षि ने यह भेद इसलिए भी नहीं किया, क्योंकि दर्शनकार भी ऐसा भेद नहीं मानते हैं । यथार्थ में सुख-दुःख की उपलब्धि का साधन मन है, बाह्येन्द्रियां नहीं। और 'मन' को अन्तःकरण अथवा अन्तरिन्द्रिय अवश्य शास्त्रकारों ने माना है, किन्तु उसे 'ख=खोदी हुई सी' नहीं कहा जा सकता । अतः सुख के शाब्दिक अर्थ की सङ्गति नहीं लगती । देखिए कतिपय प्रमाण—

दर्शन-शास्त्रों में 'सुख' शब्द का प्रयोग—

(१) "आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम् ? अनिन्द्रियार्थ-

सन्निकर्षजं हि तदिति ।।" (न्याय० १।१।४ वात्स्यायनभाष्यम्)

अर्थात् प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्मादि तथा सुखादि के प्रत्यक्ष का भी लक्षण कहना चाहिए ? क्योंकि ये इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष नहीं होते । यहां सुखादि को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं माना, अपितु–"सुखाद्युपलब्धिसाधनमन्तःकरणं मनः" ऐसा मानकर मन को माना है । समस्त न्यायदर्शन के अनुशीलन करने से यह भी स्पष्ट होता है–कि इस शास्त्र में सांसारिक तथा मौक्तिक दोनों सुखों के लिए सुख शब्द का ही प्रयोग किया है । किन्तु सांसारिक सुख को विष-सम्पृक्तान्नवत् कहकर त्याज्य बताया है[1] और वास्तविक सुख मोक्ष को ही मानते हुए लिखा है–

'न सुखादन्यद् निःश्रेयसमस्ति ।' (न्याय० ४।१।५८ वात्स्या०)

अर्थात् जिसे सुख कहते हैं, मोक्ष उससे भिन्न नहीं है ।

(२) वैशेषिक-दर्शन में सुख को दुःख का प्रतिद्वन्द्वी बताते हुए लिखा है–

इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ।। (वैशे० १०।१।१)

अर्थात् सुख-दुःख दोनों भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी हैं । सुख की उत्पत्ति इष्ट कारण से तथा दुःख की उत्पत्ति अनिष्ट कारण से होती है । दुःख के नाश होने पर सुख की उत्पत्ति होती है । और जो सांसारिक सुख हैं, वे दुःखों में सुखों का अभिमान मात्र ही हैं यथार्थ नहीं । और सुख की उपलब्धि का साधन बाह्येन्द्रियां नहीं हैं । वैशेषिकदर्शन के भाष्यकार प्रशस्तमुनि ने बहुत ही स्पष्ट लिखा है–

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः ।।

अर्थात् बुद्धि=ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न ये गुण अन्तःकरण (मन) से गृहीत होते हैं ।

(३) योगदर्शन में 'सुख' शब्द का प्रयोग दोनों सुखों के लिए है–

(क) **सर्वाश्चैव वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मकाः । सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः ।।**

(योग० समाधिपाद सू० ११ । व्यासभाष्य)

(ख) **सुखानुशयी रागः ।।** यो० साधन० सू० ७।।

---

१. **यथा मधुविषसम्पृक्तम् अन्नमनादेयमिति एवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयमिति ।"** (न्याय० १।१।२ वात्स्यायनभाष्ये)

(ग) **परिणामतापसंस्कारदुःखैः……दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥**
(यो० साधन० १५)

विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम् । (यो० २।१५ व्यास०)

(घ) **यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।**
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् इति ॥
(यो० साधन ४२ । व्यास०)

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि सुख शब्द सांसारिक तथा मौक्तिक दोनों के लिए योगदर्शन में प्रयुक्त है ।

(४) वेदान्तदर्शन में भी सुख द्विविध-सुख के अर्थ में प्रयुक्त है। जैसे-

सुखं विशिष्टाभिधानादेव च ॥ (वेदान्त० १।२।१५)

इस सूत्र की व्याख्या में श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज लिखते हैं-"सुख मुख्य तो ब्रह्म ही से प्राप्त होता है क्योंकि प्रकृति परतन्त्र होने से सुख से शून्य है । इस कारण ब्रह्म स्वतन्त्र और सुख से परिपूर्ण बतलाया गया है ।"

यहां ब्रह्म के सान्निध्य से मिलने वाले आनन्द को भी 'सुख' शब्द से कहा गया है । इसी दर्शन के भाष्य में (वेदान्त० १।१।९) स्वामी दर्शनानन्द जी लिखते हैं-

"(प्रश्न)-सुख और आनन्द में कुछ भेद है या सुख और आनन्द दोनों एक हैं ? (उत्तर)-सुख वह होता है जब प्रकृति मन किसी विषय के साथ सम्बन्ध पैदा करके कुछ समय के लिए स्थिर होता है…… आनन्द वह है जब मन के शुद्ध होने से या मन के न होने से जीवात्मा ब्रह्म से साक्षात् आनन्द गुण को ग्रहण करता है" । यहां सुख और आनन्द में यह अन्तर किया है कि प्रकृति के सम्पर्क से सुख होता है और परमात्मा के सम्पर्क से आनन्द मिलता है । किन्तु यह विवेचन वेदान्तदर्शन के भी विरुद्ध है, क्योंकि वेदान्त के उपर्युक्त सूत्र में ब्रह्म से सम्पर्क से मिलने वाले आनन्द को भी सुख शब्द से कहा है । अतः सुख व आनन्द का उपर्युक्त भेद विद्वन्-मान्य नहीं हो सकता ।

(५) उपनिषदों में भी 'सुख' शब्द का प्रयोग मुक्ति के आनन्द के लिए आया है । जैसे-

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

अर्थात् परब्रह्म के सान्निध्य से जो सुख मिलता है, उसे वाणी से नहीं कहा जा सकता । उसे तो स्वयम् अन्तःकरण से ही ग्रहण किया जाता है ।।

(६) महर्षि दयानन्द ने **'स नो बन्धुर्जनिता०'** (य० ३२।१०) की व्याख्या में लिखा है—"जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके **सर्वोत्तम सुख** में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं" ।।

(ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

ऋ० भू० के इसी मुक्ति-विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवस्सदा सुखी भवतीति बोध्यम् ।।"

अर्थात् मुक्त जीवों से प्राप्त करने योग्य मोक्ष-स्वरूप सच्चिदानन्द आदि लक्षणों से युक्त परब्रह्म की प्राप्ति से **जीवात्मा सदा सुखी** होता है, इस प्रकार सदा जानना चाहिए ।

इस उपर्युक्त दर्शनादिशास्त्रों के विवेचन से स्पष्ट है कि 'सुख' शब्द का प्रयोग उसी प्रकार सांसारिक तथा मोक्ष दोनों सुखों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसे 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग होता है । अतः सुख और आनन्द शब्दों के अर्थों में जो अन्तर=भेद करते हैं, उन्हें उपर्युक्त समस्त प्रमाणों पर अवश्य विचार करना चाहिए ।

अब नचिकेता स्वर्गप्राप्ति के साधनभूत अग्नि-विद्या को जानने के लिए दूसरा वरदान मांगता है—

स त्वमग्निꣳस्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ।।१।१३

पदार्थ—(मृत्यो) हे यमाचार्य ! (सः, त्वम्) सो आप (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग-प्राप्ति के लिए साधनभूत (अग्निम्) यज्ञाग्नि को (अध्येषि) अधिकार पूर्वक जानते हो (तम्) उस यज्ञाग्नि का (श्रद्दधानाय[1]) सत्य-विश्वास करने वाले (मह्यम्) मेरे लिए (प्रब्रूहि) उपदेश कीजिए ।

---

१. 'श्रद्धा' शब्द का अर्थ 'चित्त की प्रसन्नता' भी होता है अर्थात् शुद्ध मन । जैसे कि योगदर्शन में (समाधि० सू० २०) की व्याख्या में व्यासमुनि लिखते हैं—"श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः । सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति ।"

क्योंकि (स्वर्गलोकाः) स्वर्ग को प्राप्त मनुष्य (अमृतत्वम्) दुःखरहित जीवन को (भजन्ते) भोगते हैं (एतत्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (वृणे) मांगता हूं ।

***भावार्थ*—**यहां नचिकेता ने अपने दूसरे वरदान का उपसंहार करते हुए पुनः कहा है कि हे यमाचार्य ! आप स्वर्ग=सुख के साधनभूत अग्नि को भली-भांति जानते हो और मैं बहुत ही श्रद्धा से जिज्ञासुभाव से आप से उस अग्नि को जानना चाहता हूं । अतः आप मुझे योग्य शिष्य समझकर अवश्य उपदेश कीजिए । और यह अग्नि यज्ञाग्नि ही है, जिसके द्वारा समस्त वैदिक-कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, तभी वह स्वर्ग का साधन बन पाती है ।

यहां कई भाष्यकार 'अग्नि' शब्द से ज्ञानाग्नि का ग्रहण करते हैं, किन्तु यह उपनिषत् के अभिप्राय से प्रतिकूल होने से सत्य नहीं है । क्योंकि आगे (कठो० १।१५) हवन की अग्नि के लिए इष्टका=ईंटों के चयन की बात कदापि सङ्गत न हो सकेगी ।

अब यमाचार्य नचिकेता के प्रति स्वर्ग्य-अग्नि का उपदेश करते हैं—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निन्नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१।१४॥

***पदार्थ*—**(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग की प्राप्ति के साधनभूत (अग्निम्) अग्निहोत्रादि को (प्रजानन्) जानता हुआ (तत्) उस अग्नि को (ते) तेरे लिए (प्रब्रवीमि) प्रकृष्टता से उपदेश करता हूं। तुम (मे) मेरे वचनों को (उ) ध्यान से (निबोध) सुनकर ज्ञान प्राप्त करो । (अथो) इसके अनन्तर (त्वम्) तुम (एनम्) इस स्वर्ग्य-अग्नि को, जो (अनन्तलोकाप्तिम्) अविनश्वर या निर्बाध सुखों की प्राप्ति का साधन है और (प्रतिष्ठाम्) वैदिककर्मों की प्रतिष्ठा=आश्रयभूत अथवा सूर्यादिरूप में जगत् का आश्रयभूत है, उसे ही (गुहायाम्) जीवों की हृदय-रूप गुफा में जाठराग्नि के रूप में जिसके आश्रय से समस्त शरीर में रुधिरादि की गति होती है, (निहितम्) स्थित (विद्धि) जानो ।

***भावार्थ*—**स्वर्ग-प्राप्ति के प्रमुख साधन यज्ञादि वैदिक कर्म हैं । और ये सब भौतिकाग्नि के सम्पर्क से ही सम्पन्न होते हैं । ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के सब वैदिक कर्मों का आश्रय यह अग्नि ही है । यही

अग्नि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का हेतु है ? सूर्यरूप में यही अग्नि जगत् को जीवन प्रदान करती है और जठराग्नि रूप में प्राणियों के जीवन का आधार है ।

समीक्षा—आचार्य शङ्कर ने 'निहितं गुहायाम्' का अर्थ 'बुद्धौ निविष्टम्=बुद्धि में निविष्ट' किया है । यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध होने से सत्य नहीं है । क्योंकि अग्नि जठराग्नि के रूप में हृदय में ही स्थित है, बुद्धि में नहीं । इसी प्रकार 'प्रतिष्ठाम्' पद का अर्थ 'आश्रयं जगतो विराड्रूपेण' विराट्रूप में जगत् का आश्रय अर्थात् परमात्मा-रूप अग्नि अर्थ किया है । यह भी पूर्वापर की सङ्गति से विरुद्ध होने से मिथ्यार्थ ही जानना चाहिए ।

उक्त-प्रकार से यज्ञादि स्वर्ग के साधनों का आश्रयभूत अग्नि की स्तुति करके यमाचार्य नचिकेता के प्रति अग्नि-चयन का प्रकार बताते हैं—

लोकादिमग्निं[१] तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्या यथा वा ।
स चापि तत् प्रत्यवदद् यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१।१५॥

पदार्थ—(तस्मै) उस नचिकेता के लिए यमाचार्य ने (तम्) उस पूर्वोक्त (लोकादिम्) देखने में आदिकारण (अग्निम्) यज्ञाग्नि का (उवाच) उपदेश किया कि यज्ञ में (याः) जो (वा) और (यावतीः) जितनी और (यथा) जैसी (इष्टकाः) चयनीय ईंटों की आवश्यकता होती है, अर्थात् वेदि-रचना तथा यज्ञ की समस्तविधियों का यमराज ने नचिकेता के लिए व्याख्यान किया । यहां 'इष्टकाः[२]' शब्द उपलक्षणार्थक है । इसी प्रकार के यज्ञ के सभी साधनों तथा विधियों को बताया । (च) और (सः, अपि) उस नचिकेता ने भी (यथा, उक्तम्) जैसे उपदेश किया था, (तत्) उस को वैसे ही (प्रत्यवदत्) यथाविधि यमराज को सुनाया । (अथ) इसके बाद अस्य, (तुष्टः) इस नचिकेता की विलक्षण बुद्धि को देखकर प्रसन्न (मृत्युः) यमराज (पुनः, एव)

---

१. यहां भौतिकाग्नि को 'लोकादिम्' इसलिए कहा है—क्योंकि यह भौतिकाग्नि प्राणियों के लोकन=देखने में आदि कारण है । सूर्यादि भी अग्नि के ही रूप हैं, इनके विना नेत्रेन्द्रिय भी नहीं देख सकती ।

१. 'इष्टकाः' शब्द का अर्थ महर्षि-दयानन्द ने यजु० १३।६१ में इस प्रकार किया है—'इज्यन्ते सङ्गम्यन्ते कामा यैः पदार्थैः' अर्थात् कामनाओं की प्राप्ति के साधनभूत पदार्थ ।

फिर भी (आह) वरदान के अतिरिक्त कुछ विशेष कहने लगे ।

भावार्थ—गुरु को शिक्षा देते समय यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि शिष्य उसको कितना ग्रहण कर रहा है । यहां नचिकेता के प्रति यम आचार्य ने यज्ञाग्नि का विस्तृत वर्णन किया, यज्ञ की विधि के साथ-साथ यज्ञकुण्ड में ईंटों की चयन-विधि भी बताई । जिसको नचिकेता ने समझकर ज्यों का त्यों गुरु को सुना भी दिया । शिष्य की इस योग्यता से यमाचार्य बहुत ही प्रसन्न हुए और वरदान से भिन्न भी प्रशंसा के रूप में विशेष बातें कहने लगे ।

कई भाष्यकार 'लोकादिम्' शब्द से अग्नि की उत्पत्ति सर्व प्रथम मानते हैं, किन्तु यह अर्थ उपनिषत् के विरुद्ध है । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः०' (तैत्तिरीय ब्राह्मण अनु० १) के अनुसार आकाश और वायु के बाद अग्नि की उत्पत्ति बताई है । अतः यह अग्नि दर्शन=देखने का आदिकारण है, यही अर्थ उचित है ।

नचिकेता की यज्ञादि में विशेष रुचि तथा उसकी कुशाग्रबुद्धि को देखकर यमाचार्य कहते हैं—

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१।१६॥

पदार्थ—शिष्य को योग्य समझकर (प्रीयमाणः) प्रसन्न होकर (महात्मा) अपने विषय में अव्याहत-बुद्धि वाले यमाचार्य (तम्) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) कहने लगे कि—(इह) इस दूसरे वरदान के प्रसंग में (भूयः) और अधिक (अद्य) इस समय (तव) तेरे लिए (वरम्) वरदान (ददामि) देता हूं कि (अयम्) यह (अग्निः) यज्ञाग्नि अथवा (यज्ञविद्या (तव, एव) तेरे ही (नाम्ना) नाम से अर्थात् नाचिकेताग्नि नाम से (भविता) प्रसिद्ध होगी (च) और तुम (इमाम्) इस (अनेकरूपाम्) आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि आदि अनेक रूपों वाली (सृङ्काम्) प्रतिष्ठासूचक चिह्न अथवा माला को (गृहाण) ग्रहण करो ।

भावार्थ—यमाचार्य नचिकेता की योग्यता से प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि यह अग्नि भविष्य में तुम्हारे ही नाम (नाचिकेताग्नि) नाम से प्रसिद्ध होगी । इससे तुम्हारा यश सदा बना रहेगा । और इस के विभिन्न रूप हैं, तुम इसे समस्तरूप में (माला रूप

में) जान गए हो अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि रूप में तुम ने इस अग्नि को जान लिया है । इसके द्वारा वैदिक-कर्मों के अनुष्ठान से तुम्हें स्वर्ग=सुख विशेष की प्राप्ति होगी ।

अब यमाचार्य स्वर्ग्य-अग्नि के ज्ञान का फल कथन करते हैं–

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्म-मृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥१।१७॥

***पदार्थ*—**(त्रिणाचिकेत:) नचिकेता के लिए जिस अग्नि का उपदेश किया था, वह अग्नि 'नाचिकेत' नाम से प्रसिद्ध हो गई । और उसका ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि नाम से तीन अग्नियों का चयन करने के कारण 'त्रिणाचिकेत' नाम प्रसिद्ध हो गया। इस त्रिणाचिकेत-अग्नि का चयन करने वाला पुरुष (त्रिभि:) माता, पिता तथा आचार्य से (सन्धिम्) सत्सङ्गति या शिक्षा (एत्य) प्राप्त होकर (त्रिकर्मकृत्) यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीन कर्मों का करने वाला (जन्म-मृत्यू) जन्म=जीव का शरीर-संयोग, और मृत्यु=शरीर से वियोग रूप दु:खों को (तरति) पार कर लेता है । वह (ब्रह्मज-ज्ञम्) ब्रह्म से उत्पन्न होने से वेद-ज्ञान के ज्ञाता (ईड्यम्) स्तुति करने योग्य (देवम्) परब्रह्म को (विदित्वा) जानकर और (निचाय्य) निश्चय करके (इमाम्) इस सर्वदु:खरहित (शान्तिम्) शान्ति को (अत्यन्तम्) अतिशयता से (एति) प्राप्त कर लेता है ।

***भावार्थ*—**इस श्लोक में कहा है यज्ञाग्नि को जानकर यज्ञ, अध्ययन तथा दान इन तीन कर्मों को करने वाला परब्रह्म को जानकर परम-शान्ति को प्राप्त करता है । त्रिकर्मकृत्=तीन कर्मों को करने वाला, यहां तीन कर्म कौन से हैं ? इसका उत्तर छन्दोग्योपनिषद् (प्र० २ । खं० २३) में दिया गया है–"त्रयो धर्म-स्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।" अर्थात् धर्म के तीन स्कन्ध हैं । एक यज्ञ=उत्तम अग्निहोत्रादि कर्मों का करना, दूसरा विद्या का अध्ययन करना और तीसरा दान=विद्यादि उत्तम गुणों का देना । 'ब्रह्मज-ज्ञम्' पद का अर्थ है–ब्रह्मणो जायत इति ब्रह्मज:=वेद:, जानातीति ज्ञ: । ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञ: । अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण वेद-ज्ञान को 'ब्रह्मज' कहते हैं अर्थात् जो वेद-ज्ञान का

दाता तथा सर्वज्ञ है, उस देव को जानकर ही शान्ति मिलती है । जैसा कि (यजु० ३१।१८) में कहा—"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।" और "त्रिभिः सन्धिमेत्य" का अभिप्राय है कि मानव के तीन शिक्षक होते हैं। जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

"मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद ।" इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है । वह कुल धन्य, वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों । जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है, उतना किसी से नहीं ।" (सत्यार्थ० द्वितीय-समुल्लासः)

समीक्षा—आचार्य शङ्कर ने 'ब्रह्मजज्ञम्' पद का अर्थ इस प्रकार किया है—

"ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः।"

अर्थात् ब्रह्म=हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होने के कारण 'ब्रह्मज' शब्द सर्वज्ञ ब्रह्म का वाचक है और वह ज्ञः=ज्ञाता है । यहां सर्वज्ञ ब्रह्म की हिरण्यगर्भ से उत्पत्ति बताकर मिथ्यार्थ ही दिखाया है । क्योंकि परब्रह्म शाश्वत चेतन सत्ता है, उसका किसी से जन्म नहीं होता ।

अब प्रकारान्तर से यज्ञाग्नि के जानने के फल का कथन करते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१।१८

पदार्थ—(यः) जो (विद्वान्) ज्ञानवान् (त्रिणाचिकेतः) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में आहवनीयादि रूप में तीन बार नाचिकेत-अग्नि का चयन करने वाला पुरुष है । वह (एतत्, त्रयम्) इन यज्ञाग्नि के उक्त तीन प्रकारों को (विदित्वा) जानकर अर्थात् गुरुजनों से सीखकर (एवम्) इस प्रकार (नाचिकेतम्) नचिकेता के नाम से प्रसिद्ध यज्ञाग्नि को (चिनुते) चयन करता है अर्थात् विधिवत् अनुष्ठान करता है । (सः) वह (मृत्युपाशान्) मृत्यु=दुःख के बन्धनों को (पुरतः) शरीर-वियोग से प्रथम ही (प्रणोद्य) छिन्न-भिन्न करके (शोकातिगः) शोक-रहित होता हुआ जीवन्मुक्त दशा में (स्वर्गलोके) सुख की अवस्था में (मोदते) आनन्द-युक्त रहता है ।

***भावार्थ*—**जो पुरुष माता, पिता तथा आचार्य इन तीन शिक्षकों से विद्या प्राप्त करके ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में विधिवत् आहवनीयादि अग्नियों का चयन करता है अर्थात् वैदिक विधि से अग्न्याधान करता है, ऐसा विद्वान् पुरुष मृत्युपाश=दुःख के बन्धनों से मुक्त हो जाता है, और जीवन-काल में ही जीवन्मुक्त होकर आनन्द से रहता है । उसे किसी प्रकार का शोकादि=मानस दुःख भी दुःखी नहीं कर पाता है । इस प्रकार यहां जीवन्मुक्त का वर्णन किया गया है । और शरीर-वियोग से पूर्व ही स्वर्ग-लोक में आनन्द से रहने की बात से यह भी स्पष्ट है कि 'स्वर्ग' कोई लोक-विशेष (स्थानविशेष) नहीं है, प्रत्युत सुखविशेष का नाम ही स्वर्ग है । स्वर्ग को लोकविशेष मानने वाले इस श्लोक की सङ्गति कदापि नहीं लगा पाते, क्योंकि इसमें पुरतः पद पठित है, जिसका आचार्य शङ्कर ने भी 'पूर्वमेव शरीरपाताद्' अर्थ किया है ।

अब यमाचार्य द्वितीय वर का उपसंहार करते हुए कहते हैं–

एष तेऽग्निर्नचिकेतः ! स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१।१९॥

***पदार्थ*—**(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (एषः) यह (अग्निः) पूर्वोक्त अग्नि (स्वर्ग्यः) स्वर्ग=सुखविशेष के लिए उपयोगी है । इसका (ते) तेरे लिए उपदेश किया गया है, (यम्) जिस अग्नि को (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर के द्वारा (अवृणीथाः) तुमने मांगा था । (एतम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (तव, एव) तुम्हारे ही नाम से अर्थात् 'नाचिकेताग्नि' के नाम से (जनासः) मनुष्य (प्रवक्ष्यन्ति) कहा करेंगे । (नचिकेतः) हे नचिकेता ! अब (तृतीयं वरम्) तीसरा वर (वृणीष्व) मांगो ।

***भावार्थ*—**गीता में कहा है–"यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।" अर्थात् श्रेष्ठ-पुरुष जैसा आचरण करते हैं, सामान्य व्यक्ति उसका ही अनुकरण किया करते हैं । यमाचार्य ने जैसा कहा कि इस स्वर्ग्य-अग्नि को तेरे ही नाम से कहा करेंगे, आज तक विद्वान् पुरुष उस अग्नि को 'नाचिकेत' नाम से ही व्यवहार करते हैं । यमाचार्य ने इस दूसरे वरदान के देने के बाद तीसरे वरदान के लिए नचिकेता से कहा।

अब 'पिता की प्रसन्नता' तथा 'स्वर्ग्य-अग्नि' के ज्ञान के पश्चात् नचिकेता तीसरा वर मांगता है–

**येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥१।२०॥**

***पदार्थ*—**हे यमाचार्य ! (मनुष्ये) मनुष्य के (प्रेते) मरने के बाद (अयम्) यह शरीरस्थ चेतन आत्मा (अस्ति) नित्य है (इति, एके) इस प्रकार कुछ विद्वान् मानते हैं (च) और (न, अस्ति) आत्मा की सत्ता नहीं है (इति एके) कुछ ऐसा मानते हैं, (या) जो (इयम्) यह (विचिकित्सा) संशय होता है, इस विषय में (त्वया) आपसे (अनुशिष्टः) शिक्षा पाया हुआ (अहम्) मैं नचिकेता (एतत्) इस आत्मज्ञान को (विद्याम्) जानूं (एषः) यह मेरा (वराणाम्) वरों में (तृतीयः) तीसरा वर है ।

***भावार्थ*—**नचिकेता पूर्वोक्त दोनों वरों को पाकर यमाचार्य से तीसरे वर के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है—हे आचार्य ! लोक में जो यह संशय है कि मरने के बाद आत्मा है और कुछ कहते हैं कि आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, इसमें क्या तत्त्व है ? मैं इस रहस्य को समझना चाहता हूं । आप इस आत्मविद्या का मुझे उपदेश करें यह मेरा तीसरा वर है ।

अब यमाचार्य तीसरे वर के विषय में नचिकेता से कहते हैं—

**देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥१।२१॥**

***पदार्थ*—**(अत्र) इस आत्मज्ञान के विषय में (पुरा) पहले (देवैः) विद्या से प्रकाशमान विद्वानों ने (अपि) भी (विचिकित्सितम्) संशय किया था, (हि) क्योंकि (एषः, धर्मः) यह आत्मा के ज्ञान का विषय (अणुः) अति सूक्ष्म है, अतः (सुविज्ञेयम्) सब को सुगमता से जानने योग्य (न) नहीं है अर्थात् आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील सभी पुरुषों को सफलता प्राप्त ही हो, यह सन्दिग्ध है, इसलिए (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (अन्यम्) जिसके फल मिलने में सन्देह हो, इससे भिन्न (वरम्) वर को (वृणीष्व) मांगो । और (मा) मुझ को (मा, उपरोत्सीः) वरदान के लिए वचनबद्ध मुझे अधिक विवश मत करो अथवा इस वरदान के लिए दबाव मत डालो (मा) मेरे प्रति (एनम्) इस वर को (अति सृज) छोड़ दो ।

***भावार्थ*—**यमाचार्य ने आत्मज्ञान के विषय में बताया कि यह विषय बहुत ही सूक्ष्म है, इसका जानना अतीव कठिन है । बड़े-बड़े

विद्वानों को भी इस विषय में पूर्ण ज्ञान न होने से सन्देह ही बना हुआ है । इसलिए नचिकेता की आत्मज्ञान का अधिकारी है या नहीं, परीक्षा करने के लिए यमाचार्य कहते हैं कि ऐसे कठिन, सूक्ष्म, दुर्विज्ञेय तथा सन्दिग्ध विषय को छोड़कर और कोई वर मांगो ।

नचिकेता तीसरे वर के विषय में यमाचार्य की अनिच्छा देखकर उसी के लिए पुनः आग्रह करता है—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्यं एतस्य कश्चित् ॥
१।२२।।

पदार्थ—(मृत्यो) हे यमाचार्य ! (अत्र) इस आत्मज्ञान के विषय में (देवैः) बड़े-बड़े विद्वानों ने (अपि) भी (विचिकित्सितम्) संशय किया था (च) आप भी (यत्) जिस आत्मज्ञान विषय को (सुविज्ञेयम्) सुगमता से जानने योग्य (न) नहीं है, यह (आत्थ) कहते हो । इसी से मैं यह समझ गया हूं कि यह विषय अति सूक्ष्म और कठिन है किन्तु (अस्य) इस विषय का (वक्ता) उपदेश करने वाला मुझ को (त्वादृक्) आपके समान (अन्यः) दूसरा (न, लभ्यः) नहीं मिल सकता (च) और (एतस्य) इस आत्मज्ञान के (तुल्यः) समान (अन्यः) दूसरा (कश्चित्) कोई (वरः, न) मेरा वर नहीं है ।

भावार्थ—नचिकेता ने यमाचार्य से अपने मांगे हुए आत्मज्ञान के वर को ही देने का आग्रह करते हुए कहा कि—यह सत्य है, यह आत्मज्ञान का विषय सुगम नहीं है । इसीलिए विद्वानों को भी सन्देह होता रहता है, और आप भी इसकी सफलता में सन्देह व्यक्त कर रहे हो । परन्तु नचिकेता पुनरपि अपने वर के लिए ही आग्रह इसलिए करता है कि इस विषय का योग्य विद्वान् उपदेष्टा आपसे (यमाचार्य से) दूसरा कोई नहीं है । अतः इस विषय का ज्ञान अन्यत्र दुर्लभ है । आप मुझे इसी विषय का उपदेश अवश्य दीजिए । मैं इस वर से श्रेष्ठ और किसी वर को नहीं समझता हूं।

अब नचिकेता के पुनराग्रह करने पर यमाचार्य परीक्षा करने के लिए भौतिक सुखों का प्रलोभन देते हुए कहते हैं—

शतायुषः पुत्र-पौत्रान् वृणीष्व बहून पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥१।२३

***पदार्थ*—**हे नचिकेता ! तुम (शतायुषः) सौ वर्ष पर्यन्त जीने वाले (पुत्र-पौत्रान्) पुत्र और पौत्रों (पोतों) को (बहून्, पशून्) बहुत से गौ आदि पशुओं को (हस्ति-हिरण्यम्) हाथियों तथा सुवर्ण को (अश्वान्) और घोड़ों को (वृणीष्व) मांगो और (भूमेः) पृथिवी के (महत्) बड़े (आयतनम्) राज्य को (वृणीष्व) मांगो (च) और (स्वयम्) तुम भी (यावत्) जितने (शरदः) वर्षों तक (इच्छसि) जीना चाहते हो, उतने वर्षों तक (जीव) जीवन प्राप्त करो ।

***भावार्थ*—**यमाचार्य नचिकेता को भौतिक सुख अर्थात् दीर्घजीवी, पुत्र-पौत्रों, गौ आदि पशुओं, हाथी-घोड़ों, सुवर्णादि रत्नों तथा विशाल चक्रवर्ती राज्य का प्रलोभन देते हैं और यह भी कहते हैं कि तुम जितने वर्ष जीना चाहो, उतने वर्ष जीवित रहो । इस प्रकार संसार के सभी प्रकार के सुखों का नचिकेता को प्रलोभन दिया गया । यद्यपि कोई भी व्यक्ति जन्म-धारण करके न मरे, मृत्यु=शरीर से वियुक्त न होवे, यह असम्भव है । जैसा कि गीता में कहा है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।। गीता ।।

अर्थात् जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु तथा जिसकी मृत्यु हुई है, उसका जन्म अपरिहार्य है । इस ईश्वरीय नियम में कभी कोई विकल्प कोई भी न तो आज तक कर सका है, न ही भविष्य में कर सकेगा । यहां यमाचार्य का कथन प्रलोभनमात्र ही समझना चाहिए कि तुम भी जितने काल तक जीना चाहो, तब तक जीवित रहो ।

नचिकेता को यमाचार्य प्रकारान्तर से और प्रलोभन देते हैं—

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानान्त्वा कामभाजं करोमि ।।१।२४।।

***पदार्थ*—**(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (यदि) जो (एतत्, तुल्यम्) इस आत्मज्ञान के समान (वरम्) आगे कही जाने वाली वस्तुओं को वररूप में (मन्यसे) समझते हो तो (वित्तम्) भोग के साधन सुवर्णादि ऐश्वर्य को (च) और (चिरजीविकाम्) दीर्घ-जीवन को (वृणीष्व) मांगो । (त्वम्) तुम (महाभूमौ) भूमि पर विशाल साम्राज्य में (एधि) उपर्युक्त भौतिक सुखों को प्राप्त करते रहो, मैं (त्वा) तुझ को (कामानाम्) अभीष्ट कामनाओं का (कामभाजम्) भोग वाला (करोमि) करता हूं ।

***भावार्थ*—**यमाचार्य नचिकेता को प्रलोभन देते हुए कहते हैं कि मरने के बाद क्या होता है ? आत्मा है या नहीं ? इन नीरस बातों को पूछकर तुम्हें क्या सुख मिलेगा ? मैं तुम्हें धनैश्वर्य, दीर्घजीवन के साथ-साथ ऐसा वर दे सकता हूं कि तुम विशाल साम्राज्य के सम्राट् होकर सभी अभीष्ट कामनाओं का भोग कर सकते हो । और जो भी अन्य कोई कामना हो, मैं उसे भी पूर्ण कर सकता हूं ।

यमाचार्य शिष्य की परीक्षा करने के लिए प्रत्यक्ष इन्द्रियों के सुखों का प्रलोभन देते हुए कहते हैं-

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो ! मरणं मानुप्राक्षीः ॥१।२५

***पदार्थ*—**(मर्त्यलोके) इस पृथिवी पर (ये ये) जो-जो (कामाः) कामनाएं (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं, उन (सर्वान्) सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) स्वेच्छा से (प्रार्थयस्व) मांगो । (इमाः) ये जो (सरथाः) रमण के साधन सम्पन्न रथों पर बैठी हुई (सतूर्याः) श्रुतिमधुर बाजों के सहित (इमाः) मनुष्यों को प्रसन्न करने वाली रूपवती स्त्रियां हैं, उनको देता हूं (हि) क्योंकि (ईदृशाः) ऐसी सौन्दर्ययुक्त तथा रूप सम्पन्न स्त्रियां (मनुष्यैः) सामान्य मनुष्यों को (न, लम्भनीयाः) प्राप्त नहीं हो सकतीं । (मत्प्रत्ताभिः) मुझ से दी गई (आभिः) इन तन, मन, धन से सेवा करने वाली युवतियों से (परिचारयस्व) अपनी सेवा कराओ और (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (मरणम्) मृत्यु अर्थात् मरने के बाद आत्मा के विषय में (मा, अनुप्राक्षीः) मत पूछो ।

***भावार्थ*—**संसार में दो ही बड़े प्रलोभन होते हैं-१. काञ्चन, २. कामिनी । जिनके आकर्षण से कोई विरले ही बच पाते हैं । यमाचार्य ने भी नचिकेता के सामने दोनों ही प्रलोभन दिए हैं, क्योंकि जो इनमें आसक्ति रखता है, उसे आत्मज्ञान कदापि सम्भव नहीं है । भगवान् मनु ने इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कहा है कि-

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ॥

अर्थात् जो अर्थ तथा काम में आसक्त नहीं हैं, उन्हें ही धर्मज्ञान होता है । इसलिए आत्मज्ञान के देने से पूर्व नचिकेता की परीक्षा ली

गई। क्योंकि अनधिकारी को विद्या अर्थात् आत्मज्ञान के उपदेश का कोई लाभ नहीं है ।

इस श्लोक में 'सरथा:' पद में रथ शब्द का रथयान के अतिरिक्त एक अर्थ यह भी है—रमण=भोग करने का ज्ञान । यमाचार्य ने यह कहा कि मैं तुझे इन पदार्थों के भोग की विधि भी बता सकता हूं। महर्षि दयानन्द 'रथ' पद का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

"रथ-शब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते ।"

(ऋ० भू० धारणाकर्षण-विषय:)

अर्थात् रमण=आनन्द करने वाला ज्ञान व तेज अर्थ रथ शब्द से गृहीत होता है ।

यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! तुम इस लोक की दुर्लभ से दुर्लभ कामनाओं को मांगो । रमण कराने वाली मनुष्यों को दुर्लभ रूपवती स्त्रियों को प्राप्त करो । उनसे अपनी खूब सेवा करवाओ और गाने बजाने वाली संगीतज्ञ स्त्रियों की मांग करो, जो तुम्हारा मनोरञ्जन कराती रहें, किन्तु मृत्यु के पश्चात् आत्मसत्ता के विषय में प्रश्न न करो। ऐसे कठिन तथा नीरस विषय को पूछकर भी क्या करोगे ?

अब यमाचार्य के प्रलोभनों को सुनकर नचिकेता बहुत ही गम्भीरता तथा कुशलता से युक्ति-सहित उत्तर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥१।२६॥

***पदार्थ*—**(अन्तक) हे यमाचार्य ! (यत्) जो तुमने सांसारिक भोगों के देने को कहा है वे सब (श्वोभावा:) कल रहेंगे वा नहीं अर्थात् उत्पत्ति-विनाशवाले होने से अनित्य हैं और (एतत्) ये भोग (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) सब चक्षुरादि इन्द्रियों के (तेज:) प्रताप या बल को (जरयन्ति) नष्ट कर देते हैं । और जो आप ने यथेष्ट आयु देने को कहा है, यह (सर्वम्, अपि) सभी (जीवनम्) जीवन (अल्पम्, एव) अल्प ही है अर्थात् आत्मज्ञान से होने वाली मुक्ति की अपेक्षा सौ दो सौ वर्षों का जीवन तुच्छ ही है । और जो आपने सुन्दर रथादि सहित स्त्रियों को देने को कहा है, वे (वाहा:) रथादि वाहनों सहित स्त्रियां, (तव, एव) आपकी ही रहें और (नृत्यगीते) नाचना, गाना व बजाना भी (तवैव) आपका ही रहे, मैं ये सब नहीं चाहता ।

भावार्थ—नचिकेता ने भौतिक भोगों, दीर्घायु तथा सुन्दर-सुन्दर स्त्रियों के प्रलोभन के विषय में स्पष्टरूप से उत्तर दिया है कि हे यमाचार्य! आप तो अन्तक=संसार के उत्पन्न पदार्थों को नाश करने वाले हो, इसलिए ये सांसारिक सभी भोग के साधन श्वोभावाः=उत्पत्ति-नाशयुक्त हैं, आज हैं तो कल नहीं रहेंगे । ऐसे पदार्थों को ले कर मैं क्या करूंगा ? और इनके भोगने से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है । फिर दुर्बल-इन्द्रिय होने पर तो लौकिक वस्तुओं का क्या सुख होगा ? और यह जीवन भी सदा न रहने से तुच्छ ही है । इसलिए मैं इन भोगों को नहीं चाहता । इसलिए ये सब भोग तुम्हारे लिए ही बने रहें, मुझे इनकी लेशमात्र भी इच्छा नहीं है ।

अब नचिकेता भौतिक-भोगसाधनों के तुच्छ होने में और हेतु कथन करता है—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥१।२७॥

पदार्थ—(मनुष्यः) मनुष्य (वित्तेन) धनादि ऐश्वर्यों के भोग से (न, तर्पणीयः) तृप्त नहीं हो सकता (चेत्) यदि (त्वा) आपको (अद्राक्ष्म) दर्शन=जान सके तो (वित्तम्) भोगों को (लप्स्यामहे) प्राप्त कर ही लेंगे (यावत्) जब तक (त्वम्) आप (ईशिष्यसि) मेरे अधिष्ठाता=ऊपर वरदहस्त रखे रहोगे अथवा धनादि ऐश्वर्य देने से मेरे ईश्वर=स्वामी, बने रहोगे तब तक (जीविष्यामः) जीवन प्राप्त करते रहेंगे, अतः (मे) मुझे (वरः, तु) वर तो (सः, एव) वही (वरणीयः) मांगने योग्य है ।

भावार्थ—नचिकेता अपने आत्मज्ञान के वर के लिए ही आग्रह करते हुए कहता है कि मुझे तो वही वर चाहिए । क्योंकि मनुष्य की संसार के भोगों से तथा ऐश्वर्यों से कभी तृप्ति नहीं हो सकती । जितना इन भोगों की तरफ मनुष्य भागता है, ये भोग उतना ही अधिक दुःखी करते हैं । मनु जी ने इसलिए कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥　　(मनु०)

अर्थात् कामनाओं के भोग करने से कामनाओं की शान्ति नहीं होती, प्रत्युत अग्नि में आहुति डालने के समान कामों की वृद्धि ही होती है । इस लिए महाराज भर्तृहरि कहते हैं—"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः" भोगों

को भोगते भोगते भोग कदापि समाप्त नहीं होते, हम ही समाप्त हो जाते हैं । इस श्लोक में 'वित्तम्' पद केवल धन के लिए ही नहीं है, किन्तु "वित्तो भोगप्रत्ययोः" (अ०) इस व्याकरण नियम से वित्त शब्द भोगार्थक ही जानना चाहिए । प्रस्तुत प्रसंग में भी नचिकेता का यही भाव है ।

इस श्लोक से यह भी स्पष्ट हो रहा है कि यह यम-नचिकेता का संवाद एक आलङ्कारिक वर्णन ही है । इस के द्वारा जीवों को यह शिक्षा दी गई है कि वह परमात्मा ही सब का अन्तक=विनाश करने वाला है । उसके दर्शन व ज्ञान से सांसारिक ऐश्वर्यों की न्यूनता भी नहीं रहती और जब तक उसकी कृपा बनी रहेगी, तभी तक हमारा जीवन सुरक्षित रहेगा यद्यपि परमात्मा कर्मों के अनुसार ही फल देता है, परन्तु जो जीव परमात्मा पिता के आदेशों का पालन करते हैं, उन पर ही उसकी कृपा होती है, अन्यों पर नहीं । जैसा कि इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य.....यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।

कठो० २।२३।।

अर्थात् आत्मज्ञान प्रवचन से ही नहीं होता जब परमात्मा का अनुग्रह होता है, तब उसका ज्ञान होता है ।

अब नचिकेता लौकिक सुखों के प्रति अपनी अनिच्छा का कारण बताते हुए कहते हैं–

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥१।२८॥

***पदार्थ*—**(अजीर्यताम्) जीर्ण होने वाली वृद्धावस्था से रहित (अमृतानाम्) आप सदृश मुक्त-पुरुषों की सङ्गति (उपेत्य) प्राप्त करके और (वर्ण-रतिप्रमोदान्) सुन्दर गौरवर्ण वाली स्त्रियों के साथ रति-क्रीडाओं के विषय सुखों के दुःख परिणाम को (अभिध्यायन्) अच्छी प्रकार ध्यान=जानता हुआ (कु-अधस्थः) मुक्ति-सुख की अपेक्षा कु=पृथिवी के सुखों की तुच्छता को जानने वाला, और (जीर्यन्) भोगों से शरीर व इन्द्रियों की शक्ति से ह्रास को अनुभव करता हुआ (कः) कौन (प्रजानन्) सत्यासत्य का विवेक करने वाला (मर्त्यः) विचारशील मनुष्य है, जो (अतिदीर्घे) बहुत समय तक रहने वाले (जीविते) मनुष्य जीवन में (रमेत) भोगों में रमण करने की इच्छा करे अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—लौकिक समस्त सुख मोक्ष-सुख की अपेक्षा बहुत हीन तथा क्षणिक होते हैं । जो इन विषयों के सुखों के परिणाम को नहीं जानता वह तो इनमें आसक्त हो सकता है, किन्तु सत्-असत् का सम्यक् विचार करने वाला इन सुखों की कैसे इच्छा करेगा ? और जिसे ईश्वर की कृपा से लेशमात्र भी परमात्मा की उपासना से ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति होने लगती है, तब ये सुख-दुःखबाहुल्य ही दिखाई देते हैं । नचिकेता भी इसी दशा में पहुंच चुका था और सदा मुक्त यमाचार्य की सङ्गति मिल चुकी थी, फिर वह कैसे इन प्रलोभनों में फंस सकता था । नचिकेता ने एक प्रकार से परोक्षरूप में अपनी योग्यता ही यमाचार्य से बताई है ।

अब नचिकेता लौकिक-सुखों की तुच्छता बताकर अपने मुख्य-वर के लिए पुनः आग्रह करता है—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत् साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यन्तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥१।२९

पदार्थ—(मृत्यो) हे यमाचार्य ! (यस्मिन्) जिस आत्मज्ञान के विषय में (इदम्) यह अर्थात् मरने के बाद आत्मा की सत्ता है या नहीं इत्यादि (विचिकित्सन्ति) देव व मनुष्य सभी संशय करते हैं (यत्) जो आत्मज्ञान (महति) बड़ी (साम्पराये) परमार्थ-दशा में है (तत्) उस ज्ञान को (नः) हमारे लिए (ब्रूहि) उपदेश कीजिए । (यः) जो (अयम्) यह आत्मज्ञान-विषयक वर है, यह (वरः) वर (गूढम्) छिपी हुई अर्थात् अस्पष्ट होने से अकथनीय दशा को (अनुप्रविष्टः) प्राप्त हो रहा है, इसलिए (नचिकेता) नचिकेता (तस्मात्) उससे (अन्यम्) भिन्न वर को (न, वृणीते) नहीं मांगता ।

भावार्थ—नचिकेता का आत्मा-विषयक वर ही मुख्य वर था । जैसे जैसे यमाचार्य ने नचिकेता की परीक्षा करने के लिए लौकिक प्रलोभन दिए, वैसे-वैसे ही नचिकेता की जिज्ञासा अधिक बढ़ने लगी । इसलिए आत्मा के विषय में अद्वितीय ज्ञाता तथा वक्ता यमाचार्य से वह अपने उसी आत्मज्ञान के वर के लिए पुनः आग्रह करता हुआ कहता है कि मुझे उससे भिन्न दूसरा कोई भी वर नहीं चाहिए ।

इति कठोपनिषदि प्रथम-वल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥
समाप्तेयञ्च प्रथमावल्ली ॥

अथ कठोपनिषदि द्वितीया वल्ली

भौतिक सुखों के नाना प्रलोभनों से उत्तीर्ण नचिकेता को आत्मज्ञान का योग्य अधिकारी समझकर यमाचार्य विद्या और अविद्या के भेद का कथन करते हैं–

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते ॥
॥२।१॥

पदार्थ—हे नचिकेता ! (श्रेयः) अतिशय प्रशंसित कल्याण का मार्ग अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति का साधनरूप कर्म (अन्यत्) लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा विलक्षण और दूसरा है । (उत) और (प्रेयः) अतिशय प्रिय लगने वाला लौकिक स्त्रीधनैश्वर्यादि अभ्युदय का मार्ग (अन्यत्, एव) मोक्ष-मार्ग से भिन्न ही है। (ते) वे श्रेय और प्रेय (उभे) दोनों (नानार्थे) भिन्न-भिन्न प्रयोजन वाले (पुरुषम्) मनुष्य को (सिनीतः) कर्म-फल रूप रस्सियों से बांधते हैं । (तयोः) उन दोनों में से (श्रेयः) कल्याणकारी मोक्ष-मार्ग को (आददानस्य) ग्रहण करने वाले का (साधु) अच्छा फल (भवति) होता है (उ) और (यः) जो (प्रेयः) अत्यन्त प्रिय वस्तुओं को (वृणीते) स्वीकार करता है, वह (अर्थात्) मनुष्य-जीवन के परमलक्ष्य मोक्षरूप प्रयोजन से (हीयते) भ्रष्ट हो जाता है ।

भावार्थ—यमाचार्य नचिकेता को आत्मज्ञान का योग्य अधिकारी समझकर उपदेश देने लगे कि हे नचिकेता ! मनुष्य-जीवन के लिए संसार में दो ही मार्ग हैं—एक श्रेय और दूसरा प्रेय । इन्हीं को ही दूसरे शब्दों में निवृत्तिमार्ग तथा प्रवृत्ति मार्ग कहते हैं । इन में से श्रेय-मार्ग कल्याण का मार्ग है और प्रेय-मार्ग मानव को मोक्षरूप फल से विमुख करता है। अतः श्रेय-मार्ग को अपनाने से यथार्थ सुख की प्राप्ति होती है ।

उपर्युक्त दोनों श्रेय-प्रेय मार्गों में से धीर मनुष्य किस मार्ग को अपनाता है ?

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
॥२।२॥

पदार्थ—(मनुष्यम्) मनुष्य को (श्रेयः) कल्याण मार्ग (च) और (प्रेयः) अतिशय प्रिय धनैश्वर्यादि का मार्ग, ये दोनों (आ+इतः) प्राप्त होते हैं। अर्थात् संसार में दोनों मार्ग देखने में आते हैं परन्तु (धीरः) विवेकी विद्वान् पुरुष (तौ) उन दोनों मार्गों को (सम्परीत्य) शास्त्रों के अनुशीलन से शुद्ध हुई बुद्धि से निश्चय कर (विविनक्ति) विवेक करता है और (धीरः) विवेकी विद्वान् पुरुष (प्रेयसः) प्रेय मार्ग से (श्रेयः) कल्याण मार्ग को (हि) निश्चय से (अभि वृणीते) सर्वथा स्वीकार करता है तथा (मन्दः) मन्द-बुद्धि पुरुष अथवा अविवेकी-पुरुष (योगक्षेमात्) भौतिक-सुखों के साधनों के योग=उपार्जन और क्षेम=उनके रक्षण के कारण (प्रेयः) अत्यन्त प्रिय लगने वाले भोगों के मार्ग को ही (वृणीते) स्वीकार करता है ।

भावार्थ—श्रेय और प्रेय दोनों मार्गों में से विवेकी पुरुष श्रेय-मार्ग को अपनाता है और मन्दमति=अविवेकी पुरुष प्रेय-मार्ग को ही अपनाता है । यथार्थ में मानव की द्विविध प्रवृत्ति देखने में आती है—एक दैवी और दूसरी आसुरी । दैवी प्रवृत्ति का व्यक्ति प्रत्येक कर्म के परिणाम पर विचार कर फिर उसे अपनाता है, किन्तु आसुरी प्रवृत्ति का व्यक्ति इस रहस्य को नहीं समझ पाता है । जैसे कि कहा है—

परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षं द्विषः ॥

अर्थात् विवेकी देव=विद्वान् प्रत्यक्ष-सुख पर ध्यान न देकर परोक्षफल को अच्छा समझते हैं और आसुरी वृत्ति के व्यक्ति इन्द्रियों के सुख को ही सुख समझते हैं, चाहे इनका परिणाम=फल कुछ भी हो । इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"यह बड़ा दृढ़ निश्चय है कि "यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।" यह गीता का वचन है । इसका अभिप्राय यह है कि जो विद्या और धर्म-प्राप्ति के कर्म हैं वे प्रथम करने में विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं ।" (सत्यार्थ० भूमिका)

धीर=विवेकी और मन्द-मति का यह अन्तर बताकर नचिकेता की प्रशंसा करते हुए श्रेय-मार्ग को अपनाने से यमाचार्य ने उसे यहां धीर कहा है ।

यथार्थ में संसार के सुखों को सुख समझना भी अविद्या है । योगदर्शन में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ योग० २।१५॥

इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि व्यास लिखते हैं कि-"या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिः तत्सुखम् । या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम् । कस्मात् ? यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति, तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति ।" (व्यासभाष्यम्)

अर्थात् विवेकी पुरुष के लिए सांसारिक-सुख सुख नहीं हैं । प्रत्युत दुःख ही हैं क्योंकि उनका परिणाम सुखमय नहीं है । जिसे हम सांसारिक सुख कहते हैं, वह भोगों से इन्द्रियों की तृप्ति का नाम है, और इन्द्रियों की चञ्चलता से अशान्त-दशा ही दुःख है । भोग करने से इन्द्रियों को तृष्णारहित कभी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसे-जैसे विषयों के भोग बढ़ाए जाएंगे, वैसे-वैसे उनमें राग बढ़ेगा और इन्द्रियों की विषयों के प्रति कुशलता बढ़ेगी । इसलिए लौकिक भोग करना सुख का उपाय कदापि नहीं हो सकता ।

प्रेय-मार्ग के प्रलोभनों में न फंसने के कारण यमाचार्य नचिकेता की प्रशंसा करते हैं-

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्याम्मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥
॥२।३॥

***पदार्थ*—**(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (सः) वह, जिसे अनेकविध प्रलोभन दिए गए हैं (त्वम्) तुमने (प्रियान्) प्रिय पुत्र-पौत्रादि (च) और (प्रियरूपान्) अतिशय-सुन्दर स्त्री आदि (कामान्) अनित्य तथा परिणाम में दुःखरूप काम-भोगों को (अभिध्यायन्) सब प्रकार से विचार करके (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया है और (एताम्) इस प्रबलतम आकर्षक भोगैश्वर्यरूप (सृङ्काम्) लोहमयी शृङ्खला को (न, अवाप्तः) नहीं प्राप्त हुए अर्थात् भोग-बन्धनों से छूट गए (यस्याम्) जिस भोग-शृङ्खला में (बहवः) बहुत, प्रायः (मनुष्याः) मनुष्य (मज्जन्ति) फंस जाते हैं या कल्याण-मार्ग को भूलकर भोगों में ही डूब जाते हैं ।

***भावार्थ*—**यमाचार्य नचिकेता को धीर=विवेकी मानकर उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि हे नचिकेता ! तुमने ऐसे प्रवृत्ति-मार्ग का

परित्याग कर दिया है, जिसकी मायामोहमयी, वित्तमोहमयी तथा सुन्दर कामिनियों की चमकीली आकर्षक लहरों में प्रायः मनुष्य डूब जाते हैं। इसलिए इन प्रिय तथा प्रियतम प्रलोभनों के त्याग से मैं तुम्हें आत्मज्ञान का योग्य अधिकारी समझता हूं।

यमाचार्य नचिकेता की विवेक-बुद्धि की प्रकारान्तर से प्रशंसा करते हैं—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या[१] या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त॥
॥२।४॥

पदार्थ—(एते) श्रेय और प्रेय ये दोनों मार्ग (दूरम्, विपरीते) एक दूसरे से भिन्न होने से दूर तथा रात-दिन के समान परस्पर विरुद्ध हैं। (विषूची) परस्पर विरोधी प्रयोजनों के सूचक हैं, इन दोनों को विद्वानों ने (अविद्या) प्रेय को विपरीतज्ञान होने से अविद्या (च) और विद्या श्रेय को यथार्थज्ञान होने से विद्या (इति) इस प्रकार (ज्ञाता) जाना है। मैं (नचिकेतसम्) हे नचिकेता! तुम को (विद्याभीप्सिनम्) यथार्थ-ज्ञानरूप श्रेय-मार्ग को अपनाने से विद्या को चाहने वाला (मन्ये) मानता हूं अर्थात् **आत्मज्ञान के लिए योग्य अधिकारी** समझता हूं, क्योंकि (त्वा) तुम को (बहवः) बहुत से (कामाः) प्रलोभन वाले विषयों के भोग (न, लोलुपन्त) विषयों के प्रति लोभित (लुभायमान) नहीं कर सके अर्थात् तुम्हें संसार के विषय नहीं बांध सके हैं।

भावार्थ—विद्या और अविद्या में क्या अन्तर है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए यहां कहा गया है कि ये दोनों प्रकाश तथा अन्धकार के तुल्य परस्पर विरोधी और भिन्न-भिन्न फल वाले हैं। प्रेय-मार्ग अर्थात् संसार के समस्त सुख इसलिए सुख नहीं हैं कि इनका

---

१. अविद्या मिथ्याज्ञान का ही नाम है, नवीन वेदान्तियों की मानी हुई 'माया' कदापि नहीं है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

(क) तस्य हेतुरविद्या। (योग० २।२४)

अर्थात् अविद्या विपरीत ज्ञान को कहते हैं और वह वासना-संयोग का कारण है।

(ख) इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या॥ (वैशे० ९।२।१०)

अर्थात् इन्द्रियदोष तथा संस्कारदोष से अविद्या=मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति होती है।

परिणाम दुःख ही होता है । इसलिए इन दुःखमय भोगों में सुख मानना अविद्या ही है । इस रहस्य को विद्वान् ही समझ सकते हैं । योगदर्शन में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि–

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥
(योग० २।५)

विद्या क्या है ? और अविद्या क्या है ? इसका इसमें विवेचन किया गया है । महर्षि-दयानन्द ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है–

"जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्यजगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्रबुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषयसेवनरूप दुःख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है । यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है ।

इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है । अर्थात् 'वेत्ति यथावत् तत्त्वं पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति, भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति साऽविद्या" जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है ।" (सत्यार्थ० ९ समु०)

नवीन वेदान्ती अविद्या को माया का पर्यायवाची मानकर जगत् को मिथ्या मानते हैं । यह उनका अज्ञान ही है, क्योंकि यह समस्त कार्यजगत् मिथ्या नहीं है, यह प्रकृति का विकार है और प्रकृति में ही लीन हो जाता है । और प्रकृति नित्य एक सत्ता है । योगदर्शन के प्रमाण के अनुसार अविद्या का लक्षण अवश्य पढ़कर नवीन वेदान्तियों की कल्पित अविद्या से बचना चाहिए ।

अब प्रेयमार्ग के पथिक अविद्या में रत पुरुषों की क्या दशा होती है, इसका वर्णन करते हैं–

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥
॥२।५॥

पदार्थ—जो विद्या-अभिलाषी पुरुष नहीं हैं, उनकी दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं–(अविद्यायाम्) विपरीत-ज्ञान के (अन्तरे) बीच में अर्थात् बड़े अज्ञानान्धकार में (वर्त्तमानाः) पड़े हुए या फंसे हुए (स्वयं धीराः) अपने आपको विवेकशील (पण्डितम्मन्यमानाः) तथा बुद्धिमान् समझते हुए (दन्द्रम्यमाणाः[१]) बार-बार कुटिलाचरण करते हुए (मूढाः[२]) कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य के विवेक से विमुख मनुष्य (यथा) जिस प्रकार (अन्धाः) नेत्रविहीन पुरुष (अन्धेन, एव) नेत्र-विहीन पुरुष के साथ ही (नीयमानाः) चलने वाले हों, उसी प्रकार (परियन्ति) चारों तरफ गति करते हैं ।

भावार्थ—संस्कृत-व्याकरण में एक प्रसिद्ध वाग्धारा (मुहावरा) है कि "नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति" अर्थात् एक नौका को दूसरी नौका से बांध दिया जाए तो वह दूसरी नौका को पार नहीं पहुंचा सकती। उसी प्रकार जो स्वयम् अविद्याग्रस्त होने से अन्धा है, अर्थात् संसार के विषयों में फंसा है, वह कभी भी दूसरे को नहीं बचा सकता।

ऐसा जो अविवेकी पुरुष है, उसमें स्वतः ही कुछ दोष आ जाते हैं । जैसे वह कभी भी दूसरे की सत्य बात को नहीं मान सकता, क्योंकि वह अपने आपको बहुत विवेकी और बुद्धिमान् समझने लगता है । और वह इसीलिए कभी भी कुटिलाचरण से निवृत्त नहीं हो सकता। जैसे अन्धे के पीछे चलने से अन्धों को कभी भी अभीष्ट स्थान या लक्ष्य नहीं प्राप्त हो सकता, वैसे ही अविद्या-ग्रस्त भी दुःखसागर में ही गोते लगाते रहते हैं, उनका चित्त कुटिलाचरण करने के कारण सदा मूढ=विक्षिप्त दशा में रहता है । ऐसे पुरुषों को मोक्षसुख कैसे मिल सकता है ?

अविद्या-ग्रस्त मनुष्य की दशा का प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं–

---

१. यहां गत्यर्थक धातु से "नित्यं कौटिल्ये गतौ ।" (अ० ३।१।२३) सूत्र से कुटिलता अर्थ में यङ् प्रत्यय हुआ है और फिर यङन्त से शानच् प्रत्यय हुआ है ।

२. योगदर्शन के भाष्यकार व्यासमुनि ने चित्त की पांच अवस्थाएं बताई हैं–"क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तम्, एकाग्रम्, निरुद्धमिति चित्तभूमयः ।" (योग० १।१ व्यासभाष्यम्) ।।

इनमें मूढावस्था वह होती है, जिसमें कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का विवेक ही न हो सके ।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन[१] मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
॥२।६॥

पदार्थ—(वित्तमोहेन) "संसार के भोग के साधन स्त्री, धनैश्वर्यादि पदार्थ शरीर से वियोग होते समय यहीं रह जायेंगे अथवा जीवन-काल में चोर-डाकू छीन ले जायेंगे अथवा राजा कर के रूप में ले लेगा तो मैं क्या करूँगा ।" इत्यादि वित्त=भोग के समस्त साधनों के मोह से (मूढम्) मोहजाल में फंसे हुए (प्रमाद्यन्तम्) कल्याण-मार्ग से प्रमाद करने वाले (बालम्[२]) अज्ञानी पुरुष को (साम्परायः) परलोक का साधन परमार्थविचार (न, प्रतिभाति) अच्छा नहीं लगता है और (अयम्, लोकः) यह प्रत्यक्ष दीखने वाला भौतिक सुख ही है, इससे (परः) दूसरा अर्थात् मरणोत्तर का लोक=सुख (न, अस्ति) नहीं है (इति) इस प्रकार (मानी) मिथ्याभिमान करनेवाला पुरुष (पुनः पुनः) बार-बार जन्म-मरण के चक्र में आकर (मे) मुझ यम=न्यायाधीश की (वशम्) कर्मानुसार फलव्यवस्था को (आपद्यते) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—"विद्ययाऽमृतमश्नुते" इस वेद के वचनानुसार विद्या= यथार्थज्ञान से मृत्यु—दुःख-बन्धन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, किन्तु जो अविद्या-ग्रस्त होने से बालक है, अविवेकी है, विषय-भोगों को ही सब कुछ समझता है और मरण के पश्चात् पाप-पुण्य के फलों पर भी कोई विश्वास नहीं करता, ऐसा नास्तिक पुरुष परमात्मा की न्याय-व्यवस्था के वशीभूत होकर विभिन्न योनियों में आवागमन करता रहता है ।

महर्षि-दयानन्द ने ऋ० भा० भू० में यम-नचिकेता के आख्यान को परमात्मा तथा जीवात्मा का संवाद माना है । प्रस्तुत मन्त्र से भी यही स्पष्ट हो रहा है । यम=नियन्ता परमेश्वर की व्यवस्था से ही जीव सुख व दुःख को प्राप्त करते हैं ।

---

१. यद्यपि राग, द्वेष तथा मोह ये तीन श्रेयमार्ग में प्रबल बाधक हैं। पुनरपि मोह सब से अधिक बाधक है । न्यायदर्शन में कहा है—"तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोपपत्तेः।" (न्या० ४।१।६) इस सूत्र के भाष्यकार ने मोह के चार रूप माने हैं—"मिथ्याज्ञानं, विचिकित्सा, मानः, प्रमादः ।"

२. अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।" (मनु०) मनु जी ने भी अज्ञानी को बालक कहा है ।

अब यमाचार्य अविद्याग्रस्त की निन्दा करके, विद्वान् मुमुक्षु जनों की प्रशंसा करते हुए नचिकेता के वरणीय वर को ध्यान में रखकर कहते हैं—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः ।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
॥२।७॥

***पदार्थ*—**(यः) जो आत्मा का ज्ञान (बहुभिः) बहुत से मनुष्यों को (श्रवणाय) सुनने को (अपि) भी (न, लभ्यः) प्राप्त नहीं होता अर्थात् सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहने अथवा योग्य अधिकारी न होने के कारण सुन भी नहीं पाते और (बहवः) बहुत से मनुष्य (शृण्वन्तः) सुनते हुए (अपि) भी (यम्) जिस आत्मा के ज्ञान को (न, विद्युः) नहीं समझ सकते । क्योंकि (अस्य) इस आत्मज्ञान का (वक्ता) व्याख्यान करने वाला (आश्चर्यः) असंख्यों में कोई विरला ही अद्भुतस्वरूप होता है और (अस्य) इस आत्मज्ञान का (लब्धा) प्राप्त करने वाला (कुशलः) कोई विरला ही विवेकी कुशाग्रबुद्धि होता है और (कुशलानुशिष्टः) विवेकी ब्रह्मज्ञानी आचार्य से उपदेश पाया हुआ (ज्ञाता) ज्ञानी (आश्चर्यः) कोई विरला ही अद्भुतरूप में होता है, सब नहीं ।

महर्षि-दयानन्द ने कठोपनिषद् के इस श्लोक की दो स्थानों पर व्याख्या की है—

१. "(श्रवणाया०) जिस परमेश्वर को सुनने को बहुत मनुष्य प्रवृत्त होते हैं, परन्तु उनमें से जो विद्वान् सत्याचरण करने वाले हैं, वे ही परमेश्वर को सुन के प्राप्त होते हैं और जो इस प्रकार के नहीं हैं, वे परमेश्वर को सुन के भी प्राप्त नहीं होते । क्योंकि इस परमेश्वर का यथार्थ उपदेश करने वाले का मिलना कठिन है तथा ब्रह्म जानने से परमेश्वर को सुनके जानने वाला भी कठिन है । सो जो कुशल अत्यन्त चतुर है, वही इस ब्रह्म को प्राप्त होता है । क्योंकि इसका जानने वाला अत्यन्त अद्भुत है और इस कुशल पुरुष के उपदेश से भी जो इस ब्रह्म को यथावत् जानता है, वह भी इस जगत् में आश्चर्यरूप ही है । इस कारण से परमेश्वर को 'चित्रश्रवस्तम' इस मन्त्र (ऋ० १।१।५) में विशेषण दिया है ।"

(ऋग्वेद-भाष्य के नमूने का अंक, लघु० पृ० १४६)

२. 'पञ्चमहायज्ञविधि' पुस्तक में "चित्रं देवानामुदगात्०" मन्त्र की व्याख्या में (चित्रम्=अद्भुतस्वरूपम्) 'चित्रम्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रमाण रूप में इस श्लोक का पूर्वार्द्ध ही उद्धृत किया है और उसकी व्याख्या में लिखा है–

(क) "आश्चर्यस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणः ।"

अर्थात् ब्रह्म आश्चर्यस्वरूप है । (लघु० २२६ पृ०)

(ख) "आश्चर्यश्रवणत्वं परमेश्वर एव घटते नान्यत्रेति ।"

(लघु० १४६ पृ०)

अर्थात् आश्चर्य श्रवणत्व परमेश्वर में ही घटता है, अन्यत्र नहीं । महर्षि ने यह वाक्य (श्रवणाया०) की व्याख्या में संस्कृत में ही लिखा है।

***भावार्थ*—**आत्मज्ञान का विषय बहुत ही सूक्ष्म तथा गहन है । प्रथम तो लौकिक मनुष्य आत्मज्ञान के योग्य अधिकारी ही नहीं बनना चाहते, क्योंकि इसके लिए शम-दमादि साधन से तपःसाध्य संयम करना पड़ता है । अतः आत्मज्ञान लौकिक सुखों में आसक्त होने वाले को कदापि सम्भव नहीं है और जो योग्य अधिकारी भी बन जाते हैं, उन्हें आत्मज्ञान के वेत्ता तथा अनुभवी गुरु का मिलना दुर्लभ होता है जो उसे आत्मज्ञान का उपदेश दे सके । और बहुत से आत्मज्ञान को सुनते हुए नहीं समझ पाते । इसका कारण स्पष्ट है कि योग्य अधिकारी तथा योग्य गुरु मिलने पर भी यह ज्ञान शाब्दिक रूप से ही नहीं हो सकता । एतदर्थ श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनादि के द्वारा निरन्तर अभ्यास करने की भी परमावश्यकता है । इसलिए यहां आत्मज्ञान के श्रोता तथा वक्ता को आश्चर्यरूप-अद्भुत[१] बताया गया है ।

अब आत्मज्ञान का उपदेश सामान्य मनुष्य का विषय नहीं है, इसके लिए कोई साक्षात् अनुभवी ही गुरु होना चाहिए, यह कथन करते हैं–

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते न गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥२।८॥

---

१. 'अद्भुत का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं–"इदमपीतरद् अद्भुतम्=अभूतमिव" (निरु० १।६) आश्चर्य अर्थ में जो 'अद्भुत' शब्द का प्रयोग है वह भी अभूतम् इव=अनहुआ जैसा होता है ।

पदार्थ—(अवरेण) परमार्थी से भिन्न सामान्य (नरेण) मनुष्य से (प्रोक्तः) उपदेश किया हुआ (एषः) आत्मज्ञान (बहुधा) बार-बार (चिन्त्यमानः) चिन्तन किया हुआ भी (न, सुविज्ञेयः) सरलता से नहीं जाना जा सकता (अनन्यप्रोक्ते[१]) सामान्य मनुष्य से उपदिष्ट (अत्र) इस आत्मज्ञान में (गतिः) आत्मजिज्ञासु की प्रवृत्ति (नास्ति) नहीं होती (हि) क्योंकि वह आत्मतत्त्व (अणु-प्रमाणात्) सूक्ष्म-प्रमाण से भी (अणीयान्) अत्यन्तसूक्ष्म है, अतः (अतर्क्यम्[२]) यह तर्क का विषय नहीं है ।

भावार्थ—जिस पुरुष ने आत्म-तत्त्व का साक्षात् अनुभव नहीं किया है, वह जिज्ञासु की आशंकाओं का उचित समाधान कदापि नहीं कर सकता । इसलिए ऐसे पुरुष से आत्मज्ञान का उपदेश हृदयङ्गम भी नहीं हो पाता क्योंकि आत्मज्ञान का विषय आकाशादि सूक्ष्म पदार्थों से भी अतिशय सूक्ष्म है । जो विद्वान् व्यक्ति है, किन्तु आत्मानुभव से शून्य है, वह तर्क से उसके प्रश्नों का उत्तर तो दे सकता है, किन्तु अनुभव नहीं करा सकता । और विना अनुभव के आत्मज्ञान में कोई गति नहीं हो सकती। इसलिए इस ज्ञान को तर्क का विषय नहीं बनाना चाहिए ।

महर्षि दयानन्द के जीवन की घटनाएं इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उन्होंने भौतिकवाद की छत्रछाया में शिक्षित नास्तिक श्री पं० गुरुदत्त विद्यार्थी तथा महात्मा मुन्शीराम जी के परमात्मा-विषयक समस्त प्रश्नों का उत्तर तो दे दिया और उनकी एक भी शङ्का शेष नहीं रहने दी। किन्तु फिर भी वे यही कहते रहे—'स्वामिन् ! आपने हमें निरुत्तर तो कर दिया, किन्तु अभी भी हमें-परमात्मा के प्रति विश्वास नहीं होता । तब स्वामी जी ने उन्हें यही उत्तर दिया था—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" यह आत्मज्ञान उपदेश से ही नहीं प्राप्त होता । क्योंकि यह तर्क का विषय न होकर अनुभव का विषय है ।'

---

१. यहां 'न अन्यः=अनन्यः' ऐसा अर्थ करके पूर्वपंक्ति में कथित 'अवर' शब्द का ही संकेत किया है । अर्थात् जो अन्य नहीं, उसका नाम 'अनन्य' हुआ । किससे अन्य नहीं ? इसका उत्तर स्पष्ट है, जिसका पूर्ववाक्य में कथन किया गया है ।

२. 'अतर्क्यम्' यहां लिङ्गव्यत्यय समझकर आत्मा के साथ लगाना चाहिए ।

आत्मज्ञान तर्क का विषय नहीं है, यह कथन करते हैं–

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यान्त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥२।९॥

***पदार्थ*—**(प्रेष्ठ) हे अतिशय प्रिय नचिकेता ! (एषा) यह (मतिः[१]) आत्मज्ञान-विषयक बुद्धि (तर्केण) तर्क से (न, आ+अपनेया) त्याग करने योग्य नहीं है अर्थात् तर्क-वितर्क करने से आत्म-तत्त्व अनुभव में नहीं आता, इसलिए इसे नहीं छोड़ना चाहिए, किन्तु (अन्येन, एव) नास्तिक से भिन्न आस्तिक से ही (प्रोक्ता) उपदिष्ट मति=आत्मज्ञान (सुज्ञानाय) अच्छी प्रकार ज्ञान के लिए होता है । (सत्यधृतिः) हे नचिकेता ! तुम सत्य में धैर्य रखनेवाले हो (त्वम्) तुमने (याम्) जिस मति=विवेकशील बुद्धि को (आपः, असि) प्राप्त किया है, (बत[२]) अनुकम्पित यमाचार्य कहते हैं–(नचिकेतः) हे नचिकेता ! हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि (नः) हमारे से (प्रष्टा) आत्मज्ञान को पूछनेवाला (त्वादृक्) तेरे समान योग्य शिष्य (भूयात्) होवे ।

***भावार्थ*—**सुपरीक्षित नचिकेता की विवेक-सम्पन्न बुद्धि की प्रशंसा करते हुए यमाचार्य कहते हैं–हे नचिकेता ! तुम मुझे अतिशय प्रिय लग रहे हो, तुम ने सत्यधृति होकर जिस अद्‌भुत बुद्धि को प्राप्त कर लिया है, इसे तर्क से प्राप्त नहीं किया जा सकता । यह तो किसी अनुभवी आचार्य के उपदेश से ही प्राप्त होती है । मैं तेरे जैसे जिज्ञासु-शिष्यों के लिए आत्मज्ञान देने के लिए सदा तैयार हूं ।

और इन्द्रियातीत अतिसूक्ष्म आत्मज्ञान के विषय में तर्क की अनुपयोगिता इसलिए है कि तर्क का स्थान अनात्मवादी नास्तिक की शङ्काओं का निवारण करने के लिए तो ठीक है, जैसे खेत की पशु आदि से रक्षा करने के लिए कांटों की बाढ़ लगा देते हैं, वैसे ही तर्क है । न्यायदर्शन में तर्क के विषय में वात्स्यायन मुनि कहते हैं–"तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते ।" (न्या० १।१।१ वात्स्या०) अर्थात् तर्क न तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों में ही है

---

१. 'मतिः' पदे मन् धातोः स्त्रियां भावे करणकारके चापि क्तिन् प्रत्ययः । ततश्च 'ज्ञानम्' 'बुद्धिश्च' द्वावप्यर्थौ यथाप्रसङ्गं सङ्गमनीयौ ।

२. 'बत' इति खेदानुकम्पयोर्निपातः ।

और नहीं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न है किन्तु प्रमाणों का सहायक होकर तत्त्वज्ञान में सहकारी होता है ।

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत् । ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥
२।१०॥

***पदार्थ*—**यमाचार्य कहते हैं–(अहम्) मैं (जानामि) जानता हूं कि (शेवधिः[1]) सब धनादि ऐश्वर्य (अनित्यम्) अनित्य है (इति) इस प्रकार, और (अध्रुवैः) अस्थिर अनित्य धनादि ऐश्वर्यों से (हि) निश्चय कर (तत्) वह ध्रुवम्) निश्चल परब्रह्म (नहि, प्राप्यते) नहीं प्राप्त होता। (ततः) इसलिए धनादि ऐश्वर्य की इच्छा से रहित होकर अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के बाद (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (मया) मैंने (अग्निः) यज्ञाग्नि का (चितः) चयन किया है अर्थात् तुम्हारे लिए उपदेश दिया है । क्योंकि (अनित्यैः) अनित्य (द्रव्यैः) यज्ञाग्नि में समर्पित किए पदार्थों से अन्तःकरणादि के शुद्ध होने से (नित्यम्) नित्य परब्रह्म को (प्राप्तवान्, अस्मि) प्राप्त हुआ हूं ।

***भावार्थ*—**यमाचार्य ने कहा हे नचिकेता ! मैं यह जानता हूं कि इन प्रत्यक्ष भौतिक ऐश्वर्यों से नित्य परब्रह्म को नहीं जाना जा सकता । किन्तु **मैंने जिस यज्ञाग्नि का चयन किया है, उसके द्वारा अनित्य पदार्थों के दान (हवन) करने से और निष्काम-भाव से यज्ञादि करने से अन्तःकरण के मोह, राग, द्वेषादि दोषों के नष्ट होने से मैं परब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हो सका हूं ।** अतः मैंने तुम्हारे लिए भी उस अग्नि का उपदेश किया है ।

यमाचार्य के इस उपदेश से यह स्पष्ट है कि मुमुक्षु पुरुष के लिए भी यज्ञादि पुण्य कर्म अवश्य कर्त्तव्य हैं । शास्त्रों में निष्काम-भाव से अर्थात् कर्म-फल की इच्छा न करके 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।' (यजु०) कहकर जीवन भर शुभकर्मों के करने का उपदेश किया है । अतः कर्मों के परित्याग करने की नवीन वेदान्तियों की शिक्षा अवैदिक होने से मिथ्या ही है ।

यमाचार्य नचिकेता के विवेक की पुनः प्रशंसा करते हुए

---

१. निधिः शेवधिः ।। (निरु० २।४)

कहते हैं–

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥
॥२।११॥

***पदार्थ*—**(नचिकेतः) हे नचिकेता ! तुमने (कामस्य) कामनावश स्त्री-सम्बन्धी भोगों की (आप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) जङ्गम मनुष्यादि प्राणियों की (प्रतिष्ठाम्) स्थिति अर्थात् लुब्धकरने वाले समस्त पदार्थों को (क्रतोः) राजसूयाश्वमेधादि यज्ञों के (अनन्त्यम्) अखण्ड भूगोल के साम्राज्यसुख को (अभयस्य) निर्भयता की (पारम्) पराकाष्ठा अन्तिम सीमा को (उरुगायम्) बहुत मनुष्यों से प्रशंसित (महद्, स्तोमम्) बड़ी स्तुति और (प्रतिष्ठाम्) सांसारिक उत्कृष्टतम स्थिति को (धृत्या) धैर्य से (दृष्ट्वा परिणाम में दुःखरूप देखकर या जानकर (अत्यस्राक्षीः) त्याग दिया है, इसलिए (धीरः) तुम धीर कहलाने योग्य हो ।

***भावार्थ*—**इस प्रकरण में यमाचार्य ने नचिकेता को बार-बार 'धीर' (विवेकशील) कहा है । उसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए यम कहते हैं कि संसार के जितने प्रलोभन तथा सुख हैं, वे सब प्रत्यक्ष में रुचिकर तथा परिणाम में दुःख देने वाले हैं । तुमने यह भली-भांति विचार कर स्त्री-सम्बन्धी भोगों, लोक के ऐश्वर्यों अखण्ड-साम्राज्यों तथा इनसे भिन्न संसार की उत्कृष्टतम स्थितियों (जैसी दीर्घजीवी पुत्रों व पोतों को, गायादि दुधारु और हाथी व घोड़े आदि पशुओं को) और लौकिक सभी प्रतिष्ठाओं को त्याग दिया है, अतः तुम यथार्थ में 'धीर' हो ।

अब यमाचार्य नचिकेता के तीसरे वरदान के रूप में पूछे गए आत्मतत्त्व का उपदेश करते हैं–

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥२।१२॥

***पदार्थ*—**(धीरः) विवेकी पुरुष (अध्यात्मयोगाधिगमेन[१]) ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोककर परमात्मा के स्वरूप में चित्त को

---

१. ज्ञानेन्द्रियाणि विषयेभ्यः सन्निरुध्य परब्रह्मणः स्वरूपे चित्तस्य स्थितेः सम्पादनम् अध्यात्मयोगः । तथा चाह योगदर्शनकारः–

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥" "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।"

स्थिर करना 'अध्यात्मयोग' कहलाता है । इस अध्यात्मयोग की प्राप्ति से (तम्) उस पूर्वोक्त (दुर्दर्शम्) कठोर तपादि साधनों से जानने योग्य (गूढम्[1]) बाह्येन्द्रियों का विषय न होने से गुप्त (अनुप्रविष्टम्[2]) अन्तःकरण और जीवात्मा में व्याप्त (गुहाहितम्[3]) हृदयाकाश में स्थित (गह्वरेष्ठम्) सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से अत्यन्त दुर्गम स्थानों में भी स्थित (पुराणम्) अनादि सनातन (देवम्) प्रकाश करने वाले सूर्यादि प्रकाशक परब्रह्म को (मत्वा) जानकर (हर्ष-शोकौ) इष्ट को प्राप्ति से सुख और अनिष्ट की प्राप्ति से होने वाले दुःख को (जहाति) त्याग देता है ।

भावार्थ—यमाचार्य ने आत्मतत्त्व को समझाने के लिए परमात्मा के ज्ञान को अत्यावश्यक समझकर परमात्मा के स्वरूप को बताते हुए कहा कि जिस ब्रह्म को पहले 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' कहा गया है, उसको धीर=विवेकी पुरुष अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों को बाह्य विषयों से रोककर और परब्रह्म में स्थिर करके ही जान सकता है । क्योंकि वह ब्रह्म सरलता से नहीं जाना जा सकता । उसे बाह्येन्द्रियां तो जानने में कदापि समर्थ नहीं हो सकतीं, क्योंकि वह परम सूक्ष्म होने से हमारी आत्मा में भी व्याप्त है । वह एक अनादि सनातन सत्ता है, वह ऐसे दुर्गमनीय (जीवात्मा की पहुंच से परे) स्थानों में भी विद्यमान है । उसकी प्राप्ति का एकमात्र स्थान यह हमारा हृदयाकाश ही है । जब विवेकी पुरुष परब्रह्म को जान लेता है तो वह लौकिक सुख-दुःखों से प्रभावित नहीं होता अथवा ये सुख-दुःख उसे सुखी अथवा दुःखी नहीं कर पाते हैं । और वह धीर-पुरुष अपने लक्ष्य से कथञ्चिदपि विचलित नहीं होता । योगदर्शन के भाष्यकार इस विषय में लिखते हैं—

१. नैनद् देवाः आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।। (यजु० ४०।४) ।

२. यस्यात्मा शरीरम् ।। (बृहदारण्यक)

अर्थात् परमात्मा का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है । वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक भाव से रहता है ।

३. "कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है; जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो शक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है ।" (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदु:खमोहात्मिकाः । सुखदु:खाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः। दु:खानुशयी द्वेषः । मोहः पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः ॥

(योग० पाद १ । सू० ११ व्यासभाष्यम्)

अर्थात् ये सब वृत्तियां सुख-दु:ख मोहरूप हैं और सुख-दु:ख क्लेशों में कहे जाते हैं । सुख के पीछे रहने वाला राग है, दु:ख के पीछे रहने वाला द्वेष है और मोह अविद्या है । ये सारी वृत्तियां निरोध करने योग्य हैं।

उक्त दुर्लभ आत्मज्ञान को विरक्त नचिकेता के लिए सुलभ बताते हुए यमाचार्य कहते हैं ।

**एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥२।१३॥**

***पदार्थ*—**(मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (एतत्) इस पूर्वोक्त (धर्म्यम्[१]) अपने जगदुत्पत्ति आदि धर्म से कभी विचलित न होने वाले ब्रह्म को (श्रुत्वा) योग्य गुरु से सुनकर (सम्परिगृह्य) सम्यक् जानकर (प्रवृह्य) ब्रह्म का निदिध्यासनादि से अपनी आत्मा में अनुभव बढ़ा करके (एतम्, अणुम्) इस सूक्ष्म ब्रह्म को (आप्य) प्राप्त होकर (सः) वह मनुष्य (मोदनीयम्) ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल सदाचरण से प्रसन्न करने योग्य ब्रह्म को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर=अत्यन्त सान्निध्य में होकर (मोदते) आनन्दित हो जाता है । तुम ब्रह्म को प्राप्त करने की योग्यता रखते हो । अतः हे नचिकेता ! (नचिकेतसम्) तुम्हारे लिए ब्रह्म का (सद्म[२]) घर अथवा मार्ग (विवृतम्) अनावृत=खुला हुआ है । ऐसा (हि) निश्चय से (मन्ये) मैं यमाचार्य जानता हूं ।

***भावार्थ*—**यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है और उसमें जगदुत्पत्ति, स्थिति, प्रलयादि के नियम बहुत अटल हैं, इसीलिए ब्रह्म को 'धर्म्य' पद से कहा गया है । जब मुमुक्षु पुरुष ब्रह्म

---

१. धर्म्यम्=धर्मादनपेतमिति धर्मशब्दात् "धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ।" (अ० ४।४।९२) सूत्रेणानपेतार्थे यत् प्रत्ययः ।

२. सद्म=सीदन्ति प्राप्नुवन्त्यस्मिन्निति सद्म ब्रह्मज्ञानस्य सदनं तच्च हृदयाकाश एव । तथा चोक्तम्—हृदये चित्तसंवित् । (योग० ३।३४) यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित् ।।

(व्यासभाष्यम्)

का श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा साक्षात्कार कर लेता है, तब वह आनन्द-मग्न हो जाता है । हे नचिकेता ! यह ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग तुम्हारे लिए खुला हुआ है, क्योंकि तुमने सत्याचरण-संयम तथा लोभादि वृत्तियों के त्याग से ब्रह्म को जानने की योग्यता प्राप्त कर ली है ।

आचार्य यम के उपदेश को सुनकर नचिकेता ब्रह्मविषयक अपनी जिज्ञासा को स्पष्ट करने के लिए प्रश्न करता है–

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद् अन्यत्रास्मत् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥२।१४॥

***पदार्थ*—**हे आचार्य प्रवर ! आप (यत्) जिस को (धर्मात्) कर्त्तव्य=वैदिक यज्ञादि कर्मों से और (अधर्मात्) अकर्त्तव्य=हिंसादि कर्मों से (अन्यत्र) पृथक् (कृताऽकृतात्) कृत=कार्य तथा अकृत कारणरूप अर्थात् स्थूल व सूक्ष्मरूप जगत् से (अन्यत्र) भिन्न और (भूतात्) भूतकाल के (च) और (भव्यात्) भविष्यत् काल के (च) और वर्तमानकाल के व्यवहार से (अन्यत्र) भिन्न (पश्यसि) जानते हो (तत्) धर्माधर्म, कृताऽकृत तथा काल के बन्धन से रहित ब्रह्म को (वद) कहिए=उपदेश कीजिए ।

***भावार्थ*—**ब्रह्म=ईश्वर का लक्षण करते हुए योगदर्शनकार लिखते हैं–**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥** (यो० १।२४) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं–"अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे[१] लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो जो वासना, इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है, उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं ।।" (ऋ० भू० उपासना०)

इस प्रकार ईश्वर अविद्यादि क्लेशों, कुशल व अकुशल कर्मों की वासना और सर्वविध बन्धनों से रहित है । व्यासमुनि ने (यो० १।२४) सूत्र की व्याख्या में लिखा है–

"ईश्वरस्य तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी.......स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः ।" अर्थात् परमेश्वर को अविद्यादि का बन्धन न तो हुआ और

१. क्लेशादि की व्याख्या में व्यासमुनि लिखते हैं–"अविद्यादयः क्लेशाः । कुशलाकुशलानि कर्माणि । तत्फलं विपाकः । तदनुगुणा वासना आशयाः ।"

न ही कभी होगा । वह तो सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर है ।

नचिकेता ने यमाचार्य से ऐसे कालातीत व इन्द्रियविषयातीत ब्रह्म को जानने के लिए प्रार्थना की है । नचिकेता ने प्रथम मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व के विषय में प्रश्न पूछा था, किन्तु यमाचार्य ने प्रथम उसका उत्तर न देकर हर्ष-शोक की निवृत्ति का कारण जो ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान बताया है, इसलिए ब्रह्म के विषय में यह प्रश्न किया गया है ।

वह परब्रह्म कालातीत है, इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है । क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल, न होके होवे वह भविष्यत्काल कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है ? इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित वर्तमान रहता है । भूत, भविष्यत् जीवों के लिए हैं । हां जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं । जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है ।" (सत्यार्थ० सप्तमसमु०)

अब यमाचार्य नचिकेता को ब्रह्म का उपदेश करते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम् इत्येतत् ॥
॥२।१५॥

पदार्थ—(यत्) जिस (पदम्[१]) प्रापणीय ब्रह्म का (सर्वे वेदाः) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, ये सभी चारों वेद (आमनन्ति[२]) बार-बार प्रतिपादन करते हैं (च) और (सर्वाणि, तपांसि[३]) सब सत्यभाषणादि धर्मानुष्ठानरूप तप (यद्) जिसको (वदन्ति) कहते हैं अर्थात् जिसकी प्राप्ति के लिए ही सब तप किए जाते हैं (यम्) जिसकी (इच्छन्तः) प्राप्ति की इच्छा करते हुए (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियमों

१. पदम्=पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति तत्।। (ऋ० भू० महर्षि-दयानन्द)

२. "म्ना अभ्यासे" (भ्वा०) धातो रूपमेतत् । "पाघ्रा०" इत्यादिना मनादेशः ।

३. "ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतद् उपास्व, एतत् तपः ।" (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ८)

का (चरन्ति) अनुष्ठान करते हैं (तत्, पदम्) उस=पूर्वोक्त गुणविशिष्ट प्रापणीय ब्रह्म को (ते) तेरे लिए (संग्रहेण) संक्षेप से ब्रवीमि मैं यमाचार्य कहता हूं (एतत्) यह (ओम्, इति) 'ओम्' उसका मुख्य नाम है, इस प्रकार सब को जानना चाहिए ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की इस प्रकार व्याख्या की है–

"क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, उसका नाम 'ओम्' है ।" (सत्यार्थ० प्रथमसमु०)

"यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता । जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं, उस ब्रह्म का उपदेश मैं तुझ को करता हूं । तू सुनकर धारण कर।" (ल० भ्रमो० ३६६ पृ०)

(सर्वे वेदा:०) परम पद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होके सदा सुख में रहना, जो सब आनन्दों से युक्त सब दु:खों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिसके नाम (ओम्) आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है । ......उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है, क्योंकि जगत् का वर्णन–दृष्टान्त और उपयोगादि का करना सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान जिनको तप कहते हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिए हैं तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिए हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं । नचिकेता और यम इनका परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेता ! जो अवश्य प्राप्ति करने के योग्य परब्रह्म है, उसी का मैं तेरे लिए संक्षेप से उपदेश करता हूं । और **यहां यह भी जानना उचित है कि अलङ्काररूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिए ।"**

(ऋ० भू० वेदविषय० ३४ पृ०)

"(ओम्०) ओमिति[1] परमेश्वरस्य नामास्ति तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा

१. तस्य वाचक: प्रणव: ।। (योग० पा० १ । सू० २०)
ओ३म् खं ब्रह्म ।। (यजु० अ० ४०।१७)
ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।। (माण्डूक्यो०)
एतदादिभि:=प्रमाणै: सिध्यति यत् परमेश्वरस्य मुख्यं नाम ओमिति।।

आमनन्ति=आसमान्तादभ्यस्यन्ति=मुख्यतया प्रतिपादयन्ति (तपांसि) सत्य-धर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्य-ग्रहणमुपलक्षणार्थं ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति=ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्न-ध्यासमाना वदन्ति=उपदिशन्ति च । हे नचिकेतः ! अहं यमो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि ।"

(ऋ० भू० वेदविषय ३३ पृ०)

उपर्युल्लिखित व्याख्या महर्षि-दयानन्द ने यह बताते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों पर की है कि वेदों में केवल अपरा विद्या ही नहीं, प्रत्युत परा व अपरा दोनों विद्याओं का वर्णन है । यद्यपि महर्षि ने वेदों में विज्ञान, कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड भेद से चार विषय माने हैं, किन्तु सब से मुख्य विज्ञानविषय को माना है, जिसके द्वारा ज्ञान, कर्म, उपासना इनका उपयोग लेकर परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का बोध होता है और परमेश्वर का यथावत् ज्ञान होता है । महर्षि ने यहां 'तप' का अर्थ प्रमाण लिखकर सत्याचरणादि को माना है । 'तप' शब्द का साम्प्रदायिक लोगों ने जो मिथ्या अर्थ मान लिया था उनके विषय में महर्षि लिखते हैं—

"रामानुजीयादि लोग इस मन्त्र (पवित्रं ते विततं०) से चक्राङ्कित होना सिद्ध क्योंकर करते हैं......क्योंकि इस मन्त्र में 'अतप्ततनूः' शब्द है, किन्तु "अतप्तभुजैकदेशः ।" नहीं ।"

पुनः 'अतप्ततनूः' यह नखशिखाग्रपर्यन्त समुदाय अर्थ है इस प्रमाण करके अग्नि ही से तपाना चक्राङ्कित लोग स्वीकार करें तो अपने-अपने शरीर को भाड़ में झोंक के सब शरीर को जलावें तो भी इस मन्त्र के अर्थ के विरुद्ध है क्योंकि इस मन्त्र में सत्यभाषणादि पवित्र कर्मों को करना तप लिया है ।

ऋतं तपः सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः० ॥ (तैत्तिरीय०) इत्यादि तप कहाता है अर्थात् (ऋतं तपः) यथार्थ शुद्धभाव, सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्य इन्द्रियों को अन्यायाचरणों में जाने से रोकना । अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन से शुभ कर्मों का आचरण करना वेदादि सत्य विद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, वेदानुसार आचरण करना आदि उत्तमधर्मयुक्त कर्मों का नाम 'तप' है । धातु को तपा के चमड़ी को जलाना तप नहीं कहाता ।" (सत्यार्थ० एकादशसमु०)

"तपः सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम्, वेदादिसत्यशास्त्राणा-मध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा ।"

"(तपः) जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ गुणों के आचरण रूप तप से निर्मल कर देना ।" (ऋ० भू० उपासना-विषयः, पृ० १४०)

तप का फल बताते हुए योगदर्शन में कहा है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ (योग० २।४३)

अर्थात् तप वह है कि जिससे अशुद्धि का विनाश होने से शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि=निर्मलता होती है ।

भावार्थ—यमाचार्य ने नचिकेता को ब्रह्म का उपदेश देते हुए कहा है कि उस ब्रह्म का मुख्य नाम 'ओम्' है । ऋग्वेदादि चारों वेदों में ब्रह्म तथा ब्रह्मप्राप्ति के साधनों का ही विशेष वर्णन किया गया है । वेदों को पढ़कर यदि ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तो "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋग्वेद) स्वयं वेद-मन्त्र में वेद-पढ़ना निरर्थक बताया है । ब्रह्म-प्राप्ति का साधन केवल ज्ञान ही नहीं है, प्रत्युत सत्याचरणादि तप से शुद्धान्तःकरण करना भी बहुत आवश्यक है । मानव के ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों में अवस्थानुसार जो धर्म निर्धारित किए हैं, वे भी ब्रह्म-प्राप्ति के अवस्थानुसार साधन ही हैं । इस प्रकार चारों वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय तथा योगाङ्गानुष्ठानरूप तप व चारों आश्रमों का परम लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति ही है ।

परब्रह्म का मुख्य नाम 'ओम्' है, उसका ज्ञान करना ब्रह्मज्ञान के लिए परमावश्यक बताते हुए यमाचार्य कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥२।१६॥

पदार्थ—(एतत्) यह 'ओम्' (हि, एव[1]) ही (अक्षरम्[2])

---

१. अवधारणवाचकपदद्वयेनान्यस्य सर्वथा प्रतिषेधः कथ्यते । अर्थात् यहां 'हि, एव' ये दोनों पद निश्चयार्थ के बोधक हैं । जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्म का 'ओम्' ही मुख्यनाम है ।

२. 'अक्षरम्' पद के दो अर्थ हैं—(१) विनाश-रहित (२) व्यापक । इसमें निम्नलिखित प्रमाण हैं—"अक्षरं नक्षरं विद्याद् अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्।"

नाश-रहित शाश्वत (ब्रह्म) ब्रह्म है । (एतत्, एव) यह 'ओम्' ही (हि) निश्चय से (परम्) सर्वाधिक सूक्ष्म होने से (अक्षरम्) अक्षर=व्यापक है, इससे सूक्ष्म कोई नहीं है । (एतत्) इस अविनाशी ब्रह्म को (हि, एव) ही निश्चय से (ज्ञात्वा) जान कर (यः) जो पुरुष (यत्) जो, सांसारिक या पारलौकिक सुख (इच्छति) चाहता है, (तत्) वह सुख (तस्य) उसको अवश्य प्राप्त हो जाता है ।

***भावार्थ*—**मानव-जीवन का लक्ष्य सांसारिक तथा मुक्तिसुख को प्राप्त करना है । किन्तु परम-लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त करना है। इन उभयविध सुखों की प्राप्ति परब्रह्म के ज्ञान और उसके मुख्य-नाम 'ओम्' के सार्थक जप से होती है । इस श्लोक में परब्रह्म की दो मुख्य विशेषताओं का वर्णन किया गया है—

(१) वह ब्रह्म अक्षर=अविनाशी है । उसका विनाश प्रलय में भी नहीं होता । जैसे कि वेद में कहा है—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे०' (यजु०) वह ब्रह्म सृष्टि से पूर्व प्रलय के समय में भी विद्यमान था और अब भी है । उसी ने सब जगत् की रचना की है, वह ही इसका पालक तथा संहारक है ।

(२) ब्रह्म की प्रथम विशेषता जीवात्मा में भी घट जाती है, क्योंकि वह भी अनादि है । इसलिए यहां ब्रह्म की दूसरी विशेषता यह बताई है कि वह ब्रह्म परम्=बहुत अक्षरम्=व्याप्त है । वह प्रकृति तथा जीवात्मा में भी व्यापक है । व्यापक होने से ही ब्रह्म जगत् का एकमात्र नियन्ता है । अन्यत्र उपनिषदों में 'यस्यात्मा शरीरम्' (बृह०) कहकर जीवात्मा को परमात्मा का शरीर कहा है । ऐसे जगन्नियन्ता, सनातन तथा विभु ब्रह्म को मोक्षादि सुख-प्राप्ति के लिए जानना परमावश्यक है।

ईश्वर के मुख्य-नाम ओम् के विषय में व्यासमुनि लिखते हैं—

'किमस्य सङ्केतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति? स्थितोऽस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। यथाऽवस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः।।

(यो० पा० १। सू० २७ व्यास०)

(महाभाष्ये, नवाह्निके) अर्थात् 'अक्षर' का प्रथम अर्थ है—न क्षरतीति=अक्षरम्। जो कभी नाश को प्राप्त न हो । द्वितीय अर्थ है—व्यापक । 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से औणादिक 'सरन्' प्रत्यय करने पर 'अक्षर' शब्द सिद्ध होता है—अश्नुत इत्यक्षरम् । जो प्रत्येक पदार्थ में अति सूक्ष्म होने से व्यापक है, वह ब्रह्म अक्षर-पदवाच्य है ।

अर्थात् ईश्वर का वाचकरूप ओम् के साथ सङ्केतकृत (कृत्रिम) सम्बन्ध है या नित्य है ? वाच्य ईश्वर और वाचक ओम् का नित्य सम्बन्ध है । जैसे पिता-पुत्र का नियत सम्बन्ध होता है ।

अब 'ओम्' की उपासना ही सर्वोपरि है । यह कथन करते हैं—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥२।१७॥

***पदार्थ*—**ब्रह्मप्राप्ति तथा ब्रह्मज्ञान के समस्त साधनों में (एतत्) इस ब्रह्म के मुख्य नाम 'ओम्' का (आलम्बनम्) उपासना में जप रूप में आश्रय करना (श्रेष्ठम्) अत्यन्त प्रशस्त और (एतत्) यही (आलम्बनम्) साधन (परम्) सर्वोपरि है । (एतत्) इस (आलम्बनम्) 'ओम्' के जप तथा तदर्थभावना रूप साधन को (ज्ञात्वा) जानकर (ब्रह्मलोके) ब्रह्म के सान्निध्य से होने वाले मोक्ष-सुख में (महीयते) सब दु:खों से छूटकर शान्ति-रूप सुख से पूजित=सत्कृत होता है अर्थात् **'ओम्' के जप से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।**

***भावार्थ*—**ब्रह्म-ज्ञान के समस्त साधनों में 'ओम्' का जप करना तदर्थ के अनुसार भावना बनाना सर्वोत्तम उपाय है; क्योंकि 'ओम्' ही ब्रह्म का मुख्य नाम है । योगदर्शन में इस विषय में स्पष्ट लिखा है—

तस्य वाचकः प्रणवः । (योग० १।२७)
तज्जपस्तदर्थभावना ॥ (योग० १।२८)

अर्थात् परब्रह्म का मुख्य वाचक नाम 'ओम्' है । **और इस 'ओम्' के जप करने और अर्थ विचारने से समाधि-लाभ होता है।** इस प्रमुख साधन के आश्रय से ही मनुष्य ब्रह्मलोक=ब्रह्म के जिज्ञासुओं में श्रेष्ठ होने से महिमा को प्राप्त करता है और ब्रह्म के लोक=मोक्ष-सुख को प्राप्त करके पूजित होता है ।

समीक्षा—इस श्रुति की व्याख्या में स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—

'ब्रह्मलोके महीयते=परस्मिन् ब्रह्मण्यपरस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ।' अर्थात् परब्रह्म और अपर ब्रह्म में ब्रह्म भाव को प्राप्त ब्रह्म की भांति उपासनीय हो जाता है ।

यह व्याख्या मूल से विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती। उपनिषत् के पाठ में किसी शब्द से भी यह भाव प्रकट नहीं हो रहा है।

उपास्य-उपासक का सर्वज्ञ-अल्पज्ञ का तथा व्यापक-व्याप्य का भेद न मानना परस्पर विरोध होने से सत्य नहीं है ।

अब परमात्मा के जन्मादि के निषेध का कथन करते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२।१८

***पदार्थ*—**(अयम्) यह (विपश्चित्) ज्ञानस्वरूप अथवा सर्वज्ञ ब्रह्म (न, जायते) उत्पन्न नहीं होता (वा) और (न, म्रियते) न मरता है (कुतश्चित्) किसी भी उपादान कारण से (न, बभूव) उत्पन्न नहीं होता और (न, कश्चित्) न कोई पदार्थ उस ब्रह्म से (बभूव) उत्पन्न होता है अर्थात् न तो ब्रह्म का कोई उपादान कारण है और नहीं ब्रह्म ही किसी का उपादान कारण है । अतः वह ब्रह्म (अजः) अजन्मा है (नित्यः) कूटस्थ नित्य अर्थात् अपरिणामी है, जैसे दूध का विकार दही होता है, वैसे विकार अथवा घटना-बढ़ना ब्रह्म का नहीं होता और (शाश्वतः) वह ब्रह्म अनादि है (पुराणः) सदा रहनेवाला अथवा 'पुराणम्=पुरा नवं भवति' (निरुक्ते) इस प्रमाण के अनुसार वह ब्रह्म अब की तरह पहले भी नवीन होने से सदा एकरस रहता है और (शरीरे) प्रकृति के कार्यरूपी शरीर के (हन्यमाने) नष्ट होने पर=कारण में लय होने पर भी (न, हन्यते) नष्ट नहीं होता है ।

***भावार्थ*—**वेद में कहा है कि वह परमात्मा 'स पर्यगाच्छुक्रम् अकायम्०' (यजु०) स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से रहित है । और शरीर के संयोग का नाम जन्म और वियोग का नाम मृत्यु है । वह परमात्मा (परब्रह्म) इसलिए जन्म तथा मृत्यु दोनों से रहित है । और उपनिषदों में अन्यत्र कहा है कि 'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते' (मुण्डक०) उस परमात्मा का ना तो कोई कारण है और नहीं कोई कार्य है । इसी प्रकार यहां कहा है कि उसका कोई उपादान कारण नहीं है और नहीं वह किसी का उपादान कारण है । और 'शीर्यते इति शरीरम्' नष्ट होने वाले पदार्थ को शरीर कहते हैं, अथवा 'शरीर' शब्द का दूसरा अर्थ है—"अथ यत्सर्वमस्मिन्नाश्रयन्त तस्मादु शरीरम्" (शत० ६।१।१।४) इस प्रमाण के अनुसार आश्रय देने वाले को भी शरीर कहते हैं ।

परमात्मा का शरीर क्या है ? जगत् का उपादानकारण यह प्रकृति

ही उसका शरीर[१] है । उसके नष्ट होने पर भी वह परमात्मा नष्ट नहीं होता । अतः वह अजः=अजन्मा है, इसलिए भी वह किसी का कार्य नहीं है । उत्पन्न होने वाले पदार्थों में ही कार्य-कारणभाव होता है । अजा= अजन्मा तो प्रकृति[२] भी है, अतः अतिव्याप्तिदोष को दूर करने के लिए 'नित्यः= अपरिणामी' 'पुराणः=एकरस' आदि शब्दों से ब्रह्म और प्रकृति के भेद को स्पष्ट किया । क्योंकि प्रकृति परिणामी होने से एकरस नहीं रहती । और जो मनुष्य परमात्मा के अवतार को मानकर उसका जन्म मानते हैं, और जन्म है तो मृत्यु भी अवश्य होगी । उन्हें इस श्लोक पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि वह जन्म-मरण से रहित है ।

कुछ व्याख्याकारों ने इस श्रुति की व्याख्या तथा १९वीं श्रुति की व्याख्या जीवात्मा व परमात्मा सम्बन्धी की है । यद्यपि १८-१९ दोनों श्रुतियों का सम्बन्ध जीव-ब्रह्म दोनों के साथ संगत होता है, परन्तु पूर्वापर प्रकरण को देखने से यही स्पष्ट होता है कि इनमें परमात्मा का ही वर्णन है । जैसे 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः०' (२३) आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्०' (२०) इत्यादि श्रुतियों से भी 'आत्मा' शब्द से यहां परमात्मा का ग्रहण ही अभिप्रेत है ।

वह ब्रह्म अच्छेद्य व अभेद्य है और जीवों को कर्मानुसार फल की व्यवस्था करता है । ब्रह्म को मरने वाला या मारने वाला समझने वाले दोनों ही अज्ञानी हैं, अब यह कथन करते हैं—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम् हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥२।१९॥

पदार्थ—(चेत्) यदि (हन्ता) कोई हिंसक व्यक्ति (मन्यते) ऐसा समझता है कि (हन्तुम्) मैं आत्मा के हनन करने में समर्थ हूं और (हतः) मृत्यु आदि को प्राप्त प्राणी (चेत्) यदि (हतम्) आत्मा से मारा

---

१. मनु जी ने लिखा है—(क) "सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।।" (मनु० १।८)

(ख) यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्त्तिं मनीषिणः ।। (मनु० १।१७)

इस प्रकार प्रकृति को ही ब्रह्म का शरीर कहा गया है ।

२. मूल प्रकृति को उपनिषदों में अजा=अजन्मा कहा है—
"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्०" ।।

गया हूं, ऐसा (मन्यते) समझता है तो (तौ, उभौ) वे दोनों आत्मा को मरने तथा मारने वाला मानने वाले (न विजानीतः) आत्मतत्त्व को नहीं जानते, क्योंकि (अयम्) यह आत्मा (न हन्ति) न तो मारता है और (न हन्यते) न मारा जाता है ।।

भावार्थ—इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि परमात्मा अच्छेद्य तथा अभेद्य है । न इसको कोई मार सकता है और नहीं यह किसी को मारता है । जो लोग ऐसी भ्रान्ति फैलाते हैं कि वह परमात्मा ही जीवों को मृत्यु आदि से युक्त करता है, यह एक मिथ्या धारणा है। सब प्राणी अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त करते हैं, यह ईश्वरीय अटल व्यवस्था है । हम अपने कर्मों से अपने जीवन-काल को घटा-बढ़ा सकते हैं । ब्रह्मचर्यपालनादि नियमों पर चलकर ३००-४०० वर्षों तक मानव जीवित रह सकता है । कुछ व्याख्याकार इस श्रुति की भी व्याख्या जीवात्मा व परमात्मा से सम्बद्ध करके करते हैं किन्तु प्रकरण परमात्मा का है, अतः जीवात्म-परक व्याख्या नहीं की है । और जीवात्मा के शरीर के साथ संयोग को जन्म और शरीर से वियोग होने को मृत्यु कहा जाता है । परमात्मा का ऐसा संयोग तथा वियोग कदापि नहीं होता, अतः वह जन्म-मरण से रहित होने से कदापि अवतारादि भी धारण नहीं करता ।

अब उस परब्रह्म की सूक्ष्मता व महत्ता का वर्णन करते हुए यह कथन करते हैं कि उस परब्रह्म का साक्षात्कार कौन कर सकता है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।।२।२०।।

पदार्थ—(आत्मा[१]) वह व्यापक ब्रह्म (अणोः) सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अत्यन्त सूक्ष्म है और वह (महतः) आकाश, पृथिवी आदि बड़े-बड़े पदार्थों से भी (महीयान्[२]) सर्वत्र व्यापक होने से अत्यन्त महान्

---

१. निरुक्त में कहा है—"आत्मा अततेर्वाप्तेर्वा ।" (निरुक्ते) 'आत्मा' शब्द जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के लिए आता है । जन्म-जन्मान्तरों में गमन करने से जीवात्मा के लिए और सर्वव्यापक होने से परमात्मा के लिए 'आत्मा' का प्रयोग होता है ।

२. आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा।। (य० ७। ४२) अर्थात् वह ब्रह्म द्युलोक, पृथिवी लोक तथा अन्तरिक्ष में सब तरफ से पूर्ण है ।

है और (अस्य) इस शरीरस्य (जन्तोः) जीवात्मा के (गुहायाम्) हृदय रूप गुफा में (निहितः) स्थित=विराजमान है अर्थात् परब्रह्म की प्राप्ति का स्थान हृदय ही है, क्योंकि यहां उपास्य, उपासक का मिलन होता है। (आत्मनः) और उस व्यापक परमात्मा की (तम्) उसे पूर्वोक्त (महिमानम्) महिमा को=विशालता को (धातुप्रसादात्) सब को धारण करने वाले परब्रह्म की अभिमानादि दोषों के छूटने पर कृपा=अनुग्रह से (अक्रतुः) कर्मफल की इच्छा न रखने वाला, (वीतशोकः) शोक-रहित विद्वान् पुरुष ही (पश्यति) जान लेता है=प्रत्यक्ष करता है=साक्षात् अनुभव करता है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की भिन्न-भिन्न स्थानों में इस प्रकार व्याख्या की है—

(१) ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के ५९ पृ० पर 'उपास्य देव कौन है, इसका उत्तर देते हुए महर्षि लिखते हैं—

"अणोरणीयान्०" इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रति-पादन किया है, उसी की उपासना आर्य लोग सदा से करते आए हैं ।"

(२) 'वेदविरुद्ध मत-खण्डन' पुस्तक में महर्षि लिखते हैं—

"वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है । इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होने वाला है ।" (लघु० वे० ख० २९)

(३) "वेदान्ति-ध्वान्तनिवारणम्" पुस्तक में जीव-ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करते हुए महर्षि लिखते हैं—

"जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान अर्थात् जीव के बीच में निहित (स्थित) है । परन्तु उस सर्वात्मा को अभिमान्यशून्य, शोकादिदोषरहित, परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा, सर्वशक्तिमत्त्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है, अन्य नहीं । इसमें भी जीव-ईश्वर का भेद निरूपित है ।" (लघु० वे० खं० ८३)

भावार्थ—यह परब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है । उसकी अपेक्षा जीवात्मा तथा प्रकृति भी स्थूल हैं । उसकी महिमा का तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता । क्योंकि उससे बड़ी कोई वस्तु नहीं है । वह तो अनन्त है। और वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से जीवात्मा में भी व्यापक हो रहा है । जैसा कि अन्यत्र उपनिषदों में कहा है—"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् ।" (बृहदारण्यको०) अर्थात् वह परमात्मा जीवात्मा

के अन्दर भी व्यापक है, जिसे जीव जान नहीं पाता । जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर है किन्तु उस ब्रह्म का साक्षात्कार तभी होगा, जबकि लौकिक इच्छाओं के फल की इच्छा को त्यागकर शोकादि से मुक्त हो जाता है। और जब उस प्रभु की, जो सब का धाता=धारण करनेवाला है, अनुकम्पा होती है । जैसे कि उपनिषदों में अन्यत्र कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः·····यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।।

(मुण्डको० ३।२।३)

अर्थात् उस ब्रह्म की प्राप्ति केवल उपदेश से ही नहीं, प्रत्युत प्रभु की अनुकम्पा से होती है। कठोप० में भी (२।२३) में यही बात कही है।

और योगदर्शनकार ने भी कहा है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।। (यो० १।२३)

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण ।।

(व्यासभाष्यम्)

अर्थात् ईश्वर-भक्तिविशेष करने से भक्त पर अनुकम्पित होता है।

समीक्षा—कुछ व्याख्याकारों ने इस श्लोक के 'धातुप्रसादात्' का अर्थ इन्द्रियों की प्रसन्नता किया है । किन्तु यहां यह उचित प्रतीत नहीं होता । क्योंकि इसी प्रकरण में (२।२३) में परमात्मा की अनुकम्पा का ही वर्णन स्पष्ट हो रहा है । और 'धातु' शब्द इन्द्रियों के लिए प्रसिद्ध भी नहीं है, शरीरस्थ रस, रक्तादि के लिए तो इस 'धातु' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु यहां इनका ग्रहण प्रकरणविरुद्ध होने से उचित नहीं है । इस श्रुति में जीव-ब्रह्म का द्रष्टा-दृश्य तथा व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध बताते हुए दोनों में स्पष्ट रूप से भिन्नता कही है—'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' अर्थात् वह परमात्मा हृदयस्थ जीवात्मा में भी व्यापकभाव से स्थित है । जीवात्मा एकदेशी है और परमात्मा सर्वत्र व्यापक है । दोनों के एक होने पर कौन किस को देखता है ? और स्वामी शङ्कराचार्य ने यहां यही अर्थ किया है—

स चात्मा जन्तोः प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहितः ।।

अर्थ—वह परमात्मा प्राणियों के हृदय में स्थित है । अतः जीव-ब्रह्म की एकता का स्पष्ट खण्डन हो रहा है और इस श्रुति के 'धातुप्रसादात्' का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने यह किया है—'मन आदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात् प्रसीदन्ति ।' अर्थ—मन आदि इन्द्रियों

को शरीर के धारण करने से धातु कहा गया है । यह उनकी व्याख्या प्रसङ्गविरुद्ध तथा योगदर्शन से भी विरुद्ध है । और रस-रक्तादि के लिए तो 'धातु' शब्द प्रसिद्ध है, परन्तु इन्द्रियों के लिए नहीं ।

और इस श्लोक में पठित 'अक्रतुः' पद का अर्थ निष्क्रिय भी ठीक नहीं है । क्योंकि "नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गीता०) कोई भी मनुष्य निष्क्रिय तो कभी हो ही नहीं सकता । और 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (यजु०) कहकर वेद में पूर्ण-आयु तक कर्म करने का उपदेश दिया है । अतः इस शब्द का अर्थ 'निष्काम-कर्म' ही उचित तथा सङ्गत है । नवीन-वेदान्तियों की यह भ्रान्त धारणा है कि हमारे लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है । क्या वे श्वास-प्रश्वास लेना, आहार-विहार करनादि क्रियाओं का भी परित्याग कर सकते हैं ? यदि नहीं, तो श्रेष्ठ कर्मों का भी त्याग उन्हें नहीं करना चाहिए ।

उस परब्रह्म का ज्ञाता कोई विरला ही होता है इस भाव को बताते हुए उस के निर्विशेषस्वरूप का निरूपण करते हैं—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२।२१॥

पदार्थ—वह ब्रह्म (आसीनः, अपि) सर्वत्र व्यापक होने से स्थित=अचल होता हुआ भी (दूरम्) दूर वा अत्यन्त दूर तक (व्रजति) प्राप्त हो रहा है, अथवा सब को गति दे रहा है (शयानः, अपि) सर्वव्यापक होने से शयन करता हुआ भी (सर्वतः) सब ओर (याति) प्राप्त हो रहा है । (तम्) उस (मदामदम्) मद=आनन्दस्वरूप और अमद लौकिक सुखों से रहित (देवम्) प्रकाशक देव को (मद्-अन्यः) मेरे से (यमाचार्य) से दूसरा (कः) कौन (ज्ञातुम्) जानने को (अर्हति) समर्थ हो सकता है ।

भावार्थ—वह ब्रह्म सर्वत्र एकरस होकर व्याप्त हो रहा है । अतः निश्चल होने से ठहरा हुआ भी मानव की दृष्टि में दूर या दूरतम स्थानों में प्राप्त है । अथवा अन्तर्भावितण्यदर्थ मानकर वह सब को गति दे रहा है । जैसा कि वेद में कहा है—अनेजदेकं मनसो जवीयः । (यजु० ४०।४) अर्थात् ब्रह्म कूटस्थ नित्य होने से कभी चलायमान नहीं होता और वह सर्वत्र शयन=लेटा हुआ=स्थित सत्ता वाला है, अतः सूक्ष्माति सूक्ष्म पदार्थों में सब ओर से विद्यमान है । वह स्वयम् आनन्दस्वरूप होने

से 'मद' और लौकिकसुखों से पृथक् रहने के कारण 'अमद' कहलाता है । उस ब्रह्म को जानना सरल नहीं है, उसे कोई धीर पुरुष ही जान सकता है ।

समीक्षा—स्वामी शङ्कराचार्य इस श्रुति में जीवात्मा का वर्णन मानते हुए लिखते हैं—'करणानामुपशमः शयनम् ।——मन आदिगतिषु तदुपाधिकत्वात् दूरं व्रजतीव ।' अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार-विरत होने को शयन कहते हैं और उपाधिक जीवात्मा मनादि की गतियों में दूर जाता सा मालूम पड़ता है । उनकी यह व्याख्या प्रसङ्गविरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती । इससे प्रथम तथा अगली श्रुतियों से यहां परमात्मा का ही वर्णन है और यमाचार्य की जो स्वाभिमानपूर्ण उक्ति है कि मेरे से दूसरा कौन जान सकता है, यह भी परमात्मा-विषयक ही है । क्योंकि जीवात्मा के विषय में इतनी भ्रान्ति भी नहीं है ।

पुनः ब्रह्म के निर्विशेष रूप का प्रकारान्तर से निरूपण करते हैं ।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२।२२॥

पदार्थ—वह ब्रह्म (अनवस्थेषु) अनित्य=स्थिर न रहने वाले मनुष्यादि के अथवा कार्यपदार्थों के (शरीरेषु) नश्वर शरीरों में (अशरीरम्) स्वयं स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण सर्वविध शरीरों से रहित होकर (अवस्थितम्) व्यापक होकर व्याप्य पदार्थों में स्थित हो रहा है, उस (महान्तम्) सब से बड़े अनन्त (विभुम्) सर्वव्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकी पुरुष (न, शोचति) शोकाकुल नहीं होता ।

भावार्थ—महर्षि दयानन्द ने शरीरों के भेद बताते हुए लिखा है—"तीन शरीर हैं—एक **स्थूल,** जो यह दीखता है । दूसरा पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय **'सूक्ष्मशरीर'** कहाता है ।······तीसरा **कारण,** जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है । वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और जीवों के लिए एक है । चौथा-**तुरीय शरीर** वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते हैं ।" (सत्यार्थ० नवमसमुल्लास)

वह परब्रह्म इन सभी प्रकार के शरीरों से रहित है । वेद में इसलिए उसे 'अकायमव्रणम्' (यजु० ४०।८) शरीररहित कहा है । वह

निराकार सब प्राणियों के शरीरों में व्यापक है । जिसे उपनिषत्कार ने 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' (कठो० ५।१२) सब प्राणियों का अन्तरात्मा कहा है । उसका 'आत्मा' नाम भी व्याप्त होने से ही प्रसिद्ध हुआ है। जैसा कि निरुक्तकार ने स्पष्ट लिखा है—अततेर्वाप्तेर्वा' (निरुक्ते) और वह परब्रह्म कूटस्थ नित्य है, उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता। किन्तु वह सांसारिक सभी परिणामी पदार्थों में व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध से स्थित है । उसी को जानने से शोकादि दुःखों की निवृत्ति होती है ।

समीक्षा—इस श्रुति में स्पष्ट रूप से परमात्मा के औपाधिक शरीरादि का सर्वथा निषेध किया है । और नवीन वेदान्ती इसका यह अर्थ करते हैं कि जब जीव अपने को ब्रह्म समझ लेता है, उस समय का इसमें वर्णन है । यह उनकी मिथ्या मान्यता है । इस में स्पष्टरूप से ज्ञाता व ज्ञेय को भिन्न-भिन्न बताया है । श्री शङ्कराचार्य का इस श्रुति के भाष्य में 'आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम् । आत्मशब्दः प्रत्यात्मविषय एव मुख्यः' । अर्थात् आत्माशब्द अभिन्नता को बताने के लिए है । और आत्मा-शब्द से जीवात्मा का ही मुख्यरूप से ग्रहण होता है । इस कथन का अगली श्रुति से ही खण्डन हो रहा है—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः'। यहां आत्मा-शब्द परमात्मा के लिए ही आया है ।

अब यमाचार्य परब्रह्म की प्राप्ति के उपाय का कथन करते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूꣳस्वाम् ॥२।२३॥

पदार्थ—(अयम्) यह पूर्वोक्त (आत्मा) सर्वत्र व्यापक परब्रह्म (प्रवचनेन) अध्यापन वा उपदेश से (न, लभ्यः) प्राप्त होने योग्य नहीं है (न, मेधया[१]) शास्त्र के अर्थों को धारण करने वाली बुद्धि से प्राप्त नहीं होता (न, बहुना, श्रुतेन) बहुत शास्त्रों को पढ़ने तथा शास्त्रसम्बन्धी उपदेशों को सुनने से भी प्राप्त नहीं होता । फिर ब्रह्म की प्राप्ति कैसे होती है ? उसका उपाय बताते हैं—(एषः) यह परब्रह्म (यम्, एव) जिस

---

१. मेधा=मतौ धीयते। (निरु० ३।१९) मेधृ सङ्गमे (भ्वा०) मेधा आशुग्रहणे (कण्ड्वा०) धातोर्वा 'अङ्' प्रत्यये स्त्रियां टापि रूपम्। मेधया धारणावत्या बुद्ध्या (ऋ० भू० १४९) यथार्थ धारणावाली बुद्धि को ।
(आर्याभिविनय० २।५३)

उपासक को ही (वृणुते) अनुग्रह करके स्वीकार करता है (तेन) उस योग्याधिकारी पुरुष से वह ब्रह्म (लभ्यः) प्राप्त करने योग्य है (एषः, आत्मा) यह व्यापक परब्रह्म (तस्य) उस योगसाधना सम्पन्न पुरुष के लिए (स्वाम्) अपने (तनूम्[१]) आत्मस्वरूप अथवा व्यापकज्ञान को (वृणुते) सत्प्रेरणादि से प्रकाशित कर देता है ।

***भावार्थ*—**सर्वज्ञ, अनन्त, सर्वान्तर्यामी, सूक्ष्मातिसूक्ष्मादि विशेषताओं से सम्पन्न परब्रह्म केवल पठन-पाठन तथा श्रवण-श्रावण (सुनने-सुनाने) से नहीं जाना जाता । और वेदादि शास्त्रों को सुनते-सुनते बहुश्रुत=अनुभवी विद्वान् हो गए हैं, वे भी परब्रह्म की प्राप्ति के योग्याधिकारी नहीं हो सकते । क्योंकि जब तक शमदमादि साधनों को अपनाकर योगाङ्गों के अनुष्ठान से अपनी बाह्य तथा आन्तरिक अशुद्धि का क्षय नहीं कर पाते, तब तक हमारा शाब्दिक-ज्ञान अपूर्ण ही रहता है । जैसे कोई किसी से सन्मार्ग का पता पूछकर उस मार्ग पर चलता नहीं तो उसे लक्ष्य-प्राप्ति नहीं हो सकती, वैसे ब्रह्म-प्राप्ति के लिए सत्य-ज्ञान, प्रवचनादि भी आवश्यक हैं किन्तु इनकी पूर्णता अन्तःकरण की शुद्धि तथा ईश्वरानुग्रह के विना सम्भव नहीं है । योगदर्शनकार ब्रह्मप्राप्ति की योग्यता का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

सत्त्वशुद्धिः सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥

(यो० २।४१)

इसकी व्याख्या में योगिराज महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है ।" (ऋ० भू० उपासनाविषयः)

और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ब्रह्म का अनुग्रह प्राप्त करना भी अत्यावश्यक है । महर्षि लिखते हैं—

"पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है फिर **परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय** अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से

---

१. महर्षि-दयानन्दकृतभाष्ये-'तनू' पदस्यार्थाः-शरीरवद् विस्तारकम् (यजु० १५।७) विस्तृता व्याप्तिः (यजु० ५।६) विद्याविस्तृतिः (यजु० ५।४०) आत्मा वै तनुः ।। (शत० ६।७।२।६)

जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ।" (ऋ० भू० उपासनाविषयः)

इसलिए विद्वान् ब्रह्म के उपासक को ब्रह्म के अनुग्रह=सहाय प्राप्त करने के लिए ज्ञान के साथ-साथ ज्ञान के अनुकूल सत्य-आचरण तथा अन्त:करण की शुद्धि करना परमावश्यक है ।

समीक्षा—नवीन वेदान्त के प्रवर्तक स्वामी शङ्कराचार्य इस श्रुति से अपने आपको ब्रह्म मानने वाले का ही वर्णन मानते हुए लिखते हैं—

'यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत ।' अर्थात् जिस अपनी आत्मा की यह साधक प्रार्थना करता है, उस श्रेष्ठ के द्वारा आत्मप्राप्ति की जा सकती है ।

श्री शङ्कराचार्य का यह कथन मूल से विपरीत है । साधना करने वाला और उपास्य दोनों एक कभी नहीं हो सकते । क्या आत्मा अपने आप पर ही अनुग्रह करता है, तब अपने को जान पाता है । ऐसा भाव इस श्रुति से कदापि प्रकट नहीं होता । उपास्य-उपासक दोनों एक नहीं हो सकते । अन्यथा उपासना करना निरर्थक है । योगदर्शन में 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' सूत्र में जीव-ब्रह्म को भिन्न-भिन्न मानते हुए भक्त पर ईश्वर का अनुकम्पित होना स्पष्ट रूप से कहा है । यहां श्रुति 'वृणुते=वरण करता है । क्रिया से स्पष्ट है कि वरण करने वाला वरणीय से पृथक् है । इस क्रिया का 'प्रार्थयते' अर्थ मिथ्या तथा असङ्गत है और 'यमेवैष वृणुते' इस वाक्य में कर्त्ता तथा कर्म का पृथक् निर्देश होने से भी शङ्कराचार्य की मान्यता का स्पष्ट खण्डन हो रहा है ।

पूर्व श्लोक में ब्रह्म-प्राप्ति में ब्रह्म की अनुकम्पा पर विशेष बल दिया गया है । ब्रह्म का अनुग्रह=सहाय पाने का योग्याधिकारी कब बन सकता है ? उसके साधनों का अब कथन करते हैं—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२।२४॥

पदार्थ—जो मनुष्य (दुश्चरिताद्) वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध पाप-कर्मों से (अविरतः) पृथक् नहीं है, वह (न एनम् आप्नुयात्) ब्रह्म को प्राप्त नहीं करता (अशान्तः) जिसने अपनी इन्द्रियों तथा मन को संयम करके शान्त नहीं किया है, वह (न, एनम्, आप्नुयात्) ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता (असमाहितः) जिसने समाधि के द्वारा इन्द्रियों की

वृत्ति को ब्रह्म की तरफ नहीं लगाया है, वह चञ्चलवृत्ति पुरुष (न एनम्, आप्नुयात्) इस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता (वा) और (अशान्तमानसः, अपि) जो वित्तैषणादि लोभादि वृत्तियों में आसक्त है, वह अशान्त-मन वाला भी (प्रज्ञानेन[1]) वेदादि को पढ़कर प्राप्त किए यथार्थ ज्ञान से अथवा शास्त्रों के अर्थों को धारण करने वाली बुद्धि से (एनम्) इस ब्रह्म को (न, आप्नुयात्) प्राप्त नहीं कर सकता ।

महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक की अपने ग्रन्थों में दो स्थानों पर व्याख्या की है । वह इस प्रकार है—

(क) "(नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्टकामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े व सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।" (ऋ०भू० उपासना० १७९ पृ०)

(ख) जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शान्त नहीं है । वह संन्यास लेके भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता ।" (सत्यार्थ० पञ्चमसमु० १२६ पृ०)

***भावार्थ*—**वेदादि सत्यशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने वाले विद्वान् पुरुषों को भी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योगी बनना अत्यावश्यक है । इस श्लोक में अविद्या को नाश करने वाले यथार्थज्ञान से भिन्न ब्रह्म-प्राप्ति के चार उपायों का वर्णन किया है—

१. पाप-कर्मों (शास्त्रप्रतिषिद्ध हिंसा, चोरी, मिथ्याभाषणादि से निवृत्ति ।)

२. इन्द्रियों तथा मन की वृत्तियों को विषयों में आसक्त न होने देना ।

३. इन्द्रियों और मन की वृत्तियों को बाह्यविषयों से रोककर समाहित होना, अर्थात् ब्रह्म की ओर एकाग्र करना ।

४. लोभ, मोह, राग, द्वेषादि मलों से छूटकर मन को शान्त रखना अर्थात् अर्थ व काम में आसक्त न होना ।

अब दुष्कर्म-रत पुरुष को परब्रह्म की विविध शक्तियों का भयप्रदरूप दिखाने के लिए उसे परब्रह्म में विश्वास से दुष्कर्मों से मुक्त

१. प्रज्ञानम्=प्रजानाति येन तद् बुद्धिस्वरूपम् ।
(यजु० ३४।३ महर्षिदयानन्दभाष्यम्)

कराने के लिए यमाचार्य कहते हैं—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम् ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२।२५॥

पदार्थ—(यस्य) जिस ब्रह्म की (ब्रह्म[1]) वेद-ज्ञान की शक्ति (च) और क्षत्रम्[2]) क्षात्र-शक्ति (उभे) दोनों (ओदनम्) प्रलय समय में उदरस्थ अन्न की तरह लीन (भवतः) हो जाती हैं । (च) और (यस्य) जिस ब्रह्म का (मृत्युः[3]) भयप्रद मृत्यु भी (उपसेचनम्) ओदन (भात) पर घृतादि के सेचन के तुल्य भक्ष्य हो जाता है (वह) परब्रह्म (यत्र) जिस स्वरूप में है, उसको (इत्थम्) वह इसी प्रकार का है, ऐसा निश्चय करके (कः) कौन पुरुष (वेद) पूर्णतया जान सकता है ?

भावार्थ—वह ब्रह्म इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति या प्रलय करने वाला है । वह ही इसका पालन कर रहा है । उस ब्रह्म की ही ज्ञानशक्ति, क्षात्रशक्ति तथा संहार-शक्ति, ये तीनों शक्तियां संसार में कार्य कर रही हैं । वह इस जगत् का नियन्ता है, उसके समस्त नियम अटल हैं । जो उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन करता है वह मृत्यु-दुःख से नहीं बच सकता और उसकी शरण में आकर उसके आज्ञा के अनुसार चलता है, वह मोक्षादि सुखों को प्राप्त करता है । वेद में इस विषय में स्पष्ट कहा है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यजु० २५।१३)

अर्थात् जो आत्मज्ञान का देनेवाला और शरीरादि के बलों का दाता है, जिसकी उपासना तथा आज्ञा का पालन सभी देव करते हैं, जिसका आश्रय ही मोक्ष-सुख को देने वाला है और जिसको न मानना ही मृत्यु-दुःख का हेतु है । हम उस समस्त ज्ञान व बल के दाता,

---

१. ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यः । (ऐत० ८।२, ३।४)
प्राणो हि वै क्षत्रम् । (शत० १४।८।१४।४) क्षत्रं हि राष्ट्रम् । (ऐ० ७।२२)
२. ब्रह्म वेदचतुष्टयम् । (यजु० १९।४१ महर्षिभाष्य)
वाग् ब्रह्म । (गो० पू० २।१०)
३. एष वै मृत्युर्यत् संवत्सरः ॥ (शत० १०।४।३।१)
मृत्युः=ईश्वराज्ञाभङ्गः। (यजु० २५।१३) (महर्षिभाष्येऽन्वये)

सुखस्वरूप देव की अन्तःकरण से भक्ति करें अर्थात् उसकी आज्ञा-पालन में तत्पर रहें ।

इस श्लोक में यमाचार्य ने यही बात समझाते हुए कहा है कि दुराचरण से छुटकारा ब्रह्म की भक्ति के विना कदापि सम्भव नहीं है, और दुष्कर्मरत पुरुष ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । अतः उस ब्रह्म की ज्ञानशक्ति का बोध जगत् की रचना को देखकर तथा वेदों को पढ़कर करना चाहिए । उसकी क्षात्र-शक्ति का बोध समस्त ब्रह्माण्ड के सञ्चालन तथा नियमित रूप को देखकर किया जा सकता है । क्योंकि वायु में जो प्रबलवेग है, सूर्यादि में जो प्रकाश है, अग्नि में जो दाहक गुण है और जल में जो गति है, वह सब ब्रह्म-प्रदत्त ही है । इसलिए ये दोनों शक्तियां जगत् में ओदन=मिश्रित होकर कार्य कर रही हैं । और प्रलय काल में वह अपनी मृत्युः=संहारक शक्ति के द्वारा समस्त जगत् को नष्टकर अपने कारण में लीन कर देता है । इसीलिए परमात्मा का नाम 'अत्ता' है । इसकी व्याख्या करते हुए वेदान्तदर्शन में कहा है—अत्ता चराचरग्रहणात् । (वेदा० १।२।९) महर्षि दयानन्द इसकी व्याख्या में लिखते हैं—'जो सब को भीतर रखने सब को ग्रहण करने योग्य चराचर जगत् का ग्रहण करने वाला है, इससे ईश्वर के 'अन्न' 'अन्नाद' और 'अत्ता' नाम हैं ।''''''जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है ।" (सत्यार्थ० प्रथम०)

ऐसे चराचर जगत् कालरूप परमात्मा को न मानकर जो नास्तिकभाव को प्राप्त है, वह ईश्वर से विमुख व्यक्ति जन्म-मरण रूप दुःखसागर में ही गोते खाता रहता है । जगत् में भी उसकी विनाशलीलाएं भयंकर भूकम्पों, जलप्लावनों तथा महामारियों के समय देखी जा सकती हैं । यही मृत्यु का उपसेचन रूप है । ऐसी भयप्रद व दुःखद दशा में नास्तिक से नास्तिक पुरुष भी ब्रह्म की सत्ता व शक्ति स्वीकार करने लगता है । ऐसे आश्चर्यस्वरूप अनन्त ब्रह्म का पूर्णतः बोध अल्पज्ञ व अल्पसामर्थ्यवाला जीवात्मा कैसे कर सकता है ?

इति कठोपनिषद्-भाष्ये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥

अथ कठोपनिषद्-भाष्ये तृतीया वल्ली

यमाचार्य ने नचिकेता को द्वितीय-वल्ली में ब्रह्म का उपदेश किया है । किन्तु नचिकेता का प्रश्न तो जीवात्मा-विषयक था । ब्रह्म के ज्ञान के विना आत्मा का ज्ञान भी सम्भव नहीं था, अतः प्रथम ब्रह्म के विषय में उपदेश करके अब जीवात्मा तथा परमात्मा के भेद का कथन करते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥३।१॥

पदार्थ—(परमे) सर्वोत्तम (परार्द्धे) परब्रह्म की प्राप्ति के मुख्य स्थान ऋद्धियुक्त=परब्रह्म के ऐश्वर्य व आनन्द को देने वाले हृदयावकाश में (गुहाम्) हृदय रूपी गुप्त स्थान में (प्रविष्टौ) प्रवेश-अनुप्रवेश रूप में स्थित (सुकृतस्य) शुभ कर्म करने के साधन भूत (लोके) इस प्रत्यक्ष मनुष्य शरीर में (ऋतम्[1]) सत्य विज्ञान का (पिबन्तौ) सेवन करते हुए, (छायाऽऽतपौ) छाया और धूप के समान अल्पज्ञ और सर्वज्ञ भेद से दोनों विलक्षण हैं, ऐसा (ब्रह्मविदः) ब्रह्म को जानने वाले विद्वान् मनुष्य (वदन्ति) कहते हैं (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः[2]) तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन अर्थात् यज्ञ कर चुके हैं, ऐसे कर्मकाण्डी तथा (पञ्चाग्नयः[3]) पञ्चमहायज्ञों अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञों को विधिवत् करने वाले गृहस्थ लोग जीव-ब्रह्म की भिन्नता को कहते हैं ।

भावार्थ—यद्यपि महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की व्याख्या अपने ग्रन्थों में नहीं की है, किन्तु इस में किस विषय का वर्णन है, यह

---

१. ब्रह्म वाऽऋतम् ।। श० ४।१।४।१०।।
ऋतमिति सत्यनाम ।। निघं० १।१२।।
ऋतस्य=सत्यस्य विज्ञानस्य ।। ऋ० ७।७।६ महर्षिभाष्यम् ।।
२. आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि ये यज्ञ की तीन अग्नियां हैं ।
३. मनुस्मृति में गृहस्थ के लिए पञ्चमहायज्ञों को अपरिहार्य बताया है—
ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ।। (मनु० ४।२१)
यह ही पञ्चाग्नितप है ।।

बताते हुए महर्षि लिखते हैं–

"गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके" इत्यादि उपनिषदों के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न हैं । वैसा ही उपनिषदों में बहुत ठिकाने दिखलाया है ।" (सत्यार्थ० एकादश समु०)

इस श्लोक में जीव-ब्रह्म के साधर्म्य तथा वैधर्म्य का वर्णन करके दोनों को भिन्न-भिन्न माना है । जीव-ब्रह्म दोनों ही सत्य-विज्ञान का सेवन करते हैं । परब्रह्म सर्वज्ञ तथा वेद-ज्ञान का उपदेष्टा है तथा जीवात्मा के **"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गानि ।"** (न्याय०) के अनुसार ज्ञानादि गुण हैं । दोनों ज्ञान का सेवन करते हुए भी छाया-आतप अर्थात् अल्पज्ञ-सर्वज्ञ भाव से भिन्न-भिन्न हैं । जीवात्मा अल्पज्ञ और परमात्मा सर्वज्ञ है । दोनों का उपास्य-उपासक व व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है । परमात्मा अतिसूक्ष्म होने से जीवात्मा के अन्दर भी व्याप्त है, इसलिए कहा गया है–'यस्यात्मा, शरीरम्' (बृहदा०) अर्थात् यह आत्मा परमात्मा का शरीर है[१] । और क्योंकि जीवात्मा का स्थान हृदय है, अतः दोनों का मिलन वहीं होता है, अन्यत्र कदापि मिलन सम्भव नहीं है । योगदर्शन में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है–

हृदये चित्तसंवित् ॥ (योग० ३।३४)

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानम् । तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित् ॥ (व्यासभा०)

अर्थात् इस शरीर में जो हृदय में कमलाकार वेश्म=घर=स्थान है, वहां संयम करने से चित्तादि सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान होता है ।

छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा है–**"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद् वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।"** (छा० प्रपा० ८। मं० १)

इसकी व्याख्या में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं–**"कण्ठ के नीचे**

---

१. (क) जीव-ब्रह्म की भिन्नता मानते हुए ही ब्र० सू० १।२।११। में स्पष्ट रूप से कहा है–गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।।

(ख) मुण्डकोपनिषद् में जीवात्मा को कर्मफल-भोक्ता और परमात्मा को कर्मों का साक्षी बताते हुए लिखा है–तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।" (मुण्डको० २।२।१)

(ग) यजुर्वेद में जीव-ब्रह्म का भेद बताते हुए लिखा है–

न तं विदाथ य इमा जजान युष्माकमन्यदन्तरा बभूव ॥

दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है ।"

(ऋ० भू० उपासनाविषयः)

मुण्डकोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥ (मुण्डको० २।२।९)

अर्थात् इस शरीर के अन्दर हृदय में एक गुप्त कोश=स्थान है, उसी में ब्रह्मवेत्ता योगी उस परम ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ।

समीक्षा—स्वामी शङ्कराचार्य ने इस श्लोक का इस प्रकार अर्थ किया है—

'एवं च प्राप्तृ-प्राप्यगन्तृ-गन्तव्याविवेकार्थरथरूपकद्वारा द्वावात्मानावुपन्यस्येते ऋतं=सत्यम् अवश्यम्भावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ, सुकृतस्य स्वयङ्कृतस्य कर्मणः, लोकेऽस्मिञ्छरीरे, गुहां=गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे परार्द्धे परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्द्धं हार्दाकाशं तस्मिन् हि परं ब्रह्मोपलभ्यते, तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलमकर्मिण एव वदन्ति, पञ्चाग्नयो गृहस्थाः ये च त्रिणाचिकेताः=त्रिः कृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ।'

अर्थ—प्राप्त करने वाला और प्राप्त करने योग्य, जानने वाला और जानने योग्य के भेद से यहां दो आत्माओं का वर्णन है, जिसे अविवेकियों के लिए रथ के रूपक से समझाया गया है । ये दोनों अवश्यम्भावी कर्म-फलों का सेवन करते हैं और अपने किए कर्म का । और इस शरीर में बुद्धि में प्रविष्ट हैं । परब्रह्म की प्राप्ति हृदयस्थाकाश में होती है । ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा छाया और धूप की भांति विलक्षण हैं । इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता, गृहस्थी तथा कर्मकाण्डी जन कहते हैं ।

समीक्षा—इस श्लोक में जीवात्मा व परमात्मा के भेद का स्पष्ट उल्लेख स्वामी शङ्कर को भी मानना पड़ा है । इससे उनके अद्वैतवाद का स्पष्ट रूप से खण्डन हो जाता है । जीव-ब्रह्म के भेद का वर्णन यहां

छाया धूप की भांति विलक्षण बताया है, उससे भी अद्वैतवाद का खण्डन होता है । क्योंकि जैसे छाया व धूप एक दूसरे से भिन्न तथा विलक्षण हैं, वैसे ही जीवात्मा अल्पज्ञ एकदेशी आदि गुणों वाला होने से और परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वत्र व्यापक, अनन्तादि गुणों वाला होने से दोनों ही विलक्षण हैं । और जीव को परब्रह्म की प्राप्ति हृदयस्थाकाश में ही होती है । इस वर्णन से स्पष्ट है कि जो लोग परब्रह्म के नाम पर मूर्ति आदि में ध्यान की बात कहते हैं, वह सब मिथ्या ही है ।

इसके साथ ही स्वामी शङ्कर की यह बात मिथ्या है कि—**"जीव-ब्रह्म दोनों ही कर्म-फल का भोग करते हैं । उनकी यह मान्यता वेदादिशास्त्रों से सर्वथा विपरीत है । ऋग्वेद में तो ब्रह्म के लिए स्पष्ट कहा है—'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' अर्थात् ब्रह्म केवल साक्षी मात्र ही होता है, भोक्ता नहीं यद्यपि शङ्कराचार्य ने आगे 'एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः' अर्थात् एक जीवात्मा कर्म-फल भोगता है, दूसरा नहीं ।"** यह भी लिखकर अपनी व्याख्या का ही प्रतिवाद आगे कर दिया है, परन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा कि 'ऋतं' पिबन्तौ' की व्याख्या की क्या गति होगी ? यथार्थ में यहां 'ऋतम्' का 'कर्मफलम्' अर्थ ही सङ्गत नहीं है । यहां 'ऋतम्=सत्यविज्ञान' ही अर्थ करना चाहिए । क्योंकि दोनों जीव-ब्रह्म सत्यविज्ञान का सेवन करते हैं । स्वामी-शङ्कर की दूसरी भूल यह है कि उन्होंने ब्रह्मवेत्ताओं को अकर्मी तथा गृहस्थियों को कर्म करने वाले माना है । कर्म के विना तो संसार में कोई भी प्राणी कदापि नहीं रह सकता। वेद में स्पष्ट रूप से कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ॥ (यजु०)

अर्थात् मनुष्य यावज्जीवन कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे । शङ्कर स्वामी के ऐसे अवैदिक वचनों का ही आश्रय करके अपने को ब्रह्म मानने वाले अद्वैतवादी साधु अपने कर्तव्यों को भी छोड़ बैठे हैं। और संसार का कोई उपकार न करके गृहस्थियों पर भरण-पोषण के लिए भार ही बने रहते हैं । धर्म-प्रचार के कार्यों में इसलिए कोई रुचि नहीं लेते कि हमारे लिए तो कोई कर्तव्य-कर्म शेष नहीं रहा है । यह उनकी संन्यास-धर्म के विरुद्ध मान्यता है ।

जीवात्मा और परमात्मा के भेद का प्रतिपादन करके और दोनों का ज्ञान आवश्यक बताते हुए यमाचार्य कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों को

ईश्वर-प्राप्ति में साधन कथन करते हैं–

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षताम्पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥३।२॥

***पदार्थ*—**(यः) जो (ईजानानाम्) अग्निहोत्रादि यज्ञों को करने वालों का (सेतुः) पुल के समान है, उस (नाचिकेतम्[१]) यज्ञविद्या को अथवा ज्ञान गुण वाले जीवात्मा को (शकेमहि) जानने में समर्थ हो सके और (यत्) जो (पारम्) दुःखादि बन्धनों से सदामुक्त है तथा (तितीर्षताम्) संसार-सागर को तरने की इच्छा वालों के लिए (अभयम्) भयरहित (अक्षरम्) अविनश्वर या सर्वव्यापक (परम्) सर्वोत्तम (ब्रह्म) परमात्मा है, उसको भी (शकेमहि) हम जान सकें ।

***भावार्थ*—**संसार-सागर को पार करने के लिए यहां दो साधन कहे हैं–कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । ज्ञान के विना यज्ञादिकर्म नहीं किए जा सकते और नहीं परमात्मा का ज्ञान हो सकता है । जो ज्ञान अथवा कर्म किसी एक पर ही अधिक बल देते हैं, वे दोनों ही अपूर्ण हैं । जैसे रथ दो चक्रों से चलता है । दो चक्रों का अपना-अपना महत्त्व है, वैसे ही ज्ञान-तथा कर्म दोनों की जीवों को आवश्यकता है । ज्ञान के विना कर्म करना अन्धे के समान और कर्म के विना ज्ञान प्राप्त करना पङ्गु के समान अधूरा है । यजुर्वेद में इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कहा है–

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (य० ४०।१४)

इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं–"अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करता है ।" (सत्यार्थ० ९ समु०)

यहां यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों तथा आत्मा-परमात्मा के ज्ञान को सेतु=पुल के समान बताया है । जैसे तीव्र तथा गम्भीर प्रवाह वाली नदी को भी मनुष्य पुल के द्वारा सरलता से पार कर जाता है, वैसे ही ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड रूप पुल से सामान्य मनुष्य भी संसार-सागर को पार करके मोक्ष का अधिकारी बन सकता है ।

महर्षि-दयानन्दकृत कर्मकाण्ड की व्याख्या–"उनमें से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रियाप्रधान ही होता है, जिसके विना

---

१. नाचिकेतम्=चिकेतं ज्ञानं तद्रहितं वस्तु अचिकेतं जडम् । तद्रहितं नाचिकेतम्=ज्ञानगुणं जीवात्मानम् । छान्दसत्वान्नञो नलोपः न ।

विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते । क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है । वह अनेक प्रकार का है, परन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं—एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार अर्थात् पहले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है । प्रथम जो परम पुरुषार्थ रूप कहा, उसमें परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादिगुणों का कीर्त्तन, उपदेश और श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जल योगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिए तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है । न्यायाचरण उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना, इसी ध र्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है, सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है ।''''''सो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है ।"

"सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्ट भोग की प्राप्ति के लिए परमेश्वर का त्याग नहीं होता है, क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने योग्य होता है ।"

(ऋ० भू० वेदविषयविचारः)

महर्षि की कर्मकाण्ड की इस व्याख्या से स्पष्ट है लौकिक तथा पारमार्थिक सिद्धि के लिए जो भी ईश्वरोपासना तथा यज्ञादि कर्मों का करना है, वह सब कर्मकाण्ड के ही अन्तर्गत है । और वह भी ज्ञानकाण्ड की भांति मुमुक्षुजनों के लिए परमावश्यक है ।

जीव-ब्रह्म का भेद और दोनों का ज्ञान आवश्यक बताकर रथ रूपक द्वारा यमाचार्य जीवात्मा को शरीरादि से पृथक् बताते हुए कहते हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३।३॥

पदार्थ—हे नचिकेता ! तुम (आत्मानम्) जीवात्मा को (रथिनम्) इस शरीररूपी रथ का स्वामी (विद्धि) जानो (तु) और (शरीरम्) शरीर

को (एव) ही (रथम्[१]) रथ जानो (तु) और (बुद्धिम्) अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति को (सारथिम्) शरीर रूपी रथ को हांकने वाला (च) और (मनः) सङ्कल्प-विकल्प करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को (एव) ही (प्रग्रहम्) लगाम की रस्सी (विद्धि) जानो ।

भावार्थ—इस श्रुति में जीवात्मा का शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है और वह इस शरीर से कैसे कार्य लेता है, इस तथ्य को एक आलङ्कारिक भाषा में समझाया गया है । जैसे रथ से एक निश्चित स्थान पर पहुंचा जाता है, वैसे ही जीवात्मा इस शरीर के द्वारा लौकिक सुखों को भोगता हुआ धर्मार्थकाममोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि करता है। शरीर को रथ कहने का अभिप्राय यह है कि शरीर भोगायतन=भोग करने का आधार है । शरीर के विना जीवात्मा सुखों का भोग नहीं कर सकता है । और रथ की उपमा से यह भी स्पष्ट है कि यह शरीर रमण करने का अर्थात् सांसारिक सुखों को भोगने का साधन है । जो व्यक्ति इन लौकिक सुखों को हेय समझते हैं, उनको उपनिषत्कार की इस उपमा पर ध्यान देना चाहिए । किन्तु लौकिक सुखों में आसक्त नहीं होना चाहिए । वेद में भी 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः (यजु०) कहकर त्याग भाव से भोगने का उपदेश किया है । जीवात्मा की शारीरिक क्रियाओं को अन्यत्र समझाते हुए लिखा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।। (वर्णोच्चारणशिक्षा)

अर्थात् जीवात्मा प्रथम बुद्धि से निश्चय करके मन को प्रेरित करता और मन का सम्बन्ध होने पर बाह्येन्द्रियां कार्य करती हैं । अन्यथा यह स्पष्ट देखा जाता है कि मन के सम्पर्क के अभाव में हम देखते हुए भी नहीं देखते और सुनते हुए भी नहीं सुनते । अतः जीवात्मा का बुद्धि सारथी तथा मन प्रग्रह=लगाम के समान यहां बताया है, जो कि उपयुक्त उपमा दी है ।

---

१. शरीर को 'रथ' की उपमा विशेष प्रयोजन से दी गई है । क्योंकि सब प्राणियों में मानव का शरीर ही ज्ञानप्राप्ति तथा सुख भोगने का उत्तम अद्वितीय साधन है । निरुक्त में रथ का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—"रथः=रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रयतेर्वा रसतेर्वा ।" (निरुक्ते ९।११) महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य में इसका अर्थ इस प्रकार किया है । रयते जानाति येन स रथः। (य० ३।३६) रमणसाधनं यानम् ।। (ऋ० १।११२।२) ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कर ने लिखा है—'सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव' अर्थात् शरीर में जो भी क्रियाएं हो रही हैं, उनका कर्त्ता बुद्धि ही है । उनका यह कथन शारीरिक-विज्ञान के विरुद्ध है । क्योंकि शरीरगत समस्त चेष्टाओं का कर्त्ता जीवात्मा है, बुद्धि नहीं । बुद्धि तो जीवात्मा का साधन है । बुद्धि प्रकृति-कार्य होने से जड़ है, वह स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती । जीवात्मा प्रथम बुद्धि से निश्चय करके मन को प्रेरित करता है और मन बाह्येन्द्रियों को । और यदि बुद्धि को कर्त्ता मान लिया जाए तो कर्मफल का भोक्ता भी उसे ही मानना पड़ेगा, जो कि उपनिषत् के सिद्धान्त के विरुद्ध है । उपनिषद् में तो स्पष्ट रूप से कहा है—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' अर्थात् जीव-ब्रह्म इन दोनों में से जीवात्मा कर्म-फलों का भोक्ता है ।

अब जीवात्मविषयक ज्ञान के लिए आलङ्कारिक वर्णन को और स्पष्ट करते हैं ।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥३।४॥

पदार्थ—इस शरीर रूपी रथ के (इन्द्रियाणि) कान-नेत्रादि इन्द्रियों को (हयान्) शरीर-रथ को खींचने वाले घोड़े (आहुः) आध्यात्मिक ज्ञानी कहते हैं । (तेषु) उन इन्द्रियों के निमित्त (विषयान्) शब्द, स्पर्शादि विषयों को (गोचरान्[१]) इन्द्रियों के मार्ग कहते हैं तथा (मनीषिणः[२]) मन को वश में करने वाले योगी पुरुष (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्) इन्द्रिय तथा मन से युक्त जीवात्मा को (भोक्ता) भोग करने वाला (इति, आहुः) इस प्रकार कहते हैं ।

भावार्थ—यहां आलङ्कारिक भाषा में यह समझाया गया है कि इस शरीररूपी रथ के घोड़े इन्द्रियां हैं और इन्द्रियों के विषय ही इन्द्रियों के विचरने के मार्ग हैं । और जीवात्मा इन्द्रिय तथा मन से युक्त होकर

---

१. 'गोचरः पद 'गोचरसञ्चर० अ० ३।३।११९ सूत्र से निपातित है। इसका अर्थ है 'गावश्चरन्त्यस्मिन्निति गोचरः' अर्थात् जिसमें गाय=इन्द्रियां विचरण करती हैं ।

२. 'मनीषी' इति मेधाविनाम (निघं० ३।१२) मनस ईषिण इति विग्रहे शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । मनसो दमनशीलाः।
(ऋ० १।१६४।२५ महर्षिभाष्ये)

ही सुख दु:ख का भोग करता है । यहां जीवात्मा को स्पष्ट रूप से भोक्ता कहा गया है । जो विद्वान् आत्मा को भोक्ता न मानकर बुद्धि को भोक्ता मानते हैं, उनका मत इससे खण्डित हो रहा है । 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्, (तैत्तिरी०) में भी जीवात्मा को भोक्ता माना है । न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—'तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा भोक्ता''''''भोगायतनं शरीरं भोगसाधनानि इन्द्रियाणि' । (न्याय० १।१।९ भाष्ये) अर्थात् जीवात्मा भोग करने वाला है, शरीर भोग करने का आश्रय है और इन्द्रियां भोग के साधन हैं। ऋग्वेद और मुण्डकोपनिषद् में कहा है—तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।' अर्थात् जीवात्मा प्रकृति के सुखों को भोगता है और परमात्मा भोगता नहीं । बस जीवों के पुण्यापुण्य कर्मों का साक्षिमात्र रहता है अत: जीवात्मा को भोक्ता न मानना और ईश्वर को भोक्ता मानकर उसे भोग लगाना, दोनों ही मान्यताएं असत्य हैं ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में भी स्वामी-शङ्कर ने लिखा है—'न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति, बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्' अर्थात् केवल जीवात्मा भोक्ता नहीं है, किन्तु बुद्धि आदि उपाधिकृत ही जीवात्मा का भोक्तृत्व है । यह उनका कथन युक्ति तथा शास्त्र से विरुद्ध है कि जीवात्मा कर्मफल का भोक्ता नहीं है । जीवात्मा ही समस्त शारीरिक-व्यापार का कर्त्ता होने से कर्म-फलों को भोगता है। बुद्धि आदि तो जीवात्मा के करण हैं । जैसे कोई तलवार से किसी को मार देवे और यह कहे कि इसको तलवार ने मारा है, मैंने नहीं । जैसे उसका कथन मानने योग्य नहीं वैसे ही जीवात्मा को भोक्ता न मानकर बुद्धि को मानना सत्य नहीं है उपनिषत् के इस श्लोक में स्पष्ट कहा है कि जीवात्मा ही भोक्ता है किन्तु वह इन्द्रिय तथा मन के विना नहीं भोग कर सकता है । क्योंकि जीवात्मा के भोग का आश्रय (भोगायतन) शरीर तथा बुद्धि आदि करण हैं ।

जो आत्मा के ज्ञान से हीन है, उसकी दुर्दशा का वर्णन करते हुए यमाचार्य कहते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥३।५॥

पदार्थ—(तु) और (यः) जो पुरुष (अविज्ञानवान्[१]) आत्मज्ञान से हीन होने से विषयों में फंसा होता है वह (अयुक्तेन[२]) चित्तवृत्तियों के विरोध न करने वाले (मनसा) मन से (सदा) सदा (भवति) वर्त्तमान रहता है, (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) कर्णादि इन्द्रियां (सारथेः) रथ को चलाने वाले सारथी के (दुष्टाश्वा, इव) स्वेच्छाचारी असंयत घोड़ों की तरह (अवश्यानि) वश में नहीं रहती हैं ।

भावार्थ—मन की वृत्तियों के विषय में योग-सूत्रों के भाष्यकार महर्षि-व्यास लिखते हैं—'चित्तनदीनामुभयतो वाहिनी वहति, कल्याणाय वहति पापाय च ।' (यो० १।१२ भाष्यम्) अर्थात् चित्तरूप नदी की धाराएं दोनों तरफ (पाप या पुण्य) बहने वाली होती हैं । उनका पाप-मार्ग से निरोध करना परमावश्यक है। तदर्थ यमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान से विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्राप्त करना परमावश्यक है ।

प्रस्तुत श्रुति में उदाहरण देकर यह बोध कराया है कि जैसे अशिक्षित तथा कुमार्गगामी दुष्ट घोड़ों से सारथी अभीष्ट स्थान पर कदापि पहुंच नहीं सकता, वैसे आत्मविज्ञान से हीन जीव की चित्तवृत्तियों के निरोध के विना इन्द्रियरूपी घोड़े कदापि वश में नहीं हो सकते । क्योंकि विषयोन्मुख इन्द्रियों का निरोध करना सम्भव नहीं है । और जैसे घट में एक भी छिद्र जब तक है, तब तक उसका जलादि से भरना सम्भव नहीं है, वैसे ही एक भी इन्द्रिय अपने विषय की ओर जब तक भाग रही होती है तब तक मन की वृत्तियों का निरोध करना सम्भव नहीं है ।

अब आत्मज्ञानी संयमी पुरुष की दशा का वर्णन करते हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥३।६॥

पदार्थ—(तु) और (यः) जो पुरुष (विज्ञानवान्) आत्मा का ज्ञान

---

१. विज्ञान किसे कहते हैं ? इसका स्पष्टीकरण कठो० ३।६ के भावार्थ में महर्षि-दयानन्द के वचनों से किया गया है ।

२. अयुक्तेन=जिसने अपनी मन की वृत्तियों का निरोध कर लिया है, वह 'युक्तमना' कहलाता है । इससे विपरीत को यहां 'अयुक्त' कहा है ।

होने से विवेकशील होता है, वह (युक्तेन[१]) अभ्यास और वैराग्य से निरुद्ध किए (मनसा) मन से (सदा) सदा (भवति) वर्त्तमान रहता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) नेत्रादि इन्द्रियां (सारथेः) रथ-चालक के (सदश्वाः, इव) प्रशिक्षित घोड़ों की तरह (वश्यानि[२]) वश में हो जाती हैं ।

भावार्थ—इस श्लोक में इन्द्रियों को वश में करने के दो साधन बताए हैं—विज्ञान और मन की वृत्तियों को रोकना । मन की वृत्तियों को रोकने को ही योगदर्शन में योग कहा है । विज्ञान क्या है ? इसको समझाते हुए महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—"विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृण पर्यन्त पदार्थों का साक्षाद् बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना।"

(ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकायां वेदविषयविचारः)

और बाह्येन्द्रियां मन के विना कार्य नहीं कर सकतीं । अतः मन की वृत्तियों के निरोधरूप योग से तथा विज्ञान से इन्द्रियां वश में हो जाती हैं ।

आत्मज्ञान से रहित असंयमी पुरुष की दशा का वर्णन करते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥३।७॥

पदार्थ—(तु) और (यः) जो मनुष्य (सदा) सदा (अशुचिः[३]) अपवित्र=मिथ्याज्ञान तथा छलकपटादि दोषों से अशुद्ध (अमनस्कः) जिसका मन वश में नहीं है और (अविज्ञानवान्) आत्मज्ञान से रहित=विवेकशून्य (भवति) होता है (सः) वह शरीर रथ का संयमहीन स्वामी (तत्पदम्[४])

---

१. मन को युक्त करने का उपाय बताते हुए योगदर्शन में लिखा है—अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ (योग० १।१२)

२. 'वश्यानि' पद में 'वशं गतः' (अ० ४।४।८६) सूत्र से वश प्राति० से गतार्थ में यत् प्रत्यय है ।

३. अशुद्धि क्या है ? "पञ्चपर्वणो विपर्ययस्य=अशुद्धिरूपस्य" । (योग० २।२८ व्यास०) अर्थात् मुख्य अशुद्धि है—पांच अङ्गों वाली अविद्या। और इसके नाश का उपाय है—योग के आठों अङ्गों यमादि का विधिवत् अनुष्ठान ।

४. इस 'पद' का अर्थ स्थान कदापि नहीं है । क्योंकि परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है । यहां इसका अर्थ 'प्रापणीय मोक्ष' है । जैसे कि अन्यत्र कहा है—'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।' (कठ०) अर्थात् 'ओम्' की प्राप्ति ही परम पद है ।

उस ब्रह्म के प्रापणीय पद अर्थात् मोक्ष को (न, आप्नोति) नहीं प्राप्त करता है (च) और (संसारम्) जन्म-मरण के प्रवाह रूप दुःखसागर को (अधिगच्छति) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—जैसे प्रशिक्षणादि ज्ञान के विना रथ-सारथी के घोड़े वश में न होने से रथ का स्वामी अपने अभीष्ट स्थान को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता और घोड़े रथ को भी गर्त्तादि कुमार्ग में डालकर क्षत-विक्षत कर देते हैं वैसे जो जीव विज्ञानहीन है, मन आदि इन्द्रियों को वश में न रखकर इन्द्रियों का दास बन जाता है तथा रागादिमलों से आभ्यन्तरिक, हिंसादि दोषों, मिथ्याहार अथवा मांस, मद्यादि अभक्ष्य खाने-पीने से बाह्य शुद्धि न रखने से मलीनात्मा है, वह संसार के आवागमन से कभी नहीं छूट सकता है । और उसे मोक्ष की प्राप्ति भी कदापि सम्भव नहीं है । ऐसा आत्मपराङ्मुख जीव बार-बार जन्म-मरण में रहने से शाश्वत-शान्ति तथा सुख को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रहता है ।

अब आत्मज्ञानी व संयमी पुरुष की गति का वर्णन करते हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥३।८॥

पदार्थ—(तु) और (यः) जो पुरुष (सदा) सदा (शुचिः[१]) राग-द्वेषादि मलों से रहित होने से पवित्रान्तःकरण वाला (समनस्कः) मन को वश में करने वाला और (विज्ञानवान्) आत्मज्ञानयुक्त होने से विवेकशील (भवति) होता है (सः) वह धीरपुरुष (तु) निश्चय से (तत्पदम्) उस प्रापणीय ब्रह्म के पद=मोक्ष को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है (यस्मात्) जिस पद=मोक्ष से (भूयः) फिर (न, जायते) जन्म-मरण रूप संसार में जन्म नहीं लेता ।

भावार्थ—प्रस्तुत श्रुति में भी परमात्मा के मोक्ष पद को प्राप्त करने का ही उपाय बताया गया है । इससे अगली श्रुति में इसका रथ के आलङ्कारिक वर्णन के द्वारा बोध कराया गया है । जैसे यात्रा के समय रथ

---

१. 'तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम् । आभ्यन्तरञ्चित्तमलानामाक्षालनम् । (योग० २।३२ व्यासभाष्यम्)
अर्थात् शुद्धि दो प्रकार की होती है बाह्यशुद्धि—मिट्टी, जलादि तथा पवित्र आहारादि से होती है । और चित्त के रागद्वेषादि मलों के प्रक्षालन से आभ्यन्तर शुद्धि होती है ।'

के स्वामी के लिए रथ साधन है, वैसे हमें शरीररूपी रथ परमात्मा ने प्रदान किया है । जैसे रथ को ठीक तरह से निश्चित स्थान पर पहुंचाने के लिए कुशल सारथी, प्रशिक्षित घोड़े तथा लगामादि से घोड़ों का संयमन परमावश्यक होता है, वैसे ही विज्ञान=ऋतम्भरा प्रज्ञा इस शरीर रथ का सारथी है, इन्द्रियां घोड़े हैं, इनको योगसाधनादि से मन के द्वारा संयम करना तथा आभ्यन्तर तथा बाह्य शुद्धि करना ही मोक्ष-प्राप्ति में परमसहायक होता है।

इस श्रुति में जो 'भूयो न जायते' फिर जन्म नहीं लेता है, कहा है, इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि मोक्ष को प्राप्त करने वाले जीव मोक्ष से वापस नहीं आते । यह मान्यता वेदादि शास्त्रों तथा युक्ति से विरुद्ध है । वेद में स्पष्ट कहा है—'स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।' (ऋ० १।२४।२) अर्थात् वह परमात्मा मुक्त जीवों को भी मोक्ष सुख की अवधि पूरी होने पर फिर माता-पिता का दर्शन कराता है । यहां 'भूयो न जायते' का अभिप्राय है कि मोक्ष की लम्बी अवधि के मध्य में जीव जन्म नहीं लेता । अन्यथा ससीम कर्मों का असीम फल देने से परमात्मा के न्याय में दोष आता है ।

अब विवेकशील, संयमी तथा आत्मज्ञानी के ब्रह्मपद की प्राप्ति का कथन करते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम् ॥३।९॥

***पदार्थ*—**(यः) जो पुरुष (तु) निश्चय से (विज्ञानसारथिः[१]) सत् असत् का विवेक करने वाली बुद्धि जिसका सारथी है, (मनः प्रग्रहवान्[२]) जिसने शरीररूपी रथ में मन को प्रग्रह=लगाम की रस्सी की तरह संयम में कर लिया है, वह (नरः) पुरुष (अध्वनः) जन्म-मरण रूप मार्ग से (पारम्) पार=पृथक् (विष्णोः[३]) व्यापकब्रह्म के (परमम्)

---

१. विज्ञानम्=सम्यग्ज्ञानं विविधज्ञानं वा ।। (य० २०।८ द० भा०)

२. 'रश्मौ च' अ० ३।३।५३ सूत्र से प्रपूर्वक ग्रह धातु से रश्मि=लगाम अर्थ में घञ् ।

३. 'विष्णु' परब्रह्म का ही नाम है । जैसे कि वेद में कहा है—"तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।। (ऋ० १।२२।२०)
महर्षि दयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स परमेश्वरः ।।" (ऋ० १।२२।२०)

सर्वोत्कृष्ट (तत्, पदम्) उस इन्द्रियातीत मोक्ष पद को अथवा ब्रह्म के स्वरूप को (आप्नोति) प्राप्त हो जाता है वा जान लेता है ।

भावार्थ—मनुष्य का परमोद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है । और मानवयोनि को छोड़कर अन्य किसी योनि में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि मानवेतर समस्त योनियां भोगयोनियां हैं । मानव को ही वे साधन सुलभ हैं, जिनसे वह मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है । प्रस्तुत श्रुति में मोक्ष प्राप्ति का प्रकार बताते हुए लिखा है कि जो अज्ञान को दूर करने वाली विज्ञान वाली बुद्धि को सारथी बनाकर सङ्कल्प-विकल्पात्मक रूप मन की वृत्तियों को, जो इन्द्रिय रूपी घोड़ों की लगाम के रूप में हैं, रोककर परमात्मा की भक्ति में लगाता है, वह जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । योगदर्शन में इसी तथ्य का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' (योग० १।२-३) अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है और निरोध होने पर परमात्मा के स्वरूप में स्थिति हो जाती है ।

और विष्णु=व्यापक परमात्मा का नाम है वह किसी विष्णुलोकादि किसी स्थानविशेष में नहीं रहता । विष्णुलोक की कल्पना भ्रान्तिवश है। प्रस्तुत श्रुति विष्णु का जो 'पद' कहा है उसका अर्थ स्थान कदापि नहीं है । इसका स्पष्टीकरण उपनिषत्कार ने अन्यत्र किया है—तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम् इत्येतत् (कठो० २।१५) अर्थात् परमात्मा के मुख्य 'ओम्' का सार्थक जप ही विष्णु का श्रेष्ठ पद=प्राप्ति का उपाय है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कर लिखते हैं—'तद् विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानम्' अर्थात् व्यापक वासुदेव नामक परब्रह्म का वह उत्कृष्ट स्थान है । यहां एक तो परब्रह्म के लिए 'वासुदेव' शब्द का प्रयोग भ्रान्ति पैदा करता है । यद्यपि इसकी ब्रह्मपरक व्याख्या की जाती है, किन्तु यह शब्द श्रीकृष्ण के लिए रूढ़ हो चुका है अतः परमात्मा के लिए उसका प्रयोग ठीक नहीं है । उपनिषत्कार ने आत्मा ओम् व ब्रह्म से भिन्न परमात्मा के लिए ऐसे रूढ शब्दों का कहीं प्रयोग नहीं किया है और जैसे अवैदिक मतावलम्बी ईश्वर को व्यापक न मानकर किसी स्थानविशेष में रहने वाला मानते हैं । कोई सातवें आसमान में, कोई पांचवें आसमान में, कोई वैकुण्ठ' में और कोई ऐसे ही दूसरे स्थानों

पर ईश्वर का निवास मानते हैं, वैसे ही विष्णु के 'पद' का 'स्थान' अर्थ करने से वही गन्ध अथवा भ्रान्ति फैलती है । अतः यहां सर्वत्र व्यापक विष्णु का 'पद=उसकी प्राप्ति का उपाय या जानने योग्य स्वरूप' अर्थ ही करना चाहिए । उपनिषद् में 'पदम्' की व्याख्या करते हुए इसी भाव का स्पष्ट उल्लेख किया है—"तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" अर्थात् 'ओम्' ही परमेश्वर का पद=प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है ।

अब उस परम पद (परब्रह्म) की सूक्ष्मता का कथन करते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥३।१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥३।११॥

***पदार्थ*—**(इन्द्रियेभ्यः[१]) नेत्रादि इन्द्रियों से (अर्थाः) इन्द्रियों के शब्दस्पर्शादि विषय (हि) निश्चय करके (पराः) सूक्ष्म हैं, (च) और (अर्थेभ्यः) इन शब्दादिविषयों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है (च) और (मनसः) सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन से (बुद्धिः) निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि (परा) अतिसूक्ष्म है (बुद्धेः) और इस निश्चयात्मक वृत्ति से (आत्मा[२]) व्यापक (महान्) महत्तत्व (परः) अतिसूक्ष्म है ।। (३।१०)

(महतः) महत्तत्व से (अव्यक्तम्) सत्त्व, रजः तथा तमोगुण की साम्यावस्था=प्रकृति (परम्) सूक्ष्म अव्यक्तात् कारण रूप प्रकृति से (पुरुषः[३]) जीवात्मा तथा परमात्मा (परः) अत्यन्तसूक्ष्म हैं और (पुरुषात्) पुरुष से (परम्) सूक्ष्म (किञ्चित्) कुछ भी (न) नहीं है (सा) वह

---

१. इन्द्रस्य=ऐश्वर्यप्राप्तेर्लिङ्गम्=चिह्नम्, इन्द्रेण परमेश्वरेण दृष्टम् प्रकाशितम् इन्द्रेण विद्यावता जीवेन जुष्टम् सम्प्रीत्या सेवितम्, इन्द्रेण परमेश्वरेण यद् दत्तं सर्वसुखज्ञानसाधकम् । (यजु० २।१० महर्षिभाष्ये) 'इन्द्रिय-मिन्द्रलिङ्गम्० (अ० ५।२।९३) सूत्रेण लिङ्गादिष्वर्थेषु निपातितः ।

२. 'आत्मा' शब्द यहां महान्—महत्तत्व का विशेषण है । क्योंकि वह अपने कार्यों में व्याप्त है । इसके लिए कठो० ६।७ भी द्रष्टव्य है ।

३. 'पुरुष' शब्द का प्रयोग जीवात्मा व परमात्मा दोनों के लिए हुआ है । देखिए निरुक्त में—"पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा । पूरयत्यन्त-रित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य ।।" (निरुक्ते २।३)

(काष्ठा) अवधि=अन्तिम हद है और (सा) वही (परागतिः) सूक्ष्मता की अन्तिम हद है उससे आगे किसी की गति अथवा सूक्ष्मता नहीं है।

भावार्थ—उक्त दोनों श्लोकों में परमात्मा की सूक्ष्मता का दिग्दर्शन कराया गया है । इनमें सर्वविदित इन्द्रियों से प्रारम्भ करके मन, बुद्धि, महत्तत्व, अव्यक्त प्रकृति तथा परमात्मा की सूक्ष्मता का क्रमिक निर्देश किया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि परमात्मा से सूक्ष्म कोई भी वस्तु नहीं है । भौतिक कार्य-पदार्थों का भी जो मूल कारण प्रकृति है, उससे भी वह ब्रह्म सूक्ष्म है । जगत् के समस्त छोटे बड़े पदार्थों की एक सीमा होती है, परन्तु ब्रह्म असीम, अनन्त तथा निर्विकार होने से उसकी कोई हद नहीं है । ब्रह्म न किसी का उपादान कारण है और न किसी का कार्य है । ब्रह्म का कोई आधार भी नहीं है ।

वेद में परब्रह्म की सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए लिखा है—'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।' अतः मुमुक्षु पुरुषों को सूक्ष्मतम परबह्म को इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म में विचार करते हुए जानना चाहिए ।

और दसवें श्लोक में 'आत्मा' शब्द महान्=महत्तत्व का विशेषण है, जीवात्मा के लिए नहीं । क्योंकि ११वें श्लोक में पुनः महत्तत्व के सूक्ष्म पदार्थ के निर्देश से इसका और भी स्पष्टीकरण हो गया है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कर लिखते हैं—

'बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान् सर्वमहत्त्वाद्-व्यक्ताद् यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ।' अर्थात् बुद्धि से सूक्ष्म आत्मा है और इसकी उत्पत्ति अव्यक्त प्रकृति से सर्वप्रथम हुई, इसे ही हैरण्यगर्भतत्त्व कहते हैं ।

यहां आचार्य शङ्कर भ्रान्तिवश 'आत्मा' शब्द के अर्थ को न समझकर व्याख्या कर गए हैं । उन्होंने यहां विशेषण-विशेष्यभाव को भी नहीं समझा है । यहां 'आत्मा' शब्द 'महान्' का विशेषण है, किन्तु उन्होंने 'महान्' शब्द को 'आत्मा' शब्द का विशेषण माना है । यह उनका भ्रम है । सांख्यदर्शन के अनुसार भी प्रकृति का जो प्रथम विकार है, उसे महत्तत्त्व कहा है, उसे ही यहां 'महान्' शब्द से निर्देश किया गया है । और क्योंकि महत्तत्त्व अपने समस्त कार्यों में व्याप्त है, अतः उसका विशेषण 'आत्मा' शब्द पढ़ा है । किन्तु शङ्कर स्वामी ने इस

रहस्य को न समझकर सब शरीर में विद्यमान प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) को ही मानकर ऐसी मिथ्या व्याख्या की है और उसे प्रकृति का विकार मानकर तो अतीव आश्चर्य ही पैदा कर दिया है ।

परम-सूक्ष्म परमात्मा को कैसे जाना जा सकता है ? अब यह कथन करते हैं–

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥३।१२॥

पदार्थ—(सर्वेषु, भूतेषु) सब प्राणी वा अप्राणियों में (एषः) यह परमात्मा (गूढात्मा) व्यापकरूप से छिपा हुआ है, अतः (न, प्रकाशते) इन भौतिक इन्द्रियों से नहीं जाना जाता (तु) किन्तु (अग्र्यया) कुशाग्र=सूक्ष्म विषय में प्रवेश करने वाली (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्ध्या[१]) बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्म को भी जाननेवाले योगी जनों से (दृश्यते) जाना जाता है ।

भावार्थ—वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक तथा परम सूक्ष्म है । अतः सब प्राणियों तथा अप्राणियों में व्याप्त हो रहा है । वह परमात्मा 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।' (यजु०) इस समस्त स्थावर-जङ्गम-जगत् के अन्दर तथा बाहर व्याप्त है । वह हमारी आत्मा में व्यापक है । ऐसे सूक्ष्म परमात्मा को हम इन इन्द्रियों से कदापि नहीं जान सकते । वह सर्वत्र विद्यमान भी दिखाई न देने से छिपा हुआ है । उस व्यापक परमात्मा का कोई वस्तु आवरण नहीं हो सकती । उसको जानने का एक ही उपाय है कि योगाङ्गों के अनुष्ठानों से अशुद्धि को दूर करके विवेकख्याति की बुद्धि को प्राप्त करना । इसे ही योगदर्शन में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा है । इसके आश्रय से योगी-जीवात्मा परमात्मा के जानने में

---

१. इस सूक्ष्म बुद्धि को ही योगदर्शन में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा है । देखिए–

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।। (योग० १।४८) तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्य ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्त्ति न च तत्र विपर्यास-ज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति।" (व्यासभाष्यम्)

स्थिरचित्त होने पर जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसका नाम 'ऋतम्भरा' है और ऋत=सत्य को धारण करने से सार्थक नाम है । उस बुद्धि में मिथ्याज्ञान की गन्ध भी नहीं होती । उससे ही परमात्मा को जाना जाता है ।

समर्थ हो जाता है । इस बुद्धि को प्राप्त करने के लिए चित्त-वृत्तियों का निरोध-करके परमात्मा में लगाना अत्यावश्यक है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कर लिखते हैं—'एषः पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादि-कर्मा अविद्यामायाच्छन्नोऽतएव आत्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो अति गम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा चेयं माया, यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थत परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णाति । अर्थात् यह सूक्ष्मतम ब्रह्म सब भूतों में छिपा हुआ है, दर्शन-श्रवणादि क्रिया वाला भी अविद्या माया से ढका हुआ है, इसीलिए वह प्रकाशित नहीं होता । यह माया बहुत गम्भीर, न जानने योग्य तथा विचित्र है कि सब जन्तु स्वयं परब्रह्म होते हुए भी बोध कराने से भी अपने को परमात्मा नहीं जान पाते ।

अद्वैतवाद के प्रवर्तक स्वामी शङ्कर की यह व्याख्या वेदादिशास्त्रों तथा मूल उपनिषत् के पाठों से भी विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती। परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने से सब पदार्थों में व्याप्त है और वह सूक्ष्मतम होने से ही जीवों को नहीं दिखाई देता । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि परब्रह्म को अविद्या-माया ने ढककर रखा है जब उनके मत में ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं मानी जाती तो यह अविद्या क्या वस्तु है ? और इसे मानते हो तो अद्वैतवाद से हाथ धोना पड़ेगा । और उपनिषत्कार कह रहा कि परब्रह्म सूक्ष्मतम है । क्या उससे स्थूल वस्तु उसे ढक सकती है ? क्या अविद्या के ढकने से ढका हुआ ब्रह्म ढकने से बाहर न होने से सर्वत्र व्यापक हो सकता है ? यदि ढकने से बाहर भी है तो उनके अनुसार वह दिखाई देना चाहिए ? क्या यहां उपनिषद् में अविद्या का कहीं सङ्केत है, जो शङ्कराचार्य ने स्वयं कल्पना कर ली है ?

और उपनिषद् में स्थान-स्थान पर जीव-ब्रह्म का भेद प्रतिपादित है, क्या उसको भुलाकर 'अहं ब्रह्मास्मि' का सिद्धान्त मानने योग्य है । स्वयं शङ्कर स्वामी ने (कठो० ३।१) की व्याख्या में जीव-ब्रह्म का भेद माना है । और यह लिखा है कि प्राप्त करने वाला तथा प्राप्त करने योग्य, जानने वाला और जानने योग्य के भेद से आत्मा दो हैं । फिर यहां परब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की सत्ता का विरोध क्यों किया है ? यह उनकी शास्त्रविरुद्ध, युक्तिविरुद्ध तथा स्ववचनों से भी विरुद्ध व्याख्या है ।

अब परमात्मा को जानने के उपाय का कथन करते हैं ।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥३।१३॥

पदार्थ—(प्राज्ञः) प्रकृष्ट ज्ञानयुक्त पुरुष (मनसि) मन में (वाक्[१]) वाणी आदि इन्द्रियों का (यच्छेत्) संयम करे (तत्) उस मन को (ज्ञाने) ज्ञान में और (आत्मनि) आत्मा में (यच्छेत्) संयम करे (ज्ञानम्) ज्ञान के साधन बुद्धि को (महति, आत्मनि) परमात्मा में (नियच्छेत्) संयत करे (तत्) उस विज्ञान को (शान्ते, आत्मनि) शान्तस्वरूप परमात्मा में (यच्छेत्) संयत करे ।

महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—

"संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोके । उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञान, स्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ।"

(सत्यार्थ० पञ्चम० १२६ पृ०)

भावार्थ—परमात्मा के ज्ञान में तत्पर जिज्ञासु योगी को उचित है कि वह बाह्येन्द्रियों का संयम करके मन के आधीन करे, मन को निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि और आत्मा के आधीन करे और विज्ञान व स्वात्मा को शान्तस्वरूप सूक्ष्मतम परमात्मा के जानने में लगावे । इसे ही अध्यात्मयोग अथवा औपनिषद उपासना कहते हैं ।

और इससे यह भी स्पष्ट है कि संन्यासी केवल प्रज्ञान मात्र से ही परब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता । उसे भी दुराचरण से पृथक् होकर शान्त रहना, आत्मा को परमात्मा में लगाना और अपनी इन्द्रियों पर संयम करना अपरिहार्य है । अन्यथा सफलता प्राप्त नहीं हो सकती ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में शङ्कर स्वामी लिखते हैं—'यच्छेत्=नियच्छेत् । प्राज्ञः=विवेकी, वाग्=वाचम्, वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम् । क्व मनसि । तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धावात्मनि। ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् । तञ्च महान्तमात्मानं यच्छेच्छान्ते''''''मुख्य-आत्मनि । अर्थात् विवेकी (मुमुक्षु) पुरुष इन्द्रियों का मन में, मन का प्रकाश स्वरूप बुद्धि में, बुद्धि का महत्तत्त्व में और

---

१. वागित्युपलक्षणं सर्वेन्द्रियाणाम् ।

उस महान् आत्मा का मुख्यात्मा (परब्रह्म) में संयम करे ।

यह शङ्कर-भाष्य सार ही भ्रान्त है । शङ्कर स्वामी लिखते हैं—विवेकी पुरुष इन्द्रियों का मन में, मन का बुद्धि में, बुद्धि का महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व का मुख्यात्मा में संयम करे । महत्तत्त्व प्रकृति का प्रथम विकार है, उसको परमात्मा में लगाने का क्या आशय है ? क्या जीवात्मा प्रकृति के इस प्रथम कार्य महत्तत्त्व का परमात्मा में संयम कर सकता है ? परमात्मा तो समस्त जगत् का नियन्ता है ही, उसमें संयम करने का कुछ प्रयोजन भी नहीं है । और संयम करने वाला विवेकी मुख्यात्मा=परमात्मा से भिन्न होने से अद्वैतवाद का स्पष्ट रूप में खण्डन हो रहा है । अतः महर्षि दयानन्द कृत व्याख्या ही प्रकरणानुकूल है अर्थात् विवेकी पुरुष वाणी और मन का प्रथम संयम करे और उनको ज्ञान और आत्मा में संयम करे और ज्ञानस्वरूपात्मा को परमात्मा में लगावे और उस समय के प्राप्त विशेष ज्ञान (विज्ञान) को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ।

और यहां शङ्कराचार्य ने पद-पाठ को भी नहीं समझा है अथवा जानबूझकर पदों का मिथ्या अर्थ किया है । उपनिषत् के श्लोक में 'वाङ्मनसी' द्विवचनान्त पद है, उसकी व्याख्या शाङ्करभाष्य में वाङ् तथा मनसि' पृथक् पृथक् मानकर व्याख्या की है । और यह लिख दिया है कि 'मनसी' में दीर्घ छान्दस है । प्रथम तो यह पदों का विभाग ही मिथ्या है । और यदि इन्हें पृथक्-पृथक् पद मान भी लिया जाए, तो 'यच्छेत्' क्रिया का 'वाक्' कर्म होने से 'वाचम्' पाठ होना चाहिए था। अतः शङ्कराचार्य ने यह पद-विभाग भ्रान्तिवश किया है और यह विभाग मूलपाठ से सर्वथा विरुद्ध है ।

अब अतिसूक्ष्म परमात्म-ज्ञान को अत्यन्त पुरुषार्थ से साध्य कथन करते हैं ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥३।१४॥

पदार्थ—हे मुमुक्षु जनो ! परमात्म-ज्ञान के लिए (उत्तिष्ठत) उठो=आगे बढ़ो (जाग्रत) अविद्या-निद्रा को त्यागकर जागो (वरान्) श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी आचार्यों को (प्राप्य) प्राप्त होकर=उनके चरणों में बैठकर (निबोधत) योगाङ्गों का अनुष्ठान करके ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करो ।

(कवय:[१]) ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले विद्वान् लोग (तत्) उस ब्रह्म-तत्त्व के ज्ञान के (पथ:) मार्ग को वैसा (दुर्गम्) दु:ख से प्राप्त होने योग्य (वदन्ति) उपदेश करते हैं, जैसे (निशिता) सान पर चढ़ी हुई तीक्ष्ण (क्षुरस्य) छुरे या तलवार की (धारा) धारा को (दुरत्यया पैरों से अतिक्रमण करना अतिकठिन होता है ।

***भावार्थ*—**इस अध्यात्मविद्या का प्राप्त करना सुगम नहीं है। इसके लिए कठोर संयम तथा साधना की आवश्यकता होती है। इसीलिए इस विद्या की प्राप्ति के मार्ग को तेज तलवार की धार पर चलने की भांति अतिकठिन बताया है । साथ ही इस विद्या को प्राप्त करने के लिए सरल उपाय भी बताया है । जो मुमुक्षु जन हैं, उन्हें सर्वप्रथम उत्तिष्ठत=सामान्य मनुष्यों के स्तर से ऊपर उठना अर्थात् दुराचरण को छोड़ना होगा। ज्ञान-मार्ग में प्रबल बाधक अज्ञान (अविद्या) की ग्रन्थि को काटकर दूर करना होगा । और फिर जाग्रत=मोक्षमार्ग पर चलने के लिए सदा साव- धान एवं जागरूक रहना होगा क्योंकि यह संसार एक परीक्षा का केन्द्र है । इसमें इस सन्मार्ग से रोकने के लिए पता नहीं कितनी काञ्चन-कामिनी जैसी लुभावने वाली बाधाएं आती हैं उनसे बचने के लिए योगी को सदा सतर्क रहना होगा । और फिर जन्म-जन्मान्तरों से मन में सञ्चित कुवासनाओं और बुरे संस्कारों को दग्ध करने के लिए ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करना होगा। एतदर्थ कहा है-'प्राप्य वरान् निबोधत' अर्थात् जो इस विद्या में श्रेष्ठ, अनुभवी विद्वान् हों उनकी शरण में जाकर ज्ञान की ज्योति जलानी होगी। इस प्रकार यह कठिन मार्ग भी सरल हो जाएगा ।

उस परम-सूक्ष्म परमात्मा के सत्यस्वरूप को जानने से मृत्यु (दु:ख) की निवृत्ति का कथन करते हैं-

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥३।१५॥

---

१. 'कवि' शब्द निर्भ्रान्तज्ञानवाले, प्राप्त विद्वान्-पुरुष को कहते । देखिए-

कवि:=मेधाविनाम ।। (निघं० ३।१५) कवि:=क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा ।। (निरुक्ते १२।१३)

ये वा अनूचानस्ते कवयः । (ऐ० २।२) एते वै कवयो यद् ऋषय:। (शत० १।४।२।८)

पदार्थ—(यत्) जो ब्रह्म (अशब्दम्) शब्दरहित (अस्पर्शम्) स्पर्शरहित (अरूपम्) रूपरहित (अरसम्) रसरहित (तथा) और (अव्ययम्) विकाररहित=अविनाशी (नित्यम्) अनादि (अगन्धवत्) गन्धरहित (अनन्तम्) अनन्त (महत:, परम्) महत्तत्त्व से भी सूक्ष्म है (च) और (ध्रुवम्) अचल है (तत्) उस ब्रह्म को (निचाय्य) जानकर (मृत्युमुखात्) जन्म-मरण के प्रवाहरूप दु:ख-बन्धन से (प्रमुच्यते) जीवात्मा मुक्त हो जाता है ।

महर्षि दयानन्द कृत इस श्लोक की व्याख्या विभिन्न स्थानों पर इस प्रकार है—

(क)"वह (ब्रह्म) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और नाशरहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से परे निश्चल है । उसी को ठीक-ठीक जान के मृत्यु रूप ग्रह के मुख से छूटता है ।"

(वेदविरुद्धमतखण्डनम्, ल० २९ पृ०)

(ख) "जो शब्द, स्पर्श रूपादिगुणरहित है, इससे परमात्मा का नाम निर्गुण है । 'यो गुणै: सह वर्त्तते स: सगुण:' जो सब का ज्ञान सर्वसुख, पवित्रता, अनन्त बलादिगुणों से युक्त है, इसलिए परमात्मा का नाम सगुण है ।" (सत्यार्थ प्रथम० २४ पृ०)

(ग) "अतो देहधारणेनेश्वर: सगुणो भवति, देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति । तस्मात् सज्जनैर्व्यर्थेयं रीति: सदा त्याज्येति शिवम् ।"

अर्थ—जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देह-धारण करने से सगुण और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उनकी कल्पना सब वेदशास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिए ।" (ऋ० भा० मुक्तिविषय:)

(घ) 'आर्य लोग पृथिव्यादि जड़ देवताओं की पूजा करते थे ।' ऐसी पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्ति को दूर करने के लिए महर्षि-दयानन्द ने 'अशब्दमस्पर्शम्०' इत्यादि अनेक प्रमाणों से (ऋ० भू० ७३ पृ०) यह सिद्ध किया है कि वे वेदादि शास्त्रों में एक निराकार परमेश्वर की उपासना का ही उल्लेख है । आर्य लोग भी एक-ईश्वर के ही उपासक रहे हैं।

भावार्थ—इस श्लोक में ईश्वर के स्वरूप का बहुत ही निर्भ्रान्त तथा सत्य व्याख्यान किया गया है । जिससे ईश्वर के साकारवाद तथा अद्वैतवाद का समूल उन्मूलन हो जाता है । वह सर्वत्र व्यापक ईश्वर

कैसा है ? इसका स्पष्ट उत्तर यहां दिया गया है कि वह इन इन्द्रियों का विषय न होने से रूपादि रहित है । वह निर्विकार होने से 'अव्यय' है । उसका कोई कारण न होने से वह अनादि और उसका कोई कार्य न होने से वह 'अनन्त' है । जो ईश्वर का साकार स्वरूप भी मानते हैं, वे ईश्वर के उपर्युक्त विशेषणों की सङ्गति कदापि नहीं लगा सकते । उपनिषत् की यह व्याख्या 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्०' (यजुर्वेद) इस वेद-मन्त्र के अनुकूल होने से यथार्थ है ।

और इस श्लोक में कहा है 'निचाय्य) तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' अर्थात् बद्ध जीवात्मा उस परमात्मा को जानकर मृत्यु=जन्म-मरण के दुःख से छूट जाता है । यहां जीव-ब्रह्म का ज्ञाता-ज्ञेय, बद्ध-मुक्त तथा उपास्य-उपासक भेद से स्पष्ट भेद-वर्णन किया गया है । यहां आचार्य शङ्कर ने भी यही व्याख्या मानी है । मृत्यु आदि दुःखों के बन्धन में परमात्मा कभी नहीं आ सकता, क्योंकि वह सदामुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप तथा निर्विकार है । अतः नवीन वेदान्तियों की अद्वैतवाद की मान्यता उपनिषदों के भी विरुद्ध होने से माननीय कभी नहीं हो सकती ।

इन तीन वल्लियों में प्रतिपादित गुरु-शिष्य के संवाद के उपाख्यान की प्रशंसा करते हुए उपनिषत्कार कहते हैं—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥३।१६॥

पदार्थ—(मृत्युप्रोक्तम्) इस यमाचार्य से उपदिष्ट (नाचिकेतम्) नचिकेता-सम्बन्धी (सनातनम्) परम्परा से सुने जाने वाले सनातन (उपाख्यानम्) गुरु-शिष्य के आलङ्कारिक वर्णन को (उक्त्वा) योग्य शिष्य को उपदेश देकर (च) और (श्रुत्वा) ब्रह्मवेत्ता गुरु से सुनकर (मेधावी) विवेक वाली बुद्धि से सम्पन्नयोगी (ब्रह्मलोके) ब्रह्मज्ञानी पुरुषों में (महीयते) अतिशय सम्मान को प्राप्त करता है ।

भावार्थ—इस अध्यात्मविद्या को 'नाचिकेत-उपाख्यान' इसलिए कहते हैं कि यमाचार्य ने इसका नचिकेता को उपदेश किया था । यथार्थ में तो यम-नचिकेता का यह समस्त संवाद आलङ्कारिक है । इसको 'नाचिकेत' इसलिए कहा गया है कि इसमें अध्यात्म विद्या है । 'चिकेतं ज्ञानं, तद् रहितं वस्तु अचिकेतं जडम् । तद्रहितं नाचिकेतम्=ज्ञानगुणत्वाज्

जीवात्म-परमात्मसम्बन्धि-ज्ञानम् ।' इस निर्वचन से स्पष्ट है कि आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान होने से ही इसे 'नाचिकेत' कहते हैं ।

यहां 'मृत्यु' से अभिप्राय कोई देवता-विशेष नहीं, प्रत्युत मृत्यु-दुःख से छुड़ाने वाली विद्या के उपेदष्टा को ही 'मृत्यु' कहा गया है । वेद में स्पष्ट कहा है—'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' अर्थात् परमात्मा को जानकर ही मृत्यु-दुःख से छूट जाता है । उपनिषद् में भी कहा है कि 'निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' (कठो० ३।१५) अर्थात् मृत्यु के दुःख से मुक्ति पाने के लिए परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होना परमावश्यक है ।

इस श्लोक में यह भी स्पष्ट कहा है कि यह विद्या वेदों से ही प्राप्त हुई है, अतः यह वेद की भांति सनातन=सदा रहने वाली है । और जैसे परमात्मा ने वेद का ज्ञान प्राणिमात्र के हित दिया है, वैसे ही इस विद्या को सीखकर अपने तक ही सीमित न रखा जाए, प्रत्युत दूसरों को भी सिखाया जाए । इसीलिए यहां 'उक्त्वा श्रुत्वा च' दोनों क्रियाओं का निर्देश किया गया है । और 'ब्रह्मलोक' कोई स्थान-विशेष नहीं है । 'लोक' शब्द का प्रयोग यहां 'समूह या समीप' अर्थ में हुआ है । ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के मध्य तथा ब्रह्म के समीप होने से इस विद्या के उपदेष्टा का सत्कार अवश्य होता है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में भी श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं—

'ब्रह्मलोके महीयते आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यभिप्रायः ।'

अर्थात् इस नाचिकेत उपाख्यान को कहकर या सुनकर जीवात्मा परमात्मा होकर उपासनीय हो जाता है । यह व्याख्या उनके पूर्वाग्रह को ही बता रही है क्योंकि मूल उपनिषद् में ऐसा कोई शब्द नहीं है । उपनिषद् में तो केवल यह कहा है—ब्रह्मलोक=ब्रह्म के जानने वालों में महीयते=सत्कार को प्राप्त करता है' और यदि जीवात्मा परमात्मा हो जाता है तो ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्षप्राप्ति का लाभ ही क्या हुआ ? परमात्मा तो सदा आनन्दस्वरूप है ही । जीवात्मा ने जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया उसका फल उसने कब और कहां भोगा ? और मरने के बाद नवीन वेदान्तियों के मत में जीवात्मा परमात्मा का अंश होने से परमात्मा में मिल जायेगा, तब मुक्ति के लिए प्रयत्नशील तथा दूसरे जीवों में क्या अन्तर होगा ? अतः जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानना और मोक्ष में जीवात्मा का परमात्मा

में लय होना, ये सब बातें अप्रामाणिक एवं काल्पनिक हैं ।

पुनरपि इस उपाख्यान की स्तुति करते हुए कहते हैं—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्म-संसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ।
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥३।१७॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (प्रयतः[१]) शरीर तथा इन्द्रियों की शुद्धि करके तथा शान्त होकर (इमम्) इस उपर्युक्त (परमम्) अत्युत्तम (गुह्यम्) गोपनीय=अधिकारी पुरुष को देकर संरक्षणीय उपाख्यान को (ब्रह्मसंसदि) ब्रह्मज्ञानियों व ब्रह्म-जिज्ञासुओं की सभा में (वा) अथवा (श्राद्धकाले) श्रद्धा से किए जाने वाले जीवित विद्वानों अतिथियों के सत्कार के समय (श्रावयेत्) सुनाता है (तत्) वह उपदेश (आनन्त्याय) अविच्छिन्न=लगातार मिलने वाले मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए (कल्पते) समर्थ हो जाता है । (तदानन्त्याय कल्पते) यह पुनरुक्ति पूर्वोक्त बात की दृढ़ता तथा इस वल्ली की समाप्ति की सूचना के लिए है ।

भावार्थ—निरुक्त में लिखा है कि—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम् ।' (निरुक्त २।४) अर्थात् विद्या ब्राह्मण के पास आकर कहने लगी कि हे ब्राह्मण ! तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरा खजाना हूं । तू असूयक, कुटिल तथा अजितेन्द्रिय विद्यार्थी को मुझे न देना । अर्थात् योग्य विद्यार्थी को देने से मैं शक्तिसम्पन्न होती हूं । इससे स्पष्ट है कि योग्य शिष्य को ही दी गई विद्या सदा सफल होती है और बढ़ती है इसी प्रकार यहां उपनिषत्कार ने भी इस अध्यात्म विद्या की योग्यता का यहां स्पष्ट निर्देश किया है कि जो शिष्य ब्रह्मविद्या जानने की इच्छा रखता हो, श्रद्धावान् हो तथा प्रयत्न अर्थात् संयम करके ग्रहण करना चाहता हो तो उसे सुनाने वालों को सफलता होती है । और ब्रह्मज्ञानियों के मध्य सुनाने से सत्यासत्य का निर्णय होने से अज्ञान दूर होने से मुक्ति का अधिकारी भी बन जाता है इस अध्यात्मविद्या का उपदेश अयोग्य को नहीं करना चाहिए इसलिए इसे 'गुह्यविद्या' कहते हैं ।

इति कठोपनिषद्भाष्ये तृतीया वल्ली समाप्ता ।

---

१. प्रयतः=प्रोपसृष्टाद् यती प्रयत्ने (भ्वा०) धातो रूपम् । प्रयतः=प्रयत्नेन साधित इत्यर्थः । महर्षिकृतोऽर्थः—प्रयत्नेन साधितानि ॥ (यजु० १९।५९)

अथ कठोपनिषद्भाष्ये चतुर्थी वल्ली

तृतीय-वल्ली में कहा गया है कि परमात्मा का ज्ञान सूक्ष्मबुद्धि से होता है । अब यहां सूक्ष्म-बुद्धि बनाने के उपाय का कथन करते हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षतावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥४।१

***पदार्थ*—**(स्वयम्भूः[1]) उत्पत्ति-विनाशरहित परमात्मा ने (खानि) इन्द्रियों को (पराञ्चि) बहिर्मुख बाह्य शब्दादि विषयों की ओर जाने वाली (व्यतृणत्[2]) विशेष रूप से बनाया है । (तस्मात्) इस कारण से मनुष्य (पराङ्) बाह्य विषयों को (पश्यति) इन्द्रियों से देखता=जान पाता है, किन्तु (न, अन्तरात्मन्[3]) अन्तरात्मा=परमात्मा को नहीं जान सकता । (कश्चित्) कोई (धीरः) विवेकशीलपुरुष (आवृत्तचक्षुः) चक्षु आदि इन्द्रियों को ढककर=बाह्यविषयों से पृथक् करके (अमृतत्वम्) मोक्षपद की (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (प्रत्यगात्मानम्) प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में व्याप्त परमात्मा का (ऐक्षत्) साक्षात्कार करता है अर्थात् जान पाता है। (यहां लट् अर्थ में लङ् का प्रयोग है) ।

***भावार्थ*—**स्वयम्भू परमात्मा ने शरीरस्थ बाह्येन्द्रियों की रचना रूपादि बाह्यविषयों के ग्रहण करने के लिए ही की है । अतः वे बाह्यविषयों का ग्रहण करती हैं । जब तक जीवात्मा इन बाह्येन्द्रियों के विषय में फंसा रहता है, तब तक वह परमात्मा को नहीं जान सकता । इसलिए मुमुक्षुजनों को 'आवृत्तचक्षुः=बाह्यविषयों से निवृत्त होना ही

---

१. स्वयम्भूः=निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः परमात्मा । (ऋ० भू० ३६) (यजु० ४०।८ महर्षिभाष्ये) । यः स्वयं भवति स स्वयम्भूरीश्वरः' जो आप से आप ही है । किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है । इस से उस परमात्मा का नाम स्वयम्भू है । (स०प्र० प्र० समु०)

२. धातूनामनेकार्थकत्वादत्र तृद्धातोर्निर्माणार्थे प्रयोगः ।

३. यहां 'अन्तरात्मन्' पद परमात्मा के लिए ही आया है । 'यस्यात्मा शरीरम्' (बृहदा०) इस प्रमाण से परमात्मा हमारी आत्माओं में भी व्याप्त है, अतः अन्तरात्मा कहा जाता है ।

पड़ेगा। इस ब्रह्मविद्या के रहस्य को न समझकर अज्ञानी पुरुष बाह्य मूर्ति आदि में परमेश्वर की उपासना के नाम पर भटकते रहते हैं । परन्तु वह परमेश्वर इन इन्द्रियों का विषय ही नहीं है । अतः मोक्षार्थी को प्रज्ञाचक्षु होकर अन्तःकरण (मन) की वृत्तियों को भी निरोध कर परमेश्वर के ध्यान में लगाना चाहिए । जो पुरुष इन लौकिक विषयों से अपने आपको बचा लेता है वही यथार्थ में धीर-पुरुष है । 'को हि शूरः ? विजितेन्द्रियः' भर्तृहरि महाराज ने भी जितेन्द्रिय पुरुष को ही शूरवीर कहा है । बाह्य-विषयों में आसक्त रहना और योगसाधना करना दोनों परस्पर विरोधी मार्ग हैं । विषयों में आसक्त होकर अपने को जो योगी बताता है, वह योगी नहीं, ढोंगी है ।

समीक्षा—इस श्लोक में स्पष्ट रूप से द्रष्टा-दृश्य तथा व्यापक-व्याप्य के भेद से जीव-ब्रह्म का भेद दिखाया है । परमात्मा जीवात्माओं के अन्दर भी व्यापक है, अतः उसे यहां 'अन्तरात्मा' कहा है । परन्तु ऐसा मानने से स्वामी शङ्कराचार्य के मत का खण्डन होता है, अतः उन्होंने इसका अर्थ यह किया है—तं प्रत्यगात्मानं=स्वं स्वभावम् ऐक्षदपश्यत् पश्यतीत्यर्थः ।' अर्थात् कोई धीर योगी अपने स्वभाव को देखता है । यह कितनी असङ्गत तथा मिथ्या व्याख्या उन्होंने की है, यह विद्वान् पुरुष ही जान सकते हैं । क्या अपने स्वभाव को ही जानने के लिए कठोर तपस्या व योग-साधना का अभ्यास किया जाता है ? और जो जिसका स्वभाव है, उसे तो स्वयं की बात ही क्या, दूसरे मनुष्य भी जान लेते हैं । अपने स्वभाव को जानने के लिए बाह्यविषयों से इन्द्रियों को रोकनादि साधना करने की क्या आवश्यकता है ? इसके आगे वे लिखते हैं—'अमृतत्वमिच्छन्=अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मनः ।' अर्थात् योगी आत्मा के नित्य स्वभाव को चाहता हुआ अपने स्वभाव को देखता है । यहां भी पूर्वाग्रह वश ही यह व्याख्या की है । जीवात्मा नित्य व अमरणधर्मा है, इनकी इच्छा करने की जीवात्मा को क्या आवश्यकता है ? यह व्याख्या मूल उपनिषत् से भी विरुद्ध है । उपनिषद् में 'अमृतम्' पद मोक्ष के लिए आया है । जन्म-मरण के दुःखों से सन्तप्त जीवात्मा दुःखों से छूटकर अमृत=मोक्ष को चाहता है, अपने स्वभाव को जानना नहीं ।

अब धीर और अधीर पुरुष के भेद का कथन करते हैं—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥४।२॥

***पदार्थ*—**(बालाः[1]) जो अज्ञानी पुरुष (पराचः) बाह्यविषयों की (कामान्) इच्छाओं के (अनुयन्ति) पीछे भागते हैं (ते) वे अज्ञानी पुरुष (विततस्य) विस्तृत अर्थात् प्राणिमात्र में अधिकता से फैले हुए (मृत्योः) मृत्यु=दुःख के (पाशम्) जन्म-मरण रूप बन्धन को (यन्ति) प्राप्त होते हैं । (अथ) और (धीराः) जो विवेकशील ज्ञानी पुरुष हैं (ध्रुवम्) नित्य (अमृतत्वम्) दुःखरहित मोक्ष सुख को (विदित्वा) जानकर (इह) इस लोक में (अध्रुवेषु) अनित्य पदार्थों के नश्वर सुख की (न, प्रार्थयन्ते) इच्छा नहीं करते ।

***भावार्थ*—**इस श्लोक में सांसारिक तथा मोक्ष-सुख में क्या अन्तर है, यह स्पष्ट करते हुए लिखा है कि लौकिक सुख अध्रुव= क्षणिक होता है और परिणाम में दुःख देने वाला होता है । किन्तु मोक्ष-सुख ध्रुव=निश्चल और परिणाम में अमृत-तुल्य होता है । जैसा कि गीता में कहा है—यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' । अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए प्रथम जो साधन किए जाते हैं, वे विषतुल्य दुःखद प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका फल अमृत होता है । इस रहस्य को न जानकर बालबुद्धि=अज्ञानी बाह्यविषयों में ही आसक्त रहकर मृत्यु के पाश=जन्म-मरण के बन्धन से नहीं छूट पाते हैं और जो धीर=विवेकी हैं, वे परिणाम को जानकर ध्रुव=मोक्ष सुख की ही कामना करते हैं । और पुत्र, धन तथा लोक की समस्त एषणाओं का परित्याग कर देते हैं।

समीक्षा—यहां मोक्षसुख को ध्रुव तथा लौकिक-सुख को क्षणिक होने से 'अध्रुव' कहा गया है । यहां पर स्वामी शङ्कराचार्य ने लिखा है—

'देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवम्, इदं तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं ध्रुवम् ।" अर्थात् स्वर्गस्थ देवों को जो अमृत=सुख प्राप्त है, वह अध्रुव है और व्यापक परमात्मा के स्वरूप को जानने से जो मोक्ष मिलता है वह ध्रुव है । यहां 'अध्रुव' की व्याख्या उन्होंने काल्पनिक ही की है । क्योंकि देवों का कोई 'स्वर्ग' नामक स्थान का मानना ही कल्पनापूर्ण है, यथार्थ नहीं और पृथिवी पर रहनेवाले मुमुक्षुजन उस दूरस्थ स्वर्गस्थ-सुख को

---

१. अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः । (मनु०)

कैसे जान सकते हैं कि वह अध्रुव है ? और उसके गुण-दोषों को विना जाने मनुष्यों को उसके विषय में जानकारी का ही सम्भव नहीं है । और यहां ध्रुव तथा अध्रुव दोनों सुखों को शङ्कराचार्य ने 'अमृत' मानकर भी भ्रान्ति की है । क्योंकि मोक्ष-सुख अमृत=अविनश्वर होने से ही ध्रुव कहाता है । और जो नष्ट होने वाला या क्षणिक सुख है, उसे अमृत= अविनश्वर कहना परस्पर विरुद्ध होने से मिथ्या है ।

अब नचिकेता के प्रष्टव्य-प्रश्न अर्थात् मरने के बाद आत्मा है या नहीं, जीवात्मा का स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर देते हुए यमाचार्य कहते हैं—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥४।३॥

पदार्थ—(येन) जिस (एतेन) इस शरीरस्थ जीवात्मा के रहने से (एव) ही (रूपम्) रूप (रसम्) रस (गन्धम्) गन्ध (शब्दान्) शब्दों (स्पर्शान्) स्पर्शों (च) और (मैथुनान्) मैथुन से होने वाले विषय-सुखों को (विजानाति) जाना जाता है (अत्र) इस शरीर में मरने के बाद (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है ? अर्थात् जीव के शरीर से निकलने पर कुछ नहीं रहता (एतत्) यह शरीर से वियुक्त होने वाला ही (वै) निश्चय करके (तत्) वह जीवात्मा है, जिसके विषय में हे नचिकेता ! तुमने पूछा है ।

भावार्थ—इस शरीर रूपी रथ का स्वामी जीवात्मा है, यह कठो० में तृतीयावल्ली में रथ के रूपक से समझाया गया है । अन्वय[१]-व्यतिरेकन्याय से शरीरस्थ समस्त क्रियाओं का कर्त्ता जीवात्मा है । क्योंकि मरने के पश्चात् इस शरीर में कोई क्रिया नहीं देखी जाती । अतः स्पष्ट है कि इन क्रियाओं का जो कर्त्ता=जीवात्मा था, वह शरीर से अब पृथक् हो गया है । और यह जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस शरीर में जिसके रहते हुए हम रूप, रस, गन्ध शब्द, स्पर्श इन विषयों तथा मैथुनजन्य सुखों का ज्ञान करते हैं, और जीवात्मा के वियोग होने पर आंख देखती नहीं, कान सुनता नहीं, नासिका गन्ध ग्रहण नहीं

१. तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः ।। अर्थात् जिसके होने से हो, और न होने से न हो वह उसी का कार्य कहलाता है । इसी का नाम अन्वयव्यतिरेक न्याय है ।

करती, रसना स्वाद नहीं ले सकती तथा स्पर्शेन्द्रिय स्पर्शजन्य सुखों को नहीं प्राप्त करती अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहता । अतः जो चेतनशक्ति इस भौतिक शरीर में रूपादि विषयों का अनुभव कर रही थी, वही जीवात्मा है, और वह शरीरेन्द्रियादिसङ्घात से पृथक् चेतनसत्ता है । यहां जीवात्मा के स्वरूप का भी स्पष्ट निर्देश किया गया है कि वह सत् और चित् है। शरीर से वियोग होने पर भी विद्यमान रहने से वह सत् और इच्छादि गुणों वाला होने से वह चित् है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—'यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किञ्चित् परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः।' अर्थात् जिस आत्मा के लिए न जानने योग्य कुछ भी नहीं है, वह आत्मा सर्वज्ञ है । यह व्याख्या प्रस्तुत प्रकरण से विरुद्ध होने से मिथ्या है । इस श्लोक में रूपादि विषयों को ग्रहण करने वाले जीवात्मा का वर्णन है, परमात्मा का नहीं । क्योंकि रूपादि का ग्रहण जीव करता है, परमात्मा नहीं और वह जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं है । जीवात्मा अल्पज्ञ तथा परमात्मा सर्वज्ञ है, इस रहस्य को न समझकर जीवात्मा के गुणों को परमात्मा में समावेश करना और परमात्मा के गुणों का जीवात्मा में समावेश करना, दोनों के स्वरूप को नहीं समझना है ।

परमात्मा जीवात्मा के समस्त कार्यों का साक्षी है । अतः उसको जानकर ही दुःखों से निवृत्ति होती है । यह कथन करते हैं—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४।४॥

पदार्थ—(स्वप्नान्तम्) स्वप्न=सोने की समाप्ति के समय अर्थात् दिन भर (च) और (जागरितान्तम्) जागने के अन्त में अर्थात् सारी रात (उभौ) दोनों सोने व जागने के समय के कार्यों को (येन) जिस जीवात्मा के साथ (अनुपश्यति) जो परमात्मा साक्षीभाव से देखता रहता है, उस (महान्तम्) सर्वोत्कृष्ट (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकशील विद्वान् पुरुष (न शोचति) शोक=सन्ताप नहीं करता ।

भावार्थ—परमात्मा जीवों के कर्मों का साक्षी है, अतः उसको 'मनीषी' कहते हैं वह जीवों के शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक सभी प्रकार के कर्मों के फल देता है । स्वप्नावस्था में जब शरीर की चेष्टाएं

नहीं होतीं, उस समय भी मन का व्यापार नहीं रुकता । परमात्मा जागृतावस्था के कर्मों की भांति स्वप्नावस्था के मानसिक कर्मों का भी साक्षी है और उन शुभाशुभ कर्मों के फलों का देने वाला है । ऐसे आत्मा में भी व्यापक देव से छिपकर जीव कोई भी चेष्टा नहीं कर सकता । अतः जो विद्वान् परमात्मा की इस व्यापक व्यवस्था को समझ लेता है, वह कभी भी दुष्कर्मों में रत नहीं होता । और वह धीर=विवेकशील विद्वान् शोकादि दुःखों से बच जाता है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कर लिखते हैं—'तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वाऽवगम्यात्मभावेन साक्षादहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति ।' अर्थात् धीर पुरुष उस महान् व्यापक परमात्मा को जानकर साक्षात् मैं परमात्मा हूं यह समझकर शोक नहीं करता । यह उनकी व्याख्या मूल श्लोक से विरुद्ध तथा पूर्वाग्रह वश मिथ्या की गई है । 'मैं साक्षात् परमात्मा हूं' ऐसा भाव श्लोक के किसी पद से नहीं निकल रहा है । प्रत्युत ज्ञाता-ज्ञेय के भेद से जीव ब्रह्म का भेद तो स्पष्ट रूप से कहा गया है ।

अब परमात्म-ज्ञान का प्रकारान्तर से फल-कथन करते हैं—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥४।५॥

पदार्थ—(यः) जो परमात्मा (इमम्) इस (मध्वदम्[१]) कर्म-फलों के भोगने वाले (जीवम्[२], आत्मानम्) प्राणों को धारण करने वाले जीवात्मा के (अन्तिकात्) अतिशय व्यापक होने से समीपवर्ती है, उस (भूत-भव्यस्य) भूतकाल तथा भविष्यत् काल में होने वाले जगत् के (ईशानम्) अधिष्ठाता व नियन्ता परमात्मा को (वेद) जो जानता है, वह विद्वान् (ततः) उस परमात्मा को जानने के बाद (न विजुगुप्सते) शोकादि से दूर होने के कारण निन्दा को प्राप्त नहीं होता अथवा वह फिर सांसारिक विषय-सुखों में नहीं फंसता है । (एतत्) यह परमात्मा (वै) निश्चय करके (तत्) वह तत्त्व है, जिसे हे नचिकेता ! तुम जानना चाहते हो ।

---

१. मध्वदम्=मधु=कर्म उपासनं विज्ञानं वा (यजु० ३७।१३ महर्षि-दयानन्दभाष्ये) मधु=कर्मफलम् अत्ति=भुङ्क्ते यस्तं जीवात्मानम् ।।

२. जीवम्='जीव प्राणधारणे' धातो रूपम् ।

भावार्थ—जीव-ब्रह्म की भिन्नता का वर्णन करते हुए इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा है कि जीवात्मा मध्वदम्=अपने कर्मों के फलों का भोक्ता है और परमात्मा कर्म-फल को देने वाला, जीवात्मा के अत्यन्त समीप तथा सब जगत् का नियन्ता है । अत: साक्षी भोक्ता तथा व्यापक-व्याप्य के भेद से ब्रह्म व जीव भिन्न-भिन्न हैं । जो विद्वान् ब्रह्म के इस सूक्ष्मतम स्वरूप को समझ लेता है, उसको किसी प्रकार का संशय नहीं रहता । अत: वह अज्ञान-मुक्त कार्यों को करने से सर्वत्र प्रशंसा को ही प्राप्त होता है, निन्दा को नहीं ।

और यहां जीवात्मा को मध्वदम्=मधु कर्मफल का भोक्ता कहा है। मधु की व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—ओषधीनां वाऽएष परमो रसो यन्मधु । (श० ११।५।४।१८) अर्थात् ओषधियों के रस को 'मधु' कहते हैं । ओषधियों के रस के सदृश कर्मफल को यहां 'मधु' शब्द से कहा गया है । क्योंकि दोनों का भोग किया जाता है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं—

किञ्च य: कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारम् आत्मानं वेद विजानात्यन्तिकादन्तिके समीप ईशानमीशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य, ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुमिच्छति ।' अर्थात् जो कोई इस कर्मों के फलों के भोक्ता जीवात्मा को, जो प्राणादि को धारण करने वाला है, समीपता से जानता है, और भूत-भविष्यदादि तीनों कालों में शासन करने वाला है या स्वामी है, उसको जानने के पश्चात् अपने आत्मा को छिपाने की इच्छा नहीं करता । स्वामी-शङ्कर की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि जीवात्मा कर्म-फल का भोक्ता है और परमात्मा उसके कर्मों को सर्वज्ञता से जान लेता है । भोक्ता नहीं तथा वह तीनों कालों का स्वामी है । इससे जीव-ब्रह्म के भेद का स्पष्ट बोध हो रहा है । जीवात्मा कर्मफल भोक्ता है और परमात्मा व्यापक भाव से उसके समीप रहकर जीवात्मा के कर्मों को जान कर कर्मों का फल देता है । अत: भोक्ता-साक्षी ज्ञाता-ज्ञेय तथा व्यापक-व्याप्य के भेद से जीव-ब्रह्म दो भिन्न-भिन्न सत्ताएं हैं । वेद में इसी सिद्धान्त का स्पष्ट वर्णन करते हुए लिखा है—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरा बभूव ॥

अर्थात् हे मनुष्यो ! तुम उस परमात्मा को नहीं जानते, जिसने इस

सृष्टि के समस्त पदार्थों को बनाया है । वह तुम्हारे से भिन्न होकर भी तुम्हारे अन्दर व्यापक हो रहा है ।

इस श्लोक की व्याख्या में 'विजुगुप्सते' क्रिया का अर्थ शाङ्करभाष्य में असङ्गत किया है । 'परब्रह्म को जानने वाला अपने आत्मा को छिपाना नहीं चाहता ।' इस अर्थ से यद्यपि शङ्कराचार्य जीव-ब्रह्म को एक बताने का यत्न कर रहे हैं, किन्तु इस पद (विजुगुप्सते) में इच्छार्थ में सन् प्रत्यय नहीं है । यहां व्याकरण के अनुसार निन्दा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होता है। शाङ्कर-भाष्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है ।

अब फिर प्रकारान्तर से परब्रह्म का वर्णन करते हैं-

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥ एतद्वै तत् ॥४।६॥

***पदार्थ*—**(यः) जो परमात्मा (अद्भ्यः[१]) सृष्टि-रचना से पूर्व जो पञ्चभूतों के सूक्ष्म परमाणुओं में सर्वप्रथम एक व्यापक हलचल पैदा होती है, उस अप् तत्त्व से (पूर्वम्) पहले (अजायत[२]) प्रसिद्ध था और (तपसः[३]) अनन्त सामर्थ्य से उत्पन्न जगत् से (पूर्वम्) पहले (जातम्) प्रसिद्ध था और (यः) जो विद्वान् पुरुष (गुहाम्) सब जीवों की हृदयरूप गुफा में (प्रविश्य) प्रवेश करके (तिष्ठन्तम्) स्थित उस परमात्मा को (भूतेभिः) पञ्चभूतमय इस संसार के साथ व्याप्त (व्यपश्यत) विशेषरूप से देखता है=जानता है (एतत्) यह परमात्मा (वै) निश्चय से (तत्) वह तत्त्व है, जिसे हे नचिकेता ! जानना चाहते हो ।

***भावार्थ*—**परमात्मा के अविनश्वर-स्वरूप तथा उसकी व्यापकता का वर्णन करते हुए इस श्लोक में कहा है कि वह परमात्मा प्रलय में जब कि सब कार्य पदार्थ अपने-अपने कारणों में लीन हो जाते हैं उस समय में भी विद्यमान रहता है । सृष्टि की रचना के प्रारम्भ में जो प्रकृति में सर्वप्रथम गति होती है, उसका कर्त्ता भी वही ईश्वर है और जो चेतन

---

१. देखिए मनुस्मृति में -"अप एव ससर्जादौ" (मनु० १।८) अर्थात् परमात्मा ने सब से पहले 'अप्' तत्त्व को उत्पन्न किया ।

२. वेद में कहा है-हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।। (यजु०)

३. 'तपसः=अनन्तसामर्थ्यात्' (पञ्चमहायज्ञविधौ-'ऋतं च सत्यं चे' ति मन्त्रभाष्ये महर्षिदयानन्दकृते)

जीवात्मा के शरीरस्थ निवास-स्थान हृदय में भी व्यापक भाव से स्थित है उस सृष्टिकर्त्ता परमात्मा को विद्वान् पुरुष अपने अन्दर तथा बाहर सर्वत्र व्यापक जानते हैं ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—'यः कश्चिन् मुमुक्षुः पूर्वं तपसो ज्ञानादिलक्षणब्रह्मण इत्येतत् जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम् ।" यहां ब्रह्म की भी उत्पत्ति तथा उसका विकार मानकर शङ्कराचार्य ने भ्रान्त व्याख्या की है क्योंकि ब्रह्म अज-अजन्मा, सनातन तथा अविकारी सत्ता है । अथवा उनका यह आशय है कि ब्रह्म उत्पन्न नहीं, हुआ अपितु हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई तो भी ठीक नहीं है । यह 'हिरण्यगर्भ' क्या ब्रह्म से भिन्न है ? भिन्न मानने पर अद्वैतवाद की प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी और मूल श्लोक से भी विरोध होता है । श्लोक में कहा है वह सब हृदयरूप गुफाओं में भी प्रविष्ट है और प्रकरण ब्रह्म का है । यह हृदयों में व्यापक ब्रह्म ही है, हिरण्यगर्भादि नहीं । अतः उनकी व्याख्या मिथ्या है ।

अब परब्रह्म देवता की प्राप्ति का उपाय वर्णन करते हैं—

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं यो भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥४।७॥

पदार्थ—(या) जो (अदितिः) अखण्डिता=कभी नष्ट न होने वाली (देवतामयी[१]) दिव्यसुखप्रद उपासनीय परमात्मदेवता है, वह (प्राणेन[२]) प्राणायाम के द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होने से (सम्भवति) हृदयाकाश में प्रकट होती है और (यः) जो विद्वान् (गुहाम्) हृदयाकाश में (प्रविश्य) प्रवेश करके (तिष्ठन्तीम्) स्थित उस देवता को (भूतेभिः) पञ्चमहाभूतों की रचना से (व्यजायत) विशेष रूप से प्रकट करता है। अर्थात् जाना जाता है (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह ब्रह्मतत्त्व

---

१. देवतामयी=देव एवं देवता । देव शब्दात् स्वार्थे तल् प्रत्ययः । ततः प्रकृतवचने=प्राचुर्येण प्रस्तुतेऽर्थे मयट् । स्त्रियां ङीप् ।

२. प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष क्षीण हो जाते हैं, इस विषय में मनु जी का प्रमाण—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ (मनुस्मृतिः)
ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ (योग० २।५२)

है, जिसे हे नचिकेता ! तुम जानना चाहते हो ।

भावार्थ—जब परमात्मा जीवों के अन्दर भी विद्यमान है तो वह क्यों नहीं देखा व जाना जाता है ? उसका उत्तर देते हुए यहां स्पष्ट कहा है कि जीवों का अन्त:करण जब तक मलीन है तब तक विवेकख्याति के न होने से परमात्मा का ज्ञान कदापि सम्भव नहीं है । अत: बाह्येन्द्रियों के भी सुसारथी रूप मन का संयम तथा उसमें स्थित वासनाओं का दग्ध करना परमावश्यक है । और यह कार्य प्राणायाम-विद्या से सम्भव है । प्राणायाम करने से अन्दर तथा बाह्य समस्त इन्द्रियों के मल नष्ट होने से शुद्धि होती है और विवेकख्याति की प्राप्ति होती है । उस समय अदिति=कभी नष्ट न होने वाली उपासनीय परमात्म-देवता का हृदय में आविर्भाव होता है । ऐसे अपने आत्मा में भी व्यापक परमात्म-तत्त्व को विवेकी विद्वान्-पुरुष ही जान सकते हैं ।

समीक्षा—इसकी व्याख्या में स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—'या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद् ब्रह्मण: सम्भवति......गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम् ।' यहां भी ब्रह्म से उत्पन्न तथा भिन्न हिरण्यगर्भ को हृदयरूप गुफा में स्थित स्वीकार किया है । यह भी ब्रह्म का प्रकरण होने से शाङ्करभाष्य की भ्रान्त व्याख्या है । जिसको यहां अदिति=कभी नष्ट न होने वाली तथा हृदयों में व्यापक कहा है वह ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरी सत्ता नहीं हो सकती । और उन्होंने यहां यह भी नहीं विचार किया कि जो हिरण्यगर्भरूप देवता पैदा हो रही है, वह अदिति=अविनाशिनी कैसे हो सकती है ? यहां शङ्करस्वामी ने 'प्राणेन सम्भवति' शब्दों के अर्थों पर भी ध्यान नहीं दिया । पाठक इसकी सुसङ्गत व्याख्या पदार्थ में देखें ।

अब परब्रह्म के व्यापक रूप को बताकर उसी को उपासनीय देव कथन करते हैं—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभि: ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि: ॥
एतद्वै तत् ॥४।८॥

पदार्थ—(अरण्यो:[१]) दो अरणी=लकड़ियों में (निहित:) व्याप्त

१. अरणी=काष्ठविशेषौ (ऋ० ५।९।३ महर्षिभाष्ये)। अरण्यो:= उपर्यध:स्थयो: साधनयो:। (ऋ० ३।२९।२। महर्षिभाष्ये) ।

(जातवेदा:, इव) भौतिक अग्नि के समान (जागृवद्भि:[१]) अविद्या-निद्रा को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, ऐसे प्रमाद रहित सात्त्विक (हविष्मद्भि:[२]) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यासादि करनेवाले (मनुष्येभि:) विवेकी मनुष्यों से (जातवेदा:[३]) वेदरूप ज्ञान जिससे प्रकट हुआ है, वह (अग्नि:[४]) परमात्मा (गर्भिणीभि:) गर्भिणी स्त्रियों के (सुभृत:) सुष्ठुतया धारण किए (गर्भ:, इव) गर्भ के समान धारण करने योग्य और (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ईड्य:) स्तुति करने योग्य है । (एतत् यह ही) (वै) निश्चय से (तत्) वह ब्रह्मतत्त्व, है जिसे हे नचिकेता ! तुम जानना चाहते हो ।

भावार्थ—वह परमात्मा लकड़ियों में व्याप्त भौतिकाग्नि के समान व्यापक है । किन्तु जैसे काष्ठ=लकड़ियों के मन्थन के विना भौतिकाग्नि प्रकट नहीं हो सकती, वैसे ही वह व्यापक परमात्मा योगाङ्गों के अनुष्ठान के विना नहीं जाना जा सकता । और जैसे गर्भाशय में स्थित गर्भ का स्त्रियां विशेष यत्न से मन लगाकर धारण-पोषण करती हैं, वैसे ही परमात्मा का संयमी मन से प्रतिदिन तथा प्रतिक्षण अच्छी प्रकार ध्यान से धारण करना होता है । उस परमात्मा की सतत जागरूक होकर तथा सात्त्विक बुद्धि से अनवरत उपासनादि के द्वारा ही प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं । और अग्नि एक सर्वप्रकाशक परमात्मदेव की ही सब मनुष्यों को उपासना करनी चाहिए ।

अब परमात्मा के सर्वनियन्ता रूप का कथन करते हैं—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥४।९॥

---

१. 'जागृ निद्राक्षये' धातोर्लिट: स्थाने क्वसौ रूपम् । जागृवद्भि:= अविद्यानिद्रात उत्त्थातृभि: (योगिभि:) । ऋ० ७।५।१ महर्षिभाष्ये)

२. हविष्मत्=हवि शब्दान् मतुप् । हविश्च 'हु दानादानयोर्धातो' रूपम् । 'हविषा=ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अति प्रेम से ।' (सं० वि० य० १३।४ मन्त्रभाष्ये)

३. जाता वेदा यस्माद् (वैश्वानर=जगदीश्वर) ऋ० १।५९।५ महर्षिभाष्ये) जातानि वेद, जातानि वैनं विदु:, जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधन:, जातविद्यो वा जातप्रज्ञान:। (निरु० ७।१९)

४. अग्निरत्र परमेश्वर उपासनाविषयत्वात् । प्रमाणञ्चात्रेदम्—तदेवाग्निस्तदादित्य:। (य० ३२।१)
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु:० ।। (ऋ० १।१६४।४६)

पदार्थ—(सूर्यः) यह भौतिक सूर्य (यतः) जिस ईश्वर के नियम अथवा जिसके दिये प्रकाश से (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र) जिसमें प्रलयावसर पर (अस्तम्) लीन भाव को (गच्छति) प्राप्त हो जाता है, (तम्) उस परमेश्वर को (सर्वे, देवाः) सभी सूर्यादि देव तथा विद्वान् मनुष्य (अर्पिताः[१]) प्राप्त हैं अर्थात् उस के आश्रय से ही स्थित हैं (उ) और (तत्) उस ब्रह्म के नियम का कश्चन) कोई जड़ या चेतन देव (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं करता (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह ब्रह्म है, जिसे हे नचिकेता ! तुम जानना चाहते हो ।

भावार्थ—वह परमेश्वर सब जगत् का नियन्ता है । सूर्याचन्द्र-मसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।' (ऋग्वेद) के अनुसार वह ही सूर्यादि को बनाने वाला तथा धारण करने वाला है । 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः' ।। (यजु० ३२।६) अर्थात् उस परमात्मा ने तीक्ष्ण स्वभाव वाले सूर्य आदि तथा पृथिवी को धारण कर रक्खा है । और आकाश में वही इन लोक-लोकान्तरों को अपनी-अपनी परिधि में भ्रमण करा रहा है । उसी के नियम तथा प्रकाश से यह सूर्य उदय होता है और प्रलय के समय में अपने कारण में लीन होता है । ये सूर्यादि जड़ देव तथा विद्वान् आदि चेतन देव सभी उस परमात्मा के आश्रय से हैं[२] । उसके आश्रय के विना किसी देव की सत्ता नहीं है और न ही इन देवों में ऐसा सामर्थ्य ही है, जो उस महादेव के शासन का कोई उल्लङ्घन कर सके । ऐसे चराचर जगत् के नियन्ता परमात्मा को वैज्ञानिक विद्वान् पुरुष ही जान सकते हैं ।

समीक्षा—यहां शाङ्कर-भाष्य में व्याख्या इस प्रकार की है—यतश्च यस्मात् प्राणाद् उदेत्युत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति, तं प्राणमात्मानं देवाः सर्वे अग्न्यादयोऽर्पिताः—सोऽपि ब्रह्मैव ।।" अर्थात् जिस प्राण से सूर्य निकलता है और जिसमें प्रतिदिन अस्त होता है, उस में ही सब अग्नि आदि देव अर्पित हैं, वह भी ब्रह्म ही है । यहां प्राण से सूर्योत्पत्ति, प्राण में सूर्यास्त होना तथा प्राण को ही ब्रह्म मानना आदि भ्रान्त व्याख्या है । क्योंकि ब्रह्म का प्रकरण होने से

---

१. अर्पिताः='ऋ गतौ' धातोः स्वार्थे णिचि निष्ठायां रूपम् ।
२. कठो० (५।१५) में इसको और स्पष्ट करके कहा है—
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

सूर्यादि का नियन्ता भी ब्रह्म ही है । श्लोक में प्राणादि शब्दों के न होने पर भी उनकी कल्पना करना ठीक नहीं है ।

अब उस परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करते हैं–

यद् एवेह तद् अमुत्र यद् अमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥४।१०॥

***पदार्थ*—**(यत्) जो ब्रह्म (इह) इस लोक में है (तत्, एव) वह ही (अमुत्र) परलोक में या जन्मान्तर में धारक, पालक, प्रकाशक तथा नियन्ता है और (यत्) जो ब्रह्म (अमुत्र) परलोक में है (तत्) वह (इह, अनु[१]) इस लोक में भी वैसा ही है । (यः) जो पुरुष (इह) इस ब्रह्म के विषय में (नाना, इव) विभिन्नता की तरह अनेकता (पश्यति) देखता है (सः) वह अज्ञानी होने से (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को अर्थात् बार-बार जन्म-मरण के महा दुःख को (आप्नोति) प्राप्त होता है। महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक को उद्धृत करके निम्नलिखित विचार प्रकट करके ईश्वर की एकता का प्रतिपादन किया है–

(क) "बहुत से आजकल के आर्य तथा यूरोपवासी और अंग्रेज आदि कहते हैं कि प्राचीन आर्य लोग पृथिव्यादि भूतों की पूजा करते थे, बाद में वे परमेश्वर की भी पूजा करने लगे । उनका यह कहना मिथ्या है क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आदि से अब तक इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि शब्दों से परमेश्वर की उपासना करते थे । इसमें अनेक प्रमाण हैं।" (ऋ० भू० ५६ पृ०) (इन प्रमाणों में एक उपर्युक्त श्लोक भी प्रमाण है)

(ख) (मृत्योः स मृत्युम्०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस, जानता है वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है, वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होता है । क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्र स्वरूप ही है...... और व्यापक होने से सब में स्थिर है ।" (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

***भावार्थ*—**वह परमात्मा निर्विकार, नित्य एकरस रहने वाला तथा एक है । जैसे जीवात्मा के अवस्था भेद तथा योनि-भेद से गुण-कर्म व स्वभाव भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे परमात्मा के नहीं । इस लोक तथा परलोक का ब्रह्म एक ही है और वह सब का नियन्ता तथा पालक है।

१. 'अनु' इति सादृश्येऽव्ययम् ।

ब्रह्म के इस सत्य स्वरूप को न समझकर अज्ञानी अथवा मिथ्याज्ञानी साम्प्रदायिक पुरुष उसे भिन्न भिन्न तथा भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहनेवाला कहते हैं । यह उनका भ्रम है । परमात्मा में भिन्नता मानने वाले व्यक्ति सत्य-ज्ञान से बहुत दूर हैं और महा अज्ञान में निमग्न हैं । वे जन्म-मरण के जाल से कदापि छूट नहीं सकते । परमात्मा के एकत्वस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वेद में बहुत ही स्पष्ट कहा है–(क) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।। (यजु०) (ख) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।। (ऋ०) अर्थात् वह परब्रह्म एक ही है । किन्तु गुण-भेद से उसको ही विद्वान् पुरुष इन्द्र, वरुणादि भिन्न-भिन्न नामों से कहते हैं ।

समीक्षा–इसकी व्याख्या में शाङ्कर भाष्य में लिखा है–'यदेवेह कार्यकारणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म ।' अर्थात् जो उपाधि सहित जीवात्मारूप इस शरीर में ब्रह्म है, वही नित्य विज्ञान स्वरूप ब्रह्म है, वह जगत् के सब धर्मों से रहित है । यह उनका कथन प्रसङ्गविरुद्ध है । क्योंकि यदि उपनिषत्कार का यह आशय होता कि जीव ब्रह्म एक ही हैं तो अगले श्लोक में (४।११) यह नहीं कहते कि मन से उसकी प्राप्ति करनी चाहिए । क्योंकि मन से प्राप्ति कहना भी तो भेददर्शन ही है । और (४।१२) में 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' अर्थात् वह ब्रह्म जीवात्मा में भी व्यापक भाव से स्थित है, इस कथन की सङ्गति भी शाङ्कर-भाष्य से नहीं होती । अतः पूर्वाग्रह वश ही उन्होंने यह प्रकरणविरुद्ध व्याख्या की है ।

पुनः परमात्मा की प्राप्ति का उपाय तथा उसके एकत्वदर्शन का प्रतिपादन करते हैं–

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।४।११।।

पदार्थ–(इदम्) यह ब्रह्म (मनसा[१], एव) प्राणायामादि से शुद्ध

---

१. अन्तःकरण का नाम ही मन है । उसकी मनन करना, निश्चय करना, स्मरण करना तथा अहङ्कार करना इन चार वृत्तियों के नाम ही मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार हैं । यहां से 'मनसा' पद का अर्थ सूक्ष्मबुद्धि (ऋतम्भरा प्रज्ञा) अर्थ का ग्रहण करना भी उपयुक्त है । क्योंकि इसी उपनिषद् में अन्यत्र भी यही कहा है–'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया०'। (कठो० ३।१२)

हुए अन्तःकरण से ही (आप्तव्यम्) प्राप्त होने योग्य है (इह) इस ब्रह्म के विषय में (किञ्चन) कुछ भी (नाना) भेद-भाव या विभिन्नता= नानावस्तुओं का मेल (न, अस्ति) नहीं है (यः) जो पुरुष (इह) इस ब्रह्म के विषय में (नाना, इव) अनेकता अथवा नानावस्तुओं का मेल (पश्यति) देखता है=जानता है (सः) वह अज्ञानी पुरुष (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को अर्थात् बार-बार जन्म-मरणरूप महादुःख को (गच्छति) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—परब्रह्म की प्राप्ति का एक ही उपाय है—शुद्ध मन से परब्रह्म का ध्यान करना (योगदर्शन में भी योग की परिभाषा करते हुए लिखा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' अर्थात् मन की वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है । और ध्यान का स्वरूप बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि 'ध्यानं निर्विषयं मनः' अर्थात् मन को सब विषयों से पृथक् करके परमेश्वर के गुण चिन्तन को ही ध्यान कहते हैं । 'तज्जपस्तदर्थभावना।' (योग०) मन की वृत्तियों को रोककर उन्हें परमेश्वर के मुख्य नाम 'ओम्' के जप में लगाना तथा उसके अर्थ का चिन्तन करना ही परमयोग है । अतः मुमुक्षु को मन की शुद्धि तथा संयम के लिए अनवरत प्रयत्न करना चाहिए । जो व्यक्ति परब्रह्म की प्राप्ति या उपासना के नाम पर बाह्य मूर्तिपूजादि में ध्यान का उपदेश करते हैं, उनकी मान्यता उपनिषद् विरुद्ध तथा मिथ्या होने से माननीय नहीं हो सकती ।

और इस श्लोक में यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस जगत् का नियन्ता परमेश्वर एक ही है और वह निर्विकार अखण्डैकरस है । अर्थात् उस परमेश्वर का न तो कोई कारण है और न कोई उसका कार्य है । जैसे यह जगत् प्रकृति का कार्य है, प्रकृति उसका उपादान कारण है, वैसे परमेश्वर किन्हीं वस्तुओं के मेल से नहीं बना है वह एक शाश्वत तथा कूटस्थ चेतन सत्ता है । उस परमेश्वर के विषय में जो विवेकशून्य व्यक्ति अन्यथा जानता है अर्थात् ब्रह्म को एक न मानकर अनेक मानता है और ब्रह्म में अनेक वस्तुओं का मेल समझता है, वह अज्ञानी है और वह मृत्युदुःख से कभी मुक्त नहीं हो सकता ।

महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक के एक अंश की व्याख्या इस प्रकार की है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । (कठोप०)

अर्थ–यह भी उपनिषत् का वचन है । जो यह जगत् है, वह सब निश्चय करके ब्रह्म है । उसमें दूसरे नाना प्रकार के पदार्थ कुछ भी नहीं किन्तु सब ब्रह्मस्वरूप है ।

(उपर्युक्त उपनिषद् का उद्धरण प्रश्न के रूप में है । उसका उत्तर देते हुए स्वामी जी कहते हैं)

क्यों इन वचनों का अनर्थ करते हो क्योंकि उन्हीं उपनिषदों में–

अन्नेन सौम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ अद्भिः सौम्य शुङ्गेन तेजोमूल-मन्विच्छ तेजसा सौम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।। (छान्दोग्य उपनि०)

हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथिवी कार्य से जल रूप मूल कारण को तू जान, कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान । यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति में लीन हो कर वर्तमान था । अभाव न था और जो (सर्वं खलु०) यह वचन ऐसा है जैसा कि "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा" ऐसी लीला का है । क्योंकि–

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । (छान्दोग्य)

और "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" यह कठवल्ली का वचन है–जैसे शरीर के अङ्ग जब तक शरीर के साथ रहते हैं तब तक काम के और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं, वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक और प्रकरण से अलग करने या किसी अन्य के साथ जोड़ने से अनर्थक हो जाते हैं । सुनो ! **इसका अर्थ यह है**–हे जीव ! तू ब्रह्म की उपासना कर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और जीवन होता है जिसके बनाने और धारण करने से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है या ब्रह्म से सहचरित है, उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी । इस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्म स्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है । किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं ।

(सत्यार्थ० १७३, १७४)

अब जीवात्मा के मध्य परमात्मा की व्यापकता और प्राप्तिस्थान का कथन करते हैं–

अङ्गुष्ठमात्रः[1] पुरुषो[2] मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥४।१२॥

***पदार्थ*—**(भूत-भव्यस्य) भूतकाल में और भविष्यत्काल में होने वाले सभी पदार्थों का ईशानः (स्वामी) या अध्यक्ष (अङ्गुष्ठमात्रः) अङ्गुष्ठ मात्र हृदयदेश में प्रापणीय होने से अङ्गुष्ठमात्र (पुरुषः) सब जगत् में व्यापक परमात्मा (आत्मनि) जीवात्मा के (मध्ये) अन्दर (तिष्ठति) अपनी सत्ता से स्थित है (ततः) उसको जानने के बाद (न, विजुगुप्सते) कोई भी पुरुष अज्ञान में ग्रस्त न होने से निन्दित नहीं होता (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह ब्रह्म तत्त्व है, जिसे हे नचिकेता! तुम जानना चाहते हो ।

***भावार्थ*—**इस श्लोक में जीव-ब्रह्म के भेद को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है ब्रह्म को पुरुष तथा आत्मा शब्द से जीवात्मा को पृथक् कहा गया है अर्थात् ब्रह्म अत्यन्त-सूक्ष्म होने से जीवात्मा के अन्दर भी

---

१. अङ्गुष्ठमात्रः=अंगूठे के बराबर हृदयरूप घर में जहां सूक्ष्मशरीर सहित जीवात्मा रहता है, वही ब्रह्मपुर कहाता है । वहीं ध्यान करने से परमेश्वर की प्राप्ति होती है, इसलिए अङ्गुष्ठमात्र स्थान में प्राप्त होने से यहां परमेश्वर को अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है । जैसे—इन्द्रार्था स्थूणा को 'इन्द्र' कहकर भी व्यवहार होता है । (इस पर महर्षि दया० के विचार कठो० ३।१ की व्याख्या पढ़िए ।)

वेद में अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (यजु० ३१।१) दशाङ्गुल शब्द का प्रयोग हृदय के लिए आता है । महर्षि इसकी व्याख्या में लिखते हैं—'दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है । अङ्गुलि शब्द अङ्ग का अवयव वाची है । पांच स्थूलभूत और पांच सूक्ष्मभूत ये दोनों मिलके जगत् के दश अवयव होते हैं तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये चार और दशमा जीव और शरीर में जो हृदय देश है, सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है ।"

(ऋ० भू० सृष्टिविद्या० ९५ पृ०)

२. यहां 'पुरुष' शब्द परमात्मा के लिए प्रयुक्त है । (निरुक्त २।३) के प्रमाणानुसार महर्षि दयानन्द कृत व्याख्या देखिए—पुरि=सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति । (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात् पुरुषः (अन्तरिति) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः ।। (ऋ० भू० ९४)

विद्यमान है । अतः दोनों का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है । और यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, परन्तु उसकी प्राप्ति का एकमात्र स्थान शरीरस्थ हृदयाकाश ही है । इसी में जीवात्मा का निवास है और जहां उपासक तथा उपास्य हों, वहीं दोनों का मेल हो सकता है । बाह्य मूर्तिपूजादि ईश्वरप्राप्ति तथा उपास्य स्थल इसलिए नहीं है क्योंकि उनमें परमेश्वर उपास्य तो है, किन्तु उपासक जीवात्मा नहीं है । इस विषय में उपनिषत् की अन्य साक्षी भी देखिए-

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।। (छान्दोग्योप० प्रपा० ८। मं० १) इसकी व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-'कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ।" (ऋ० भू० उपासनाविषयः)

और परब्रह्म को यहां 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' भी हृदयस्थ अङ्गुष्ठमात्र स्थान में ही वह उपासनीय तथा सुलभ होने से कहा गया है । जैसे तादर्थ्य न्याय से 'इन्द्रार्था स्थूणा' को इन्द्र कहा जाता है । वैसे ही यहां प्रयोग किया गया है । परमेश्वर तो सर्वत्र व्यापक होने से अङ्गुष्ठमात्र कदापि नहीं है और इसी हृदयस्थाकाश में विद्यमान जीवात्मा को परमात्मा अच्छे कामों के लिए प्रोत्साहन देता है और बुरे कामों के लिए सावधान भी करता है । जब कोई पुरुष बुरे कार्य में प्रवृत्त होता है तो उसके हृदय में भय, शङ्का तथा लज्जा पैदा हो जाती है, और अच्छे काम में लगने पर उत्साह तथा हर्ष होता है, यह परमात्मा की प्रेरणा सर्वजन सुलभ होने से प्रत्यक्ष जानने योग्य है । जो मुमुक्षु उस परमेश्वर के इस उपासनीय स्थल को तथा परमेश्वर के सर्वनियन्ता रूप को जानता है, वह दुष्कर्मों से बचने के कारण कहीं भी निन्दित अथवा अपयश का भागी नहीं होता ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य लिखते

हैं–अन्तःकरणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति' अर्थात् अन्तःकरण उपाधि से युक्त पुरुष शरीर के मध्य स्थित है । यहां उनका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म ही सोपाधिक होकर जीव रूप में शरीर में स्थित है । यह उनकी व्याख्या मूल श्लोक से विरुद्ध होने से मिथ्या है । इसमें परमात्मा का ही वर्णन है, क्योंकि वह ही सर्वत्र पूर्ण होने से पुरुष और भूत-भविष्यत् का स्वामी है, जीवात्मा नहीं । व्यापक परमात्मा को अङ्गुष्ठमात्र कहने का अभिप्राय भावार्थ में स्पष्ट कर दिया है । नवीन वेदान्तियों की यह कल्पना मिथ्या है कि ब्रह्म ही सोपाधिक होने से अङ्गुष्ठमात्र और निरुपाधिक रूप से वही ब्रह्म भूत-भव्य का ईश्वर है । शुद्ध ब्रह्म में उपाधि का होना कदापि सम्भव नहीं है और यह उपाधि जिसका मूल उपनिषद् में वर्णन ही नहीं है, क्या वस्तु है ? यदि यह ब्रह्म से भिन्न है तो अद्वैतवाद का खण्डन होता है और यदि उपाधि ब्रह्म के अन्तर्गत अथवा उसी का भाग है तो वह ब्रह्म से कदापि भिन्न नहीं हो सकती । फिर तो शुद्ध ब्रह्म कभी भी नहीं रह सकता । स्वामी शङ्कर की व्याख्या मूलोपनिषद् के विरुद्ध इसलिए भी है कि इससे अगले श्लोक (४।१३) में ब्रह्म को नित्य कूटस्थ कहा है। वह सदा एकरस रहने से ही कूटस्थ कहलाता है । जैसा आज है, वैसा ही कल रहेगा । और आगे ब्रह्म को धूम-रहित ज्योति के समान कहा है । यदि ब्रह्म में उपाधि का योग होता हो तो वह कूटस्थ तथा अधूमक ज्योति कदापि नहीं हो सकता । (४।१३) की व्याख्या में शङ्कर-स्वामी ने ब्रह्म को नित्य कूटस्थ मानकर भी यहां उस की ही सोपाधि-जीवरूप से व्याख्या की है । यह परस्पर विरुद्ध होने से भी प्रमत्त प्रलापवत् है। अतः माननीय नहीं हो सकती ।

अब परमात्मा के शुद्ध स्वरूप तथा जगत् के शाश्वत-शासक स्वरूप का वर्णन करते हैं–

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो[१] ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद्वै तत्॥४।१३

***पदार्थ*—**(अङ्गुष्ठमात्रः) वही अंगूठाभर हृदय देश में प्राप्त होने

१. 'अङ्गुष्ठमात्रः, तथा 'पुरुषः' दोनों पदों की विशेष व्याख्या (कठो० ४।१२ की व्याख्या में) देखिये ।

वाला (पुरुषः) ब्रह्माण्ड, हृदय देश और जीवात्मा में भी व्यापक परमात्मा (भूत-भव्यस्य) भूतकालीन और भविष्यत्कालीन सभी पदार्थों का (ईशानः) स्वामी है और वह (अधूमकः) धूम-रहित होने से स्वच्छ (ज्योतिः इव) ज्योति के समान निर्भ्रान्त ज्ञान-प्रकाशस्वरूप है । (स, एव) वह ही (अद्य) आज जैसा है (सः, उ, श्वः) वह निश्चय से वैसा ही कल रहेगा (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह ब्रह्मतत्त्व है, जिसे हे नचिकेता तुम जानना चाहते हो ।

***भावार्थ*—**इस श्लोक में भी जीवात्मा से ब्रह्म को भिन्न बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि ब्रह्म धूमरहित ज्योति के समान सभी प्रकार की उपाधियों से रहित प्रकाशस्वरूप है । जो नवीन वेदान्ती यह मानते हैं कि जीव-ब्रह्म एक ही हैं । ब्रह्म ही अविद्या की उपाधि के कारण जीव बन जाता है । यह उनकी मान्यता उपनिषत् के सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि जो उपाधियुक्त हो सकता है, वह धूमरहित ज्योति के तुल्य स्वच्छ तथा प्रकाशमान कैसे हो सकता है ? अधूमक-ज्योति के दृष्टान्त से स्पष्ट है कि परब्रह्म तीनों कालों में निरुपाधि ही रहता है । और जैसे लोक में शासक बदलते रहते हैं अथवा निर्बल राजा को पराजित करके बलवान् राजा शासक बन जाता है, वैसा परब्रह्म नहीं है । वह तो भूतकाल में भी सब जगत् का एकमात्र शासक था और भविष्य में भी वही रहेगा । वही ब्रह्म आज शासक है तो कल भी रहेगा । वह ब्रह्म तीनों कालों में एकमात्र तथा एकरस होकर शासन कर रहा है । यदि वह उपाधिवश कभी जीव बन जाए तो अप्रत्यक्ष व एकदेशी होने से उतने काल तक जगत् का शासक न रह सके । अतः नवीन-वेदान्तियों की मान्यता उपनिषत् के सर्वथा विपरीत होने से मिथ्या है ।

समीक्षा—उपनिषत्कार ने यहां ब्रह्म को धूम-रहित ज्योति के समान शुद्ध तथा उपाधिरहित बताया है और यह भी कि वह ब्रह्म नित्य है तथा कूटस्थ=सदा एकरस रहने वाला है । जैसा आज है, वैसा ही कल भी रहेगा । इससे स्पष्ट है कि वह ब्रह्म कभी उपाधि से युक्त नहीं होता। जो उपाधि तथा निरुपाधिरूप होता है, वह कूटस्थ भी नहीं हो सकता। अतः नवीन वेदान्तियों की ब्रह्म को उपाधि तथा निरुपाधि कहने की बात सर्वथा मिथ्या है और उन्होंने अपनी भ्रान्ति से ही ब्रह्म को भी उपाधि की व्याधि से निबद्ध कर अपने अज्ञान को ही प्रकट किया है ।

अब फिर एक परमात्मा के नानात्ववाद में दोष-प्रदर्शन करते हैं-

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥४।१४॥

***पदार्थ*—**(यथा) जिस प्रकार (पर्वतेषु) पर्वतों पर (वृष्टम्) बरसा हुआ, (उदकम्) जल (दुर्गे) दुर्गमनीय स्थान=घाटियों में अथवा विषम=ऊंचे नीचे स्थानों पर (विधावति) विशेष गति से प्रवाहित होता है, (एवम्) इसी प्रकार (धर्मान्) गुणों को (पृथक्) गुणों से भिन्न (पश्यन्) देखता हुआ (तान्, एव) उन गुणों के ही (अनुधावति) पीछे भागता है ।

***भावार्थ*—**धर्म व धर्मी का समवाय (नित्य) सम्बन्ध होता है । नित्य धर्मी के धर्म (गुण) भी नित्य ही होते हैं । जो कोई पुरुष ऐसा कहे कि मैं कुछ भी नहीं करता किन्तु मेरा शरीर ही सब कुछ करता है, उसका यह कथन शास्त्र तथा न्याय के विरुद्ध है । अन्वयव्यतिरेक न्याय से (जिसके होने से हो और न होने से न हो, वह कार्य उसका ही कहलाता है, यही अन्वय व्यतिरेक न्याय है) चेतन के गुण शरीरादि में चेतन के विना नहीं रह सकते । इसलिए धर्मी से धर्मों को पृथक् करके किसी पदार्थ का विवेचन नहीं किया जा सकता । प्रस्तुत प्रकरण में भी-

जो पुरुष परमात्मा के गुणों को परमात्मा से भिन्न मानकर हिरण्यगर्भादि नामों से परमात्मा में अनेकता देखता है, वह नानात्ववादी उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, जैसे पर्वतों पर बरसा जल पृथक्-पृथक् धाराओं में बह जाता है ।

समीक्षा—परब्रह्म के अनन्त गुण होने से अनन्त ही नाम हैं । उसके नामों के आश्रय से एक ही ब्रह्म को जो नाना रूप में देखता है, वह विषम प्रदेशों में बरसे जल की भांति ही प्रवाहित हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण के प्रवाह से नहीं छूटता । श्लोक के इस भाव को न समझकर नवीन वेदान्तियों की यहां यह व्याख्या[1] मिथ्या है कि जो जीव-ब्रह्म को भिन्न-भिन्न मानता है, वह बराबर शरीर-भेदों को ही

---

१. एवं धर्मानात्मनोऽभिन्नान् पृथक् पश्यन् पृथगेव प्रतिशरीरं पश्यं-स्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुधावति । (शाङ्करभाष्यम्)

प्राप्त होता रहता है । यह उनका कथन प्रकरण तथा मूल श्लोक से विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता । यहां प्रकरण ब्रह्म का है, जैसे बार-बार कहा गया है कि 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' 'ईशानो भूतभव्यस्य' 'य इह नानेव पश्यति' । इत्यादि ब्रह्म के धर्मों में जो नानात्व देखता है, वह जन्म-मरण के प्रवाह से नहीं छूटता । इस सत्यार्थ के स्थान में जीव-ब्रह्म के भेद को लेकर स्वेच्छा से अर्थ करना ठीक नहीं । क्योंकि यहां ब्रह्म के साथ जीव को जोड़ने का प्रसङ्ग ही नहीं है । यहां तो ब्रह्म के एकत्व का वर्णन है जीव-ब्रह्म की एकता का नहीं ।

परमेश्वर की उपासना का फल किसको मिलता है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुने विजानतः आत्मा भवति गौतम ।।४।१५।।

***पदार्थ*—**(गौतम[1]) हे गौतम=स्तुति करने वाले के पुत्र नचिकेता ! (यथा) जैसे (शुद्धे) शुद्ध पात्र में (शुद्धम्) निर्मल (उदकम्) जल (आ सिक्तम्) डाला हुआ (तादृक्, एव) वैसा ही शुद्ध (भवति) होता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) विज्ञानयुक्त (मुनेः) मननशील पुरुष का (आत्मा) आत्मा (भवति) होता है ।

***भावार्थ*—**यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! शुद्ध पात्र में डाला गया जल पूर्ववत् शुद्ध ही रहता है, इसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण वाला विज्ञानी पुरुष का आत्मा शुद्ध तथा शान्त ब्रह्म की उपासना से शुद्ध व शान्त हो जाता है अर्थात् उपासक अपने उपास्य के गुणों को धारण करके पवित्र हो जाता है । इस से स्पष्ट है कि जिसका अन्तःकरण मलीन है वह कदापि परमेश्वर की उपासना का अधिकारी नहीं हो सकता और नहीं वह परमेश्वर के गुणों को धारण कर सकता है । अतः परमेश्वर की उपासना का फल उसी पुरुष को ही मिल सकता है । जो पवित्रान्तःकरण वाला होकर परमेश्वर की उपासना करता है । और परमेश्वर की उपासना का फल है कि उसके गुणों को धारण करके शुद्ध व शान्त होना । जिसका अन्तःकरण तो मलीन है किन्तु बाह्य दिखावे के लिए ईश्वर का भक्त बना रहता है, वह कदापि ईश्वर को प्राप्त नहीं

१. गौतम=गोतमस्यापत्यम् ! गौतमः=गौरिति स्तोतृ नाम (निघं० ३।१६) अतिशयेन गौः=गौतमः अतिशयेन स्तोता परमेश्वरस्य ।

कर सकता । क्योंकि ईश्वर की प्राप्ति का मुख्य उपाय शुद्धान्तःकरण है । सब मुमुक्षु जनों को एतदर्थ ही परम-पुरुषार्थ करना चाहिए ।

समीक्षा—यहां श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—'यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवति, आत्माप्येवं भवति ।' अर्थात् जैसे शुद्ध जल में डाला हुआ शुद्ध जल एक जैसा ही होता जाता है, इसी प्रकार जीवात्मा भी ब्रह्म हो जाता है । यह उनकी व्याख्या सत्य नहीं है । जीव-ब्रह्म जल की भांति समान गुण वाले नहीं हैं । जीव अल्पज्ञ, एकदेशी, अल्प सामर्थ्यवाला तथा इच्छादि गुणों वाला है और ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक तथा इच्छादि गुणों से रहित है । दोनों चेतन होते हुए भी विलक्षण स्वभाव वाले हैं । अतः शुद्ध जल की उपमा शाङ्कर-व्याख्या में संगत नहीं हो सकती । अतः उपमान उपमेय भाव को न समझकर उन्होंने असङ्गत व्याख्या की है । और श्लोक में स्पष्टरूप से कहा है कि विज्ञानयुक्त योगी तादृगेव—वैसा ब्रह्म के सदृश हो जाता है, ब्रह्म नहीं । यहां समानता भी पूर्णतः नहीं समझनी चाहिए, क्योंकि जीव ब्रह्म कभी नहीं हो सकता । अन्यथा 'ब्रह्मैव भवति' कह देते । योगी पवित्रान्तःकरण वाला होकर ब्रह्म के कुछ गुणों को धारण करने से उस समय ब्रह्म के सदृश हो जाता है, इस व्याख्या को न समझकर जीव ब्रह्म हो जाता है, यह कथन मूल के विरुद्ध है । क्योंकि मोक्ष में भी जीव ब्रह्म से भिन्न ही रहकर मोक्षानन्द का भोग करता है, ब्रह्म में लय नहीं होता । अन्यथा जीव का ब्रह्म में जल की भांति लय मानने पर मोक्ष के आनन्द को कौन भोगेगा ? और फिर ऐसे प्रलयात्मक मोक्ष के लिए कौन प्रयास करेगा ?

इति कठोपनिषद्भाष्ये चतुर्थी वल्ली समाप्ता ।।

अथ कठोपनिषद्-भाष्ये पञ्चमी वल्ली

अब जीवात्मा का बन्धन रूप शरीर-नगर से मुक्ति का उपाय कहते हैं—

पुरम् एकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥

(५।१)

पदार्थ—(अवक्रचेतसः) कुटिलताचरण से रहित मन वाले (अजस्य) अजन्मा जीवात्मा का (एकादश[१] द्वारम्) ग्यारह दरवाजे वाला (पुरम्) शरीर रूपी नगर है, इसका (अनुष्ठाय) भिन्न-भिन्न आश्रमों में शास्त्रविधानानुसार श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान करके सेवन करने वाला पुरुष (न, शोचति) शोकादि दुःखों से दुःखी नहीं होता (च) और (विमुक्तः) दुःखों से तथा तीनों ऋणों से जब छूट जाता है, तब (विमुच्यते) मुक्त हो जाता है । (एतद्) यही (वै) निश्चय करके (तत्) ब्रह्म-ज्ञान का फल है ।

भावार्थ—इस श्लोक में मोक्षार्थी के लिए मोक्ष प्राप्त करने के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है । योगी पुरुष को सर्वप्रथम मानसिक शुद्धि करनी चाहिए । जब तक मन शुद्ध नहीं है, उसमें पापाचरण की प्रवृत्ति या पाप-वासनाएँ विद्यमान हैं, तब तक मोक्षार्थी आगे नहीं बढ़ सकता । और योगी पुरुष को अपने आश्रमों के अनुसार कर्तव्यों का पालन भी करना चाहिए । कर्तव्यविहीन व्यक्ति को सुख व शान्ति मिल नहीं सकती और मन अशान्त ही बना रहेगा । और मोक्षार्थी को पितृऋणादि ऋणों से भी मुक्त होना चाहिए । ऋणी मनुष्य जैसे चिन्तित व दुःखी रहता है, वैसे ही विना ऋण चुकाये योगी का मन शान्त नहीं रहेगा। अतः मोक्ष प्राप्ति करनेवाले पुरुष को पवित्रान्तःकरण वाला, कर्तव्यमुक्त व ऋणमुक्त अवश्य होना चाहिए ।

---

१. एकादश द्वार शरीर में निम्न हैं—२ आंखों, २ कानों, २ नाकों, के, १ मुंह का, २ गुदा तथा लिंग के, १ नाभि का तथा १ब्रह्मरन्ध्र (मस्तक में) का, ये ११ छिद्र ही इस शरीर में जीवात्मा के द्वार हैं ।

अब जीवात्मा की विभिन्न योनियों की दशाओं का वर्णन करते हैं ।

**हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥५।२॥**

पदार्थ—(हंसः) एक शरीर से दूसरे शरीर में जानेवाला अथवा दुःखों को नष्ट करने वाला (शुचिषत्) पवित्र व्यवहारों या पवित्र परमेश्वर में स्थित होने वाला (वसुः) शरीरादि में वास करनेवाला (अन्तरिक्षसत्) हृदयरूप अवकाश में स्थित अथवा मोक्ष में अन्तरिक्ष में विचरने वाला (होता) यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करनेवाला तथा सत्य को ग्रहण करने वाला (वेदिषत्) शरीरधारी होने से पृथिवी पर रहने वाला अथवा यज्ञादि करने वाला (अतिथिः) निरन्तर जन्म-जन्मान्तरों में गमन करने वाला (दुरोणसत्) सब ऋतुओं में सुखद गृह में रहने वाला (नृषत्) मनुष्य शरीर में रहने वाला (वरसत्) जो उत्तम विद्वानों के सत्सङ्ग में रहता है (व्योमसत्) जो आकाशवत् व्यापक परमेश्वर में स्थित होता है अथवा प्रलयकाल में आकाश में रहने वाला अथवा मोक्ष-दशा में आकाश में विचरने वाला है (अब्जाः) जो अप्=प्राणों को जन्म देता है अथवा मत्स्यादि योनियों में जल में जन्म लेता है (गोजाः) जो गो=इन्द्रियों को शक्ति देकर प्रसिद्ध करता है अथवा गो=पृथिवी पर जन्म लेता है (ऋतजाः) जो ऋत=सत्यज्ञान या सत्यव्यवहार को प्रसिद्ध करता है (अद्रिजाः) जो अद्रि=मेघों को यज्ञादि के द्वारा जन्म देता है अथवा अद्रि=वृक्षादि लगाकर उन्हें जन्म देता है (ऋतम्) सत्यस्वरूप है और (बृहत्) महान् आशयवाला है ।

भावार्थ—इस श्लोक में जीवात्मा का विभिन्न योनियों में जाने आने का वर्णन है, इससे जीवात्मा की नित्यता का स्पष्ट बोध हो रहा है । स्थलचर, जलचर अथवा नभचर सभी योनियों में जीव कर्मानुसार आता जाता है और कर्मानुसार शुभाशुभ योनियों में विचरण करता है । इस मन्त्र का पाठ यजुर्वेद[१] में भी आता है । वहां महर्षि-दयानन्द की व्याख्या इस प्रकार है—(इस मन्त्र में परमात्मा और जीव के लक्षण कहे गये हैं)—"हे प्रजा के पुरुषो ! तुम लोग जो (हंसः) दुष्ट कर्मों का नाशक (शुचिषत्) पवित्र व्यवहारों में वर्तमान (वसुः) सज्जनों में बसने

१. यह मन्त्र यजुर्वेद (१२।१४) में अक्षरशः पठित है ।

वा उनको बसानेवाला (अन्तरिक्षसत्) धर्म के अवकाश में स्थित (होता) सत्य के ग्रहण करने और कराने वाला (वेदिषत्) सब पृथिवी वा यज्ञ के स्थान में स्थित (अतिथिः) पूजनीय वा राज्य की रक्षा के लिए यथोचित समय में भ्रमण करने वाला (दुरोणसत्) ऋतुओं में सुखदायक आकाश में व्याप्त वा घर में रहने वाला (नृषत्) सेनादि के नायकों का अधिष्ठाता (वरसत्) उत्तम विद्वानों की आज्ञा में स्थित (ऋतसत्) सत्याचरणों में आरूढ (व्योमसत्) आकाश के समान सर्वव्यापक ईश्वर वा जीवस्थित (अब्जाः) प्राणों के प्रकट करने हारा (गोजाः) इन्द्रिय वा पशुओं को प्रसिद्ध करने हारा (ऋतजाः) सत्य विज्ञान को उत्पन्न करने हारा (अद्रिजाः) मेघों का वर्षाने वाला विद्वान् (ऋतम्) सत्यस्वरूप (बृहत्) अनन्त ब्रह्म और जीव को जाने, उस पुरुष को सभा का स्वामी राजा बनाके निरन्तर आनन्द में रहो ।"

समीक्षा—इस की व्याख्या में आचार्य शङ्कर लिखते हैं—"सर्वव्याप्येक एवात्मा जगतो नात्मभेद इति ।" अर्थात् एक सर्वव्यापी आत्मा का ही यहां वर्णन है, उसमें नामभेद होने पर आत्मभेद नहीं है । वहां एक परब्रह्म की सत्ता में ही विश्वास रखने वालों की असङ्गत व्याख्या देखिये—"अतिथिः सोमः सन् दुरोणे कलशे सीदतीति" ।

अर्थात् वह आत्मा सोम रूप में घड़े में बैठता है । और 'अद्रिजाः=पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति ।' अर्थात् वह आत्मा पर्वतों से नदी आदि के रूप में उत्पन्न होता है । और "गोजाः=गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायते" अर्थात् वह आत्मा पृथिवी पर व्रीहि=चावल, यव=जौ आदि के रूप में पैदा होता है ।"

क्या शङ्कराचार्य की ये व्याख्याएँ सङ्गत कही जा सकती हैं ? अद्वैतवाद=परब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता को न मानने वाले क्या यह बता सकते हैं कि वह ब्रह्म घड़े में बैठता है, नदी आदि रूप में उत्पन्न होता है, और व्रीहि आदि रूप में पृथिवी पर उत्पन्न हो सकता है ? जिस ब्रह्म को 'अकायम्' शरीररहित वेद में कहा है, क्या उस व्यापक ब्रह्म के साथ इन व्याख्याओं की कोई सङ्गति है ?

अब शरीर में जीवात्मा की स्थिति कहां और कैसी है, इसका कथन करते हैं—

उर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥५।३॥

पदार्थ—जो जीवात्मा (प्राणम्) प्राणवायु को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (उन्नयति) ले जाता है (अपानम्) अपानवायु को (प्रत्यक्) हृदय-देश से नीचे (अस्यति) फैंकता है, उस (मध्ये) नाभि और कण्ठ के बीच हृदयावकाश में (आसीनम्) स्थित=विराजमान (वामनम्[१]) परिच्छिन्न तथा प्रशस्त जीवात्मा को (विश्वेदेवा:[२]) सब इन्द्रियां (उपासते) समीपता से सेवन करती हैं ।

भावार्थ—इस शरीर में जीवात्मा मध्य=हृदयावकाश में परिच्छिन्न रूप में विराजमान रहता है । और प्राण, अपानादि सभी प्रकार के शरीरस्थ वायुओं को जीवात्मा ही गति दे रहा है । उसके समीप इन्द्रियां वैसे ही कार्य करती हैं जैसे—राजगद्दी पर बैठे राजा के दरबार में सेवक उसकी आज्ञा से कार्य करते रहते हैं । हृदयस्थ अन्त:करण से आवृत अङ्गुष्ठमात्र स्थान ही जीवात्मा की राजधानी है और यह शरीर उसका नगर है, जिसके ११ दरवाजे (द्वार) नेत्रादि छिद्र हैं । जब तक यह जीवात्मा इस शरीर में विराजमान है, तभी तक शरीरस्थ सब कार्य उसकी शासन-व्यवस्था से चलता रहता है और उसके निकलते ही शरीर की सब चेष्टाएं समाप्त हो जाती हैं ।

जीवात्मा का इस शरीर में स्थान कहां है ? इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ एक दूसरे प्रश्न का भी उत्तर स्पष्ट रूप से मिल गया है कि वह जीवात्मा परिच्छिन्न है, विभु नहीं । क्योंकि जो विभु होता तो उसका शरीर में कोई एक स्थान निश्चित करना कदापि सङ्गत नहीं होता । और श्लोकस्थ 'वामन' पद इसी भाव को और अधिक स्पष्ट कर रहा है । महर्षि-दयानन्द ने इस विषय में बहुत ही निर्णीत तथा शास्त्रसम्मत सिद्धान्त लिखा है—

"**(प्रश्न)** जीव शरीर में भिन्न विभु है वा परिच्छिन्न ?

---

१. वामन:=वाम इति प्रशस्यनाम । निघं० ३।८। तत: पामादि-त्वान्मत्वर्थे न: प्रत्यय: । वामनम्=ह्रस्वाङ्गम् । यजु० ३०।१० महर्षिभाष्ये।

२. देवशब्द इन्द्रियार्थे । तद्यथान्यत्रापि—नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।। (यजु० ४०।४) देवशब्देन मन:षष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेषां शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात् तान्यपि देवा:।। ऋ० भू० ६४ ।। स्व-स्वविषयप्रकाशकानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि ।।

(ऋ० ६।९।५ महर्षिभाष्ये)

'इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते ।' (निरुक्ते १३।११)

(उत्तर) परिच्छिन्न ? जो विभु होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता । इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्-सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक स्वरूप है । इसलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है ।" (सत्यार्थ० सप्तमसमुल्लास)

समीक्षा—इस श्लोक में जीवात्मा की सत्ता का स्पष्ट वर्णन है। प्राण, अपान का लेना जीवात्मा का ही लिङ्ग है । जैसे कि दर्शनकारों ने "प्राणापाननिमेषोन्मेष····आत्मनो लिङ्गानि ।" (वैशेषिक०) प्राणादि को जीवात्मा का लिङ्ग माना है । परन्तु अद्वैतवादी जीवात्मा की सत्ता ही न मानकर एक परब्रह्म को मानते हैं, यह उनकी भ्रान्ति ही है । क्योंकि हम देखते हैं कि जब तक जीव शरीर में रहता है, तभी तक शरीर में प्राणादि चेष्टाएँ होती हैं, जीवात्मा के पृथक् होने पर नहीं । यदि ये परमात्मा की ही चेष्टाएँ हैं तो जन्म-मरण दोनों ही असङ्गत हो जायेंगे । क्योंकि जीव के संयोग को जन्म और वियोग को मृत्यु कहते हैं । परब्रह्म तो सर्वव्यापी है, मरने के बाद भी शरीर में व्यापक है, फिर मरणोत्तर प्राणादि चेष्टाएँ क्यों नहीं होतीं ? और सर्वव्यापक का संयोग-वियोग कैसे हो सकता है? अतः अन्वय व्यतिरेक न्याय से प्राणादि चेष्टाएँ जीवात्मा के लिङ्ग हैं, परमात्मा के नहीं । और जीवात्मा की पृथक् सत्ता सिद्ध होने से अद्वैतवाद की मान्यता खण्डित हो जाती है ।

जीवात्मा के शरीर से वियुक्त होने पर शरीर में कुछ भी जीव का चिह्न शेष नहीं रहता—

अस्य विस्त्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥५।४॥

पदार्थ—(अस्य) पूर्व श्लोक में वर्णित (शरीरस्थस्य) शरीर में रहने वाले (देहिनः) शरीर के स्वामी जीवात्मा के (देहात्) शरीर से (विस्रंसमानस्य) रोगादि या वृद्धावस्था के कारण कार्य के योग्य न होने के कारण (विमुच्यमानस्य) पृथक् होते हुए का (अत्र) इस शरीर में (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है अर्थात् कुछ शेष नहीं रहता । (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह आत्म-तत्त्व है, जिसे हे नचिकेता ! तुम जानना चाहते हो ।

भावार्थ—मृत्यु के समय जब जीवात्मा इस शरीर से पृथक् हो जाता है, तब शरीर में कुछ भी नहीं रहता अर्थात् न प्राण चेष्टा करते हैं और सब इन्द्रियां भी अपना कार्य करना छोड़ देती हैं । तात्पर्य यह है कि जीव के पृथक् होते ही उसकी समस्त शक्तियां जीव के साथ ही चली जाती हैं । अतः जिस जीव के रहते हुए शरीर में विभिन्न चेष्टाएं दिखाई दे रही हैं, वही जीवात्मा है ।

इस श्लोक में भी जीवात्मा की शरीर से उत्क्रान्ति का वर्णन किया गया है, अतः जीवात्मा अणु है, विभु नहीं । क्योंकि विभु की उत्क्रान्ति कदापि सम्भव नहीं है । नचिकेता का प्रश्न भी यही था कि मरने के बाद आत्मा की सत्ता है या नहीं । यमाचार्य ने परमात्मा का वर्णन प्रसङ्गानुकूल करके फिर जीवात्मा का वर्णन यहां किया है, क्योंकि परमात्मा की सिद्धि के बाद जीवात्मा की सिद्धि सुसाध्य हो जाती है ।

शरीर में प्राणादि क्रियाएं जीवात्मा के आधीन हैं, इसका कथन करते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५।५॥

पदार्थ—(कश्चन) कोई (मर्त्यः) मनुष्य (न, प्राणेन) न तो प्राण से और (न अपानेन) न अपान से (जीवति) जीवित रहता है (तु) किन्तु (यस्मिन्) जिस जीवात्मा में (एतौ) ये दोनों प्राण व अपान (उपाश्रितौ) आश्रित हैं, (इतरेण) उस प्राण-अपान से भिन्न जीवात्मा के संयोग से (जीवन्ति) मनुष्य जीवित रहते हैं।

भावार्थ—जीवात्मा की सत्ता को न जानने वाले साधारण मनुष्य यही कहते रहते हैं कि प्राण-अपान ही जीवन के आधार हैं । किन्तु यथार्थ में यह बात नहीं है । प्राण व अपान अपनी क्रिया के करने में स्वतन्त्र नहीं हैं । जीवात्मा के आश्रय से ही प्राणादि चेष्टा करते हैं । वही मनुष्यों के जीवन का आधार है । यदि प्राणादि जीवन के हेतु हों तो मृत शरीर में भी कार्य क्यों नहीं करते ? इससे स्पष्ट है कि इनकी समस्त गति जीवात्मा के आधीन है । इसीलिए वैशेषिकादि दर्शनकारों ने 'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनादि······' को जीवात्मा के लिङ्ग माने हैं । महर्षि-दयानन्द इस विषय में लिखते हैं—

"ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं । इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है । जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं जब शरीर छोड़ चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते । जिसके होने से जो हों और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं । जैसे दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुण द्वारा होता है ।" (सत्यार्थ० सप्तम समु०)

"**(प्रश्न)** उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है ?

(उत्तर) मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और ग्रहण तथा ज्ञान इन २४ प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव हैं ।"

(सत्यार्थ० नवम०)

अब यमाचार्य नचिकेता को ब्रह्म और जीवात्मा के उपदेश करने का वचन देते हैं–

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥५।६॥

***पदार्थ*—**(गौतम) हे गौतम के पुत्र नचिकेता ! (हन्त[१]) तुम्हें योग्य शिष्य समझकर मैं यह कृपा करके उपदेश दे रहा हूं (ते) और तेरे लिए (इदम्) इस (सनातनम्) अनादि (गुह्यम्) गोपनीय सूक्ष्म (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान का (प्रवक्ष्यामि) उपदेश करूंगा (च) और यथा जिस प्रकार (मरणम्) मृत्यु को (प्राप्त) प्राप्त होकर (आत्मा) जीवात्मा (भवति) वर्त्तमान रहता है, वह भी बताऊंगा ।

***भावार्थ*—**यमाचार्य नचिकेता को उपदेश करते हैं कि हे नचिकेता तुम सचमुच ही दयनीय हो, क्योंकि तुम्हारे जैसा योग्य शिष्य भी दुर्लभ होता है । मैं तुम्हें उस सूक्ष्म ब्रह्म के विषय में उपदेश करूंगा, जिसे जान कर जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करता है और न जानने से जन्म-मरण के दु:खों में फंसा रहता है । और इस शरीर से पृथक् होने पर जीवात्मा की सत्ता है या नहीं, इसकी मृत्यु के बाद क्या गति होती है, इसका भी उपदेश करूँगा ।

---

१. 'हन्त' इत्यनुकम्पायां खेदे च (धातुपाठ) ।

अब कर्मानुसार जीवों की नाना योनियों में गति का वर्णन करते हैं—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥५।७॥

***पदार्थ*—**(अन्ये) ब्रह्मज्ञानी से भिन्न (देहिनः) जीवात्माएं (यथाकर्म) जैसा वा जितना पाप-पुण्य कर्म है (यथाश्रुतम्) और जैसा वा जितना ज्ञान है, उसके अनुसार (शरीरत्वाय) मनुष्यादि शरीर धारण करने के लिए (योनिम्[१]) जन्म स्थान को अथवा देह-धारण के कारण गर्भाशय को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (अन्ये) और दूसरे अति निकृष्ट पाप करने वाले (स्थाणुम्[२]) स्थिर रहने वाली वृक्षादि योनियों को (अनुसंयन्ति) मरने के बाद प्राप्त होते हैं ।

***भावार्थ*—**जो जीव ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं उनके उपनिषत्कार ने यहां दो भेद किए हैं । एक वे जीव हैं जो मरने के बाद अपने कर्मानुसार और ज्ञान के संस्कार के अनुसार मनुष्य, पक्षी आदि योनियों को प्राप्त करते हैं और दूसरे वे अशुभ कर्म करने वाले जघन्य तमोगुणी जीव हैं, जो स्थाणु=वृक्षादि योनियों को धारण करते हैं । वृक्षादि भी योनियां हैं, इनमें भी जीवात्मा अपने कर्मानुसार जाते हैं, इससे यह स्पष्ट उल्लेख हो रहा है । महर्षि दयानन्द जी ने भी वृक्षों में कर्मानुसार जीवों की गति बताते हुए लिखा है—

(क) **स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च कच्छपाः।**
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥(मनु०)

जो अत्यन्त तमोगुणी हैं स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ।

(ख) **शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ॥** (मनु०)

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म·····मिलता है।।"

(सत्यार्थ० नवम समु०)

(ग) "**(प्रश्न)** ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म०····

---

१. योनिम्=जन्मस्थानम् । यजु० १९।७६ महर्षिभाष्ये ।
देहधारणकारणम् । यजु० १२।३८ महर्षिभाष्ये ।

२. स्थाणुः=वृक्षः । (स० प्र० ६९ पृ०)
स्थाणुस्तिष्ठतेः । (निरुक्त १।१८)

किन्हीं को वृक्षादि, कृमि, कीट, पतङ्गादि जन्म दिये हैं ।। इससे परमात्मा में पक्षपात आता है ।"

(उत्तर) पक्षपात नहीं आता । क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से जो कर्म के विना जन्म देता तो पक्षपात आता ।" (सत्यार्थ० ८ समु०)

इस 'ग' भाग में यद्यपि वृक्षादि के जन्म का पाठ प्रश्न रूप में दिया है, किन्तु महर्षि ने उत्तर में यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सब जीवों की कर्मानुसार ही व्यवस्था है । यदि उनका ऐसा मत न होता तो वे इसका भी अवश्य खण्डन करते । क्योंकि 'परमतमप्रतिषिद्धं स्वमतमेव भवति' यदि कोई लेखक दूसरे आचार्य का मत दिखाकर उसका खण्डन नहीं करता तो यह समझना चाहिए कि वह लेखक का भी मत है ।

अब पूर्व प्रतिज्ञात ब्रह्म का वर्णन करते हैं—

य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिंल्लोकाः
श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥५।८॥

पदार्थ—(यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त परब्रह्म (कामं कामम्) प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिए (निर्मिमाणः) समस्त जगत् और जगत् के पदार्थों का निर्माण करता हुआ सुप्तेषु) प्रमाद, आलस्य और निद्रा में सोते हुए जीवों में (जागर्त्ति) जागता है=सब को यथावत् जानता है (तत्, एव) वही (शुक्रम्) जगत् को बनाने वाला तथा शुद्धस्वरूप (तद्, ब्रह्म) वह ही सब से बड़ा (तत्, एव) वह ही (अमृतम्) जन्म-मरणादि से रहित होने से सदा मुक्त और अविनाशी (उच्यते) कहा जाता है । (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में (सर्वे, लोकाः) सब पृथिवी सूर्यादि लोक (श्रिताः) स्थित हैं (तत्) उस ब्रह्म को (उ) निश्चय से (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता अर्थात् उसके नियमों को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। (एतत्) यही (वै) निश्चय से (तत्) वह जानने योग्य ब्रह्म है ।

भावार्थ—इस पञ्चमी वल्ली के छठे श्लोक में सदा मुक्त परब्रह्म तथा जन्म-मरण में बन्धने वाले जीवात्मा के विषय में उपदेश के लिए यमाचार्य ने कहा है । तदनुसार सातवें श्लोक में जीवात्मा के विषय में

कहा है कि यह शुभाशुभ कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है । अब यहां जीवात्मा से परब्रह्म का क्या भेद है ? अथवा जीवात्मा व परब्रह्म के कार्यों में क्या अन्तर है, इसका स्पष्ट वर्णन किया गया है । परब्रह्म के विशिष्ट कार्य ये हैं—(१) वह सर्वत्र व्यापक है; जीवात्मा नहीं । (२) वह जीवों के लिए जगत् के सब पदार्थों की रचना करता है । (३) वह प्रलयकाल में अथवा जब सब जीव प्रसुप्तावस्था में होते हैं तब जागता रहता है, अथवा सब को यथावत् जानता है । (४) वह शुक्रम्=शुद्ध स्वरूप तथा सृष्टि का कर्त्ता है । (५) वह ब्रह्म=सब से महान् है । (६) वह अमृतम्=मृत्यु आदि दु:खों से सदा मुक्त तथा अविनाशी है । (७) सूर्यादि लोक उस ब्रह्म के आश्रय से ही स्थित होकर कार्य कर रहे हैं । (८) कोई भी जीव परब्रह्म की व्यवस्था का उल्लङ्घन नहीं कर सकता।

समीक्षा—इन परब्रह्म के विशेष कार्यों से स्पष्ट है कि जीव-ब्रह्म एक कभी नहीं हो सकते । इतना स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी नवीन अद्वैतवादी अपने मिथ्याग्रह पर ही स्थित हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है । यहां स्वामी शङ्कराचार्य ने भी अपने भाष्य में यही लिखा है कि सातवें श्लोक में कर्मानुसार आत्मा 'यथाकर्म=यद् यस्य कर्म..... यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतम्' जिसने इस जन्म में जैसा कर्म किया है, उसी के अनुसार विभिन्न शरीरों को प्राप्त करते हैं । और यहां आठवें श्लोक में ब्रह्म का वर्णन माना है कि सब लोकों का—"पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मणि श्रिता आश्रिता:" आश्रय ब्रह्म है । इतना स्पष्ट जीव-ब्रह्म का भेद होते हुए भी दोनों की पृथक् सत्ता न मानना क्या महान् आश्चर्य की बात नहीं है ? क्या इन दोनों श्लोकों में एक ब्रह्म का ही वर्णन कोई मान सकता है ? क्या ब्रह्म शरीरधारण करके शुभाशुभ कर्म करता है ? और जीवों की कर्मानुसार फल की व्यवस्था क्या ब्रह्म नहीं करता है ? अत: तर्क व प्रमाण से हीन अद्वैतवाद की मान्यता सर्वथा ही मिथ्या है ।

अब ब्रह्म की सर्वव्यापकता का कथन करते हैं—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥५।९॥

पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (एक:, अग्नि:) एक ही अग्नि

(विद्युत्) (भुवनम्) कार्यरूप भौतिक पदार्थों अथवा लोक-लोकान्तरों में (प्रविष्टः) व्याप्त होकर (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूपवान् वस्तु के (प्रतिरूपः) तदाकार=तुल्य रूपवाला (बभूव) हो रहा है (तथा) उसी प्रकार (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूपवान् पदार्थ को (प्रतिरूपः) रूप देने वाला=व्यापक होने से कार्य रूप में बनाकर व्यक्त करने वाला (च) और (बहिः) उन पदार्थों के बाहर भी व्यापक है ।

***भावार्थ*—**यहां परब्रह्म की सर्वव्यापकता को समझाने के लिए विद्युदग्नि का उदाहरण दिया है कि विद्युदग्नि स्थूल पदार्थों में व्यापक होकर भी उन पदार्थों से पृथक् नहीं दिखाई देती है, वैसे परब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, वह सब प्राणियों की आत्मा में भी व्यापक है और उनसे बहिः=बाहर भी व्यापक है । यहां विद्युदग्नि के दृष्टान्त से परब्रह्म की व्यापकता को बताकर दोनों में भेद भी स्पष्ट कर दिया है कि विद्युदग्नि भौतिक पदार्थों में व्यापक है, उनसे बाहर नहीं, परन्तु परब्रह्म तो विद्युदग्नि से भी अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि वह सब पदार्थों के अन्दर तथा बाहर सर्वत्र व्यापक है जैसा कि यजुर्वेद में कहा है–

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत; ॥ (यजु० ४०।५)

अर्थात् परब्रह्म तो इस समस्त ब्रह्माण्ड के अन्दर व बाहर सर्वत्र व्यापक है ।

समीक्षा—यहां विद्युदग्नि के दृष्टान्त से भी अद्वैतवाद का स्पष्ट खण्डन हो रहा है । क्योंकि जब परब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है तो परब्रह्म की व्यापकता कैसे सिद्ध हो सकती है ? अतः परब्रह्म से भिन्न प्राकृतिक जगत् तथा जीवों को स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिनमें परब्रह्म परमसूक्ष्म होने से व्यापक है । यहां आचार्य शङ्कर लिखते हैं 'भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनमयं लोकः' अर्थात् जिसमें प्राणी पैदा होते हैं, वह यह लोक भुवन कहाता है । यदि लोक-लोकान्तरों की कोई सत्ता ही नहीं है, तो यह उनकी व्याख्या निरर्थक ही है ।

पुनः ब्रह्म की सर्वव्यापकता का अन्य दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं–

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥५।१०॥

पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (एक:, वायु:) एक वायु (भुवनम्) कार्यरूप भौतिक पदार्थों में तथा लोक-लोकान्तरों में (प्रविष्ट:) प्रविष्ट होकर (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूपवान् पदार्थ के (प्रतिरूप:) तदाकार=उसके सदृश (बभूव) व्यक्त प्रतीत होता है (तथा) उसी प्रकार (एक:) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूपवान् पदार्थ को (प्रतिरूप:) रूप देनेवाला=व्यापक होने से कार्यरूप में व्यक्त करने वाला (च) और (बहि:) उन पदार्थों से बाहर भी है ।

भावार्थ—यहां वायु के दृष्टान्त से परब्रह्म की व्यापकता बताई गई है । जैसे रूप-रहित वायु अपने से स्थूल पदार्थों में व्यापक होकर उन वस्तुओं से विलक्षण नहीं प्रतीत होता वैसे ही परब्रह्म सब चराचर जगत् में व्यापक होता हुआ भी उनसे बाहर भी व्यापक है । सूक्ष्म वस्तु अपने से स्थूल पदार्थों में व्यापक हो सकती है, अपने से सूक्ष्मतर में नहीं । इस नियम से वायु भी अपने से स्थूल पदार्थों में ही व्यापक है यही कारण है कि वायु आकाश में व्यापक नहीं है, अत: आकाश में वायु का स्पर्श गुण नहीं है, हां उसकी अपेक्षा स्थूल अग्नि, जल, पृथिवी में वायु का स्पर्श गुण है । इस नियम को ध्यान में रखकर वायु के दृष्टान्त से परब्रह्म की व्यापकता समझनी चाहिए । दृष्टान्त का एक देश ही समझाने के लिए ग्राह्य होता है, सर्वांश में नहीं । यथार्थ में वायु की व्यापकता वायु से सूक्ष्म आकाश, जीवात्मा व परमात्मादि में नहीं है । और परब्रह्म परमसूक्ष्म होने से सब पदार्थों के अन्दर व बाहर सर्वत्र व्यापक है ।

अब परब्रह्म के सर्वव्यापक होते हुए भी निर्लेप भाव का कथन करते हैं—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदु:खेन बाह्यः ॥५।११॥

पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (सर्वलोकस्य) समस्त दृश्यमान संसार को (चक्षु:) दर्शनशक्ति देने का हेतु (सूर्य:) सूर्य (चाक्षुषै:) चक्षु इन्द्रियसम्बन्धी (बाह्यदोषै:) बाह्य दोषों से (न, लिप्यते) लिप्त=दूषित नहीं होता (तथा) उसी प्रकार (एक:) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा (बाह्य:) सब प्राणियों के दोषों से बाहर है और (लोकदु:खेन) सांसारिक दु:खों से (न, लिप्यते) लिप्त=दु:खित

अथवा दूषित नहीं होता अर्थात् जीवों को कर्म का फल सुख-दु:ख देता हुआ भी इनसे पृथक् ही रहता है । अथवा दूषित मलादि वस्तुओं में व्यापक होकर भी उनके दोषों से दूषित नहीं होता ।

भावार्थ—इस श्लोक में सर्वव्यापक परब्रह्म के निर्लेप भाव को स्पष्ट किया गया है । बहुत से भ्रान्त-अल्पज्ञ व्यक्ति परब्रह्म को इसलिए व्यापक नहीं मानते कि इससे परब्रह्म भी दूषित हो जाएगा । परन्तु उपनिषत्कार ने सूर्य के दृष्टान्त से इस भ्रान्ति का निराकरण कर दिया है। जैसे सूर्य के प्रकाश के विना नेत्रेन्द्रिय कार्य नहीं कर सकती, अत: सूर्य रूप-ज्ञान का कारण है । परन्तु सूर्य नेत्रों या दूसरे दूषित पदार्थों से दूषित कभी नहीं होता । वैसे ही परब्रह्म मलादि में भी सर्वत्र अन्दर बाहर व्यापक है, परन्तु व्याप्य स्थूल पदार्थों के दोषों से दूषित कभी नहीं होता । वह तो 'लोकदु:खेन बाह्य:' संसार में उत्पन्न दोषों से सर्वथा पृथक् है । क्योंकि यह एक सर्वमान्य सत्य है कि सूक्ष्म के गुण-दोष स्थूल पदार्थों में आ सकते हैं, परन्तु स्थूल पदार्थों के गुण-दोष सूक्ष्म में कभी नहीं जा सकते।

समीक्षा—उपनिषत् के इस श्लोक से नवीन वेदान्तियों की इस मान्यता का खण्डन हो जाता है कि ब्रह्म से भिन्न परमार्थ में जीवात्मा की कोई सत्ता नहीं है क्योंकि यहां कहा है कि ब्रह्म बाह्य दु:खादि से सदा पृथक् है और जीवों को हम प्रत्यक्ष दु:खी-सुखी देखते हैं । यदि परब्रह्म का ही जीव अंश है तो जीव के दु:खी होने से ब्रह्म को भी दु:खी मानना पड़ेगा।

अत: इस प्रत्यक्ष तथा सर्वजन विदित तथ्य का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

अब सृष्टिकर्त्ता व सर्वान्तर्यामी परमात्मा के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का कथन करते हैं—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥५।१२॥

पदार्थ—(सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी (वशी) सब चराचर जगत् का नियन्ता (एक:) परमात्मा है (य:) जो (एकम्) जगत् के उपादान कारण मूल प्रकृति के एक रूप को (अर्थात् प्रलयकाल में अतिसूक्ष्म-दशा में होने से जिसका भेद करना सम्भव नहीं है ।) (बहुधा) बहुत प्रकार का स्थूल कार्य जगत् (करोति) उत्पन्न

करता है (ये) जो (धीराः) विवेकी=ध्यान करने वाले योगी पुरुष (तम्) उस परमात्मा को (आत्मस्थम्) जो अति सूक्ष्म होने से जीवात्मा में व्याप्त है, उसको (अनुपश्यन्ति) गुरु के उपदेश के बाद देखते=अनुभव करते हैं (तेषाम्) उनको (शाश्वतम्) निरन्तर (सुखम्) मुक्ति का सुख प्राप्त होता है (इतरेषाम्, न) योगियों से भिन्न पुरुषों को नहीं ।

महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक को ऋ० भू० के 'वेदविषयविचारः' प्रकरण में उद्धृत किया है और पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्तियों का सप्रमाण खण्डन करते हुए लिखा है कि प्राचीन आर्य लोग सृष्टि के प्रारम्भ से पृथिव्यादि जड़देवों की पूजा कदापि नहीं करते थे । वे तो केवल एक सर्वान्तर्यामी देव परमात्मा की ही इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि विभिन्न नामों से उपासना करते चले आए हैं ।

भावार्थ—उपनिषत् के इस श्लोक से आस्तिक जगत् की अनेक भ्रान्तियों का स्पष्ट रूप से निराकरण हो जाता है । जैसे—

(१) वह परब्रह्म एक ही उपासनीय इष्टदेव है । शिव, विष्णु आदि नामों से विभिन्न देवी-देवताओं की पौराणिक कल्पना सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि ये सब उस एक ब्रह्म के गौणिक नाम हैं ।

(२) क्योंकि ब्रह्म एक है, इसलिए नवीन वेदान्तियों की इस मान्यता का खण्डन हो जाता है कि सब शरीरों में एक ब्रह्म का ही अंश जीव रूप में कार्य कर रहा है । यदि एक ही चेतनतत्त्व सब प्राणियों में हो तो दूसरे का ज्ञान दूसरों को भी हो जाना चाहिए । एक के ज्ञानी होने से सब ज्ञानी, एक के राजा बनने से सब राजा, एक के दरिद्र या दुःखी होने से सब दुःखी या दरिद्री, एक के पापी होने से सब पापी हो जायें। इससे यह भी दोष आयेगा—कर्मफल-व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती। कर्म कोई करे, फल कोई भोगे । और यह मान्यता प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है । यदि सब में एक ही चेतन सत्ता कार्य कर रही है तो एक दूसरे की बातों का ज्ञान दूसरों को भी होना चाहिए । अतः प्रति शरीर जीवात्माओं को ब्रह्म से भिन्न मानने में ही सभी शास्त्रीय व्यवस्था लागू हो सकती हैं और कोई विरोध भी नहीं आयेगा ।

(३) वह एक ब्रह्म वशी=चराचर जगत् को वश में किये हुए है अर्थात् उसके बनाये नियमों से समस्त जगत् चल रहा है । यदि ब्रह्म से भिन्न जगत् को मिथ्या माना जाये तो ब्रह्म को वशी कहना निरर्थक है।

(४) सर्वभूतान्तरात्मा=वह ब्रह्म सब जीवात्माओं में भी व्यापक है । अतः जीव-ब्रह्म का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है ।

(५) वह एक ब्रह्म ही समस्त ब्रह्माण्ड की रचना करता है । यह जगत् संयोग से बना है, अतः नश्वर है । यह स्वयं ही नहीं बना और न कोई ब्रह्म से भिन्न इस जगत् को बना सकता है । और इस से यह भी स्पष्ट है कि परमेश्वर एक मूल प्रकृति, जो जगत् का उपादान कारण है, उसी से जगत् की रचना करता है । इस जगत् का उपादान कारण प्रकृति है, ब्रह्म निमित्त कारण है । प्रकृति की सत्ता को न मानने वाले नवीन वेदान्तियों को 'एकं रूपं बहुधा करोति' इस वाक्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

(६) और शाश्वत सुख प्राप्त करने की इच्छा करने वालों को परब्रह्म को जानना परमावश्यक है । उसको विना जाने नास्तिक मूढ लोग शाश्वत सुख को नहीं प्राप्त कर सकते हैं ।

(७) उस परब्रह्म की उपासना या भक्ति कहां करनी चाहिए ? इस विषय में आस्तिक जगत् में बड़ा विवाद है । और अज्ञानी लोग पथभ्रष्ट होकर बाहर के संसार में या जड़ मूर्तियों में ब्रह्म को मानकर मिथ्या-भक्ति में लगे हैं । यहां उपनिषद् में बहुत ही स्पष्ट कहा है कि उस ब्रह्म का साक्षात्कार योगाभ्यास से अपनी आत्मा में ही करना चाहिए। क्योंकि वहां उपास्य व उपासक दोनों विद्यमान हैं ।

शाश्वत-शान्ति कौन प्राप्त कर सकते हैं ? अब यह स्पष्ट करते हैं—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं ये ऽ नुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
(५।१३)

***पदार्थ*—**(यः) जो (नित्यानाम्) जगत् के मूल कारण नित्य प्रकृति तथा अनादि जीवों में (नित्यः) कूटस्थ नित्य है (चेतनानाम्) चेतनधर्मा जीवों में भी (चेतनः) चेतनस्वरूप है तथा उनका भी साक्षी है । (बहूनाम्) परिच्छिन्न चराचर वस्तुओं में (एकः) एक अपरिच्छिन्न= व्यापक है और (कामान्) जीवों को कर्मानुसार फलों को (विदधाति) देता है । (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में भी स्थित परमात्मा को (ये) जो (धीराः) विद्वान् योगी (अनुपश्यन्ति) गुरु के उपदेश के बाद निदिध्यासन से अनुभव करते हैं । (तेषाम्) उनको (शाश्वतीः) निरन्तर स्थिर रहने वाली (शान्तिः)

शान्ति प्राप्त होती है (इतरेषाम्, न) अज्ञानियों को नहीं ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—

(क) "जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य है तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है । बहुत असंख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में जो एक है तथा जो पृथिवी आदि स्वर्गपर्यन्त पदार्थों का रचन, किं वा ज्ञान से सब कामों का विधान करता है उस परमात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं, उन जीवों को ही निरन्तर शान्ति व सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं ।"

(वेदान्तिध्वान्तनिवारणम्, लघु० ८४)

(ख) इस प्रमाण से जीव-ब्रह्म का भेद बताते हुए महर्षि लिखते हैं—

"इससे भी 'आत्मस्थ' शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक-व्याप्य तथा अन्तर्यामी-अन्तर्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते ।" (वेदान्तिध्वान्तनिवारणम्, लघु० ८४)

(ग) महर्षि ने पृथिव्यादि जड़ देवों की पूजा का खण्डन तथा एक परमेश्वर की उपासना का मण्डन करते हुए उपर्युक्त श्लोक ऋ० भू० के 'वेदविषयविचार' प्रकरण में प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । और पाश्चात्य विद्वानों की इस विषय में उत्पन्न भ्रान्तियों का सप्रमाण समाधान किया है ।। (ऋ० भू० ५६)

भावार्थ—इस श्लोक में कहीं नित्योऽनित्यानाम्' ऐसा पाठ भी मिलता है । वहां ऐसा अर्थ करना चाहिए कि वह ब्रह्म अनित्य=उत्पन्न होने वाले पदार्थों में नित्य=अविनाशी है । और 'चेतनश्चेतनानाम्' वह ब्रह्म चेतन जीवों में चेतन=सर्वज्ञ ज्ञान का भण्डार है और ज्ञानादि देकर सब जीवों को चेतयिता=चेतना देने वाला है । और वह कामान्=जीवों को कर्मानुसार फल देने वाला है । इससे स्पष्ट है कि चेतन जीवात्मा की सत्ता परब्रह्म से भिन्न है, अन्यथा 'चेतनानाम्' यहां बहुवचन निरर्थक हो जायेगा । इस जीव-ब्रह्म के स्पष्ट भेद को समझकर जो धीर=विवेकी योगी पुरुष अपनी आत्मा में परमात्मा की अनुभूति कर लेते हैं, उन्हें ही शाश्वती शान्तिः=निरन्तर रहने वाली शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं।

उस परब्रह्म का सुख अनिर्देश्य है, उसको जानने के लिए नचिकेता पुनः प्रश्न करता है—

तदेतदिति मन्यन्ते ऽ निर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथन्नु तद् विजानीयां किमु भाति विभाति वा ।।५।१४।।

पदार्थ—(तत्, एतत्) वह यह उक्त (परमम्, सुखम्) परमात्मा का सर्वोपरि मोक्ष सुख (अनिर्देश्यम्) प्रत्यक्ष घट-पटादि पदार्थों की भांति निर्देश नहीं किया जा सकता (इति) इस प्रकार (मन्यते) विद्वान् योगी मानते हैं । और वह ब्रह्म (किम्) क्या (भाति) स्वयं प्रकाश करता है (वा) अथवा (विभाति) किसी अन्य से प्रतिभासित है, इस प्रकार (नु) ब्रह्म के विषय में नचिकेता तर्क करता है कि (कथम्) उस ब्रह्म को कैसे (विजानीयाम्) जानूं ? यह मुझे बताओ ।

भावार्थ—नचिकेता यमाचार्य से फिर प्रश्न करते हैं कि हे आचार्यवर्य ! उस परब्रह्म का सुख घट-पटादि पदार्थों की भांति निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता । क्योंकि वह अवर्णनीय है । जैसे कि अन्यत्र भी कहा है—'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।' **अर्थात् ब्रह्म के परम सुख को वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता, उसका अनुभव अन्तःकरण (मन) से ही किया जाता है । और वह ब्रह्म प्रत्यक्ष भी नहीं दीखता तो फिर हम कैसे जान सकें कि वह ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान है अथवा दूसरों से प्रकाशित है ?**

वह ब्रह्म स्वयंप्रकाशस्वरूप तथा सूर्यादि का प्रकाशक है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥५।१५

पदार्थ—(तत्र) उस ब्रह्म में (सूर्यः) सूर्य (न, भाति) प्रकाश नहीं करता है (न, चन्द्रतारकम्) नहीं चन्द्र तथा तारे प्रकाश करते हैं । (इमाः विद्युतः) ये बिजुलियां (न, भान्ति) प्रकाशित नहीं करतीं (अयम्) यह प्रत्यक्ष (अग्निः) भौतिक अग्नि (कुतः) कहां से प्रकाश करे, क्योंकि जब अग्नि से प्रबल प्रकाश वाला सूर्य ही उसे प्रकाशित करने में असमर्थ है । (तम्, एव) उसी परमात्मा के (भान्तम्) स्वयंप्रकाशमान के प्रकाश से (सर्वम्) सब सूर्यादि (अनुभाति) प्रकाशित हो रहे हैं (तस्य) उसके (भासा) प्रकाश से (इदम्, सर्वम्) यह सब (दृश्यमान सूर्यादि) (विभाति) अच्छी प्रकार प्रकाशित होते हैं ।

महर्षि दयानन्द ने उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—

(क) "सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते । किन्तु इन सब का प्रकाश करने वाला एक

वही है । क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है । इसमें यह जानना चाहिए कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने वाला नहीं है । इससे एक परमेश्वर ही मुख्य देव है ।"

"सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करने वाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं इसमें कठोपनिषत् का भी प्रमाण है ।" (ऋ० भू० वेदविषयविचारः ६३ पृ०)

(ख) महर्षि ने ऋग्वेद के (७।५।४) मन्त्र-भाष्य के भावार्थ में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है–

"हे मनुष्यो ! जिसके आधार में पृथिवी सूर्य स्थित होके अपना कार्य करते हैं । कठोपनिषद् में लिखा है कि–उस परमात्मा को जानने के लिए सूर्य, चन्द्रमा, बिजुली वा अग्नि आदि कुछ प्रकाश नहीं कर सकते किन्तु उसी प्रकाशित परमेश्वर के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं ।"

भावार्थ**—**नचिकेता के प्रश्नानुसार यमाचार्य उत्तर देते हैं कि वह ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान है । उसको ये विशाल सूर्य चन्द्रादि भी प्रकाशित नहीं कर सकते । क्योंकि सूर्य-चन्द्रादि का बनाने वाला ब्रह्म ही है । जैसा कि कहा है–'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।' (ऋग्०) उस एक परमेश्वर ने ही सूर्य, चन्द्रादि को पूर्व सृष्टि की भांति ही बनाया है । और उस परमेश्वर का नाम 'हिरण्यगर्भः' भी इसलिए है कि ये ज्योति के पुञ्ज सूर्यादि लोक भी परमेश्वर के अन्दर गर्भवत् स्थित हैं। अतः सूर्यादि जो भी प्रकाशमान लौकिक पदार्थ हैं, उनमें स्वतः कोई प्रकाश नहीं है । परमात्मा-प्रदत्त प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित हो रहे हैं । अतः मोक्षार्थी को परमात्मा की ज्योति से प्रकाशित सूर्यादि जड़-देवों का आश्रय छोड़ कर एकमात्र परमज्योतिःस्वरूप परमात्मा की ही उपासना या भक्ति करनी चाहिए ।

इति कठोपनिषद्भाष्ये पञ्चमी वल्ली समाप्ता ।।

अथ कठोपनिषद्भाष्ये षष्ठी वल्ली

ब्रह्म ही सब लोकों का आश्रय तथा नियन्ता है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नान्येति कश्चन ॥
एतद्वै तत् ॥ (६।१)

पदार्थ—(ऊर्ध्वमूलः) जिसका मूल=जड़ ऊपर को और (अवाक् शाखः) जिसकी शाखाएं नीचे की ओर हैं, ऐसा (एषः) यह प्रत्यक्ष मनुष्य का शरीर और यह जगत् (सनातनः) प्रवाह से अनादि है । (अश्वत्थः[१]) कल ठहरेगा वा नहीं, इस प्रकार जिसका जीवन पीपल के वृक्ष के पत्ते के समान अस्थिर है । ऐसा मानव-शरीर वा जगत् रूपी वृक्ष जिसके आश्रित है (तत्, एव) वही (शुक्रम्) सृष्टिकर्त्ता तथा परम पवित्र है । (तत्) वह (उ) निश्चय से (ब्रह्म) सब से महान् है (तत्, एव) वह ही (अमृतम्) अविनाशी है, ऐसा विद्वान् पुरुष ब्रह्म के विषय में (उच्यते) कथन करते हैं (तस्मिन्) उस ब्रह्म में (सर्वे) सब (लोकाः) पृथिव्यादिलोक (श्रिताः) आश्रित हैं (तत्) उस ब्रह्म को (उ) निश्चय से (कश्चन) कोई लोक वा पुरुष (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता अर्थात् सभी उसकी अटल व्यवस्था का पालन कर रहे हैं (एतत्) यह (वै) निश्चय से (ब्रह्म) ब्रह्म है ।

भावार्थ—यहां मनुष्य के शरीर को वृक्ष की भांति बताया गया है, यदि मानव-शरीर को उलटा खड़ा कर दिया जाये तो यह वृक्ष की तरह ही नीचे जड़ तथा ऊपर शाखाओं वाला बन जाता है । और यह जड़ जगत् भी इसी प्रकार है, इसका मूल सूर्य ऊपर है, शाखाएँ नीचे हैं। किन्तु शरीरादि जड़ जगत् 'अश्वत्थः=न श्वस्तिष्ठति'=अस्थिर=नष्ट

---

१. 'अश्वत्थ' शब्द की व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है—
श्वः स्थाता न स्थाता वा वर्त्तते तादृशे देहे । (यजु० १२।७९ महर्षिभाष्ये) श्वः स्थास्यति न स्थास्यति वा तस्मिन्ननित्ये संसारे ।
(य० ३५।४ महर्षिभाष्ये)

होने वाला है । परब्रह्म के आश्रय से सब लोक-लोकान्तर स्थित हैं । वह जगत् का निमित्तकारण है, उपादान कारण नहीं । परब्रह्म की व्यवस्था को तोड़ने का किसी का भी सामर्थ्य नहीं है । और वह स्वयं अविनश्वर=कभी नष्ट नहीं होता क्योंकि वह अमृत तथा निर्विकार है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में आचार्य शङ्कर लिखते हैं—

"तस्मिन् परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः।"

अर्थात् ब्रह्म ही एक परमार्थ सत्य है और ब्रह्म से भिन्न जो लोक हैं वे गन्धर्वनगर अथवा मरुमरीचिकाओं में प्रतीत होने वाले जल के समान मायारूप ही हैं, यथार्थ नहीं । यह अद्वैतवादी शङ्कराचार्य की मान्यता मिथ्या है । क्योंकि जो प्रत्यक्ष जड़जगत् दिखाई दे रहा है, उसको गन्धर्वनगर की भांति झूठा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् का अपलाप करना कैसे मान्य हो सकता है । और सत्य वस्तु का कभी अभाव नहीं हो सकता तथा असद् वस्तु की कभी सत्ता सम्भव नहीं है। इस दार्शनिक अटल नियम के अनुसार कार्य जगत् को झुठलाया नहीं जा सकता । प्रलय में भी यह कार्य जगत् प्रकृति में लय हो जाता है, अभाव नहीं होता ।

जगन्नियन्ता परमेश्वर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति का कथन करते हैं—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद् भयं वज्रमुद्यतं एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥६।२॥

पदार्थ—(यत्, इदम्) जो यह (किम्, च) कुछ अथवा परमेश्वर की अपेक्षा छोटा वा तुच्छ (जगत्) जगत् दिखाई देता है (सर्वम्) यह सब (निःसृतम्) परमात्मा द्वारा उत्पन्न हुआ है और यह (प्राणे[१]) सब जगत् को जीवन देने वाले परमात्मा के आश्रय में (एजति) अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त हो रहा है अथवा चलायमान=भ्रमण कर रहा है । वह ब्रह्म दुष्ट-पुरुषों के लिए (उद्यतम्, वज्रम्) हाथ में उठाये वज्र=शस्त्र के समान कर्मानुसार दण्डित करने के कारण (महद्भयम्) अत्यन्त डराने

---

१. 'प्राण' परमात्मा का नाम है । वेद में कहा है—'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।' (अथर्व०) जैसे प्राण के वश सब शरीर, इन्द्रियां होती हैं, वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् होता है। (सत्यार्थ० प्रथम०)

वाला है (एतत्) इस ब्रह्म को (ये) जो विवेकी धीर पुरुष (विदुः) जान लेते हैं (ते) वे (अमृताः) जन्म-मरण रूप दुःखों से मुक्त (भवन्ति) हो जाते हैं ।

भावार्थ—इस समस्त जगत् का बनाने वाला तथा नियन्ता एक परमेश्वर ही है । वही न्यायाधीश होकर कर्मानुसार (पुण्य या पाप के) फल देता है । सूर्यादि सब लोक-लोकान्तर परमेश्वर के रचित हैं, और उसी के नियम से चलायमान हो रहे हैं । कोई जड़ चेतन देव परमेश्वर की अटल व्यवस्था का उल्लङ्घन नहीं कर सकता । जो योगी पुरुष परमेश्वर की व्यवस्था को समझकर उसकी उपासना करते हैं, वे ज्ञानी पुरुष दोषों से छूटकर अमृताः=मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं । क्योंकि परमेश्वर की दण्डनात्मक नियन्त्रण शक्ति को जो भूल जाता है, वह कभी भी दोषों से नहीं छूट सकता ।

परमात्मा की अटल-व्यवस्था का उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता। प्रकारान्तर से इसका कथन करते हैं—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥६।३॥

पदार्थ—(अस्य) इस उपर्युक्त ब्रह्म के (भयात्) भय=अटल नियम से (अग्निः) यह भौतिक अग्नि (तपति) तपता है अर्थात् अपने दाहकता गुण से विरुद्ध आचरण कभी नहीं करता । (भयात्) इस ब्रह्म के भय से (सूर्यः) सूर्य (तपति) ताप=गर्मी व प्रकाश दे रहा है । (च) और (भयात्) इस ब्रह्म के भय से ही (इन्द्रः) विद्युत् (च) और (वायुः) वायु अपना अपना कार्य कर रहे हैं और (पञ्चमः) पांचवां (मृत्युः[१]) मृत्यु=जन्म-मरण से उत्पन्न दुःख परमात्मा के भय=नियम से (धावति) इधर-उधर आता जाता रहता है ।

भावार्थ—जैसे दण्डादि हाथ में लिये स्वामी या गुरुजनों को देखकर नौकर या शिष्य भयभीत होकर अपने-अपने कार्यों में लग जाते

१. 'मृत्यु' का यहां 'दुःख' अर्थ है, प्राणवियोग नहीं । क्योंकि परमात्मा जीवों के कर्मानुसार ही सुख-दुःख देता है । 'यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः' इस वेदमन्त्र में भी 'मृत्युः' शब्द दुःख अर्थ में ही प्रयुक्त है। और प्राणवियोग का समय किसी प्राणी का निश्चित नहीं होता । अतः इस अर्थ की यहां कोई सङ्गति भी नहीं है ।

हैं, ऐसे ही परमेश्वर का भय=जो अटल व्यवस्था है, उस में किसी प्रकार का भी क्षमाभाव नहीं है और नहीं उसको कोई तोड़ सकता है, उसको देखकर या समझकर स्पष्ट हो रहा है कि सूर्यादि जड़देव परमेश्वर के नियमानुसार ही चल रहे हैं । और मृत्यु नाम दुःख का है । वह परमेश्वर जीवों को कर्मानुसार सुख-दुःख देता है । दुःख को देखकर मानव घबराता है । और इस मृत्यु=दुःख से समस्त प्राणी सन्त्रस्त हैं । परमेश्वर के दिये दण्डों को देखकर मानव पापों से बच सकता है । अन्यथा परमेश्वर को भूलकर पापकर्मों में लगा रहता है । यहां मृत्यु से अभिप्राय यमदूतादि से नहीं है, क्योंकि परमेश्वर को अपनी व्यवस्था चलाने के लिए किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है । और यहां अग्नि आदि शब्दों का अभिप्राय जड़ पदार्थों से है, स्वर्गस्थ पौराणिक कल्पित देवविशेषों से नहीं ।

ब्रह्म को जानने तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए मानव शरीर ही सर्वोत्तम है । यह कथन करते हैं—

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्वेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥६।४॥

पदार्थ—(चेत्) यदि (शरीरस्य) मानव शरीर के (विस्रसः) विध्वंस होने=छूटने से (प्राक्) पहले ही (इह) इस मनुष्य जन्म में (बोद्धुम्) ब्रह्म को जानने को (अशकत्) समर्थ हो जाता है तो उसका जीवन सफल है और दुःखों से मुक्त हो जाता है अन्यथा (ततः) मानव-शरीर के वियोग होने के बाद (सर्गेषु) सृष्टि के (लोकेषु) पृथिव्यादि लोकों में (शरीरत्वाय) विभिन्न योनियों में शरीर-धारण करने के लिए ही (कल्पते) समर्थ होता है ।

भावार्थ—इस संसार में मनुष्य योनि ही ऐसी है कि जिसमें ज्ञान-विज्ञान के द्वारा मानव परमेश्वर को जान सकता है और मोक्ष का अधिकारी बन सकता है । मनुष्य से भिन्न पशु-पक्षी आदि योनियां तो परमेश्वर के कारागार=जेलखाने हैं । उनमें कोई जीव श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता । इसलिए उपनिषत्कार कहते हैं कि इस मानव योनि में आकर यदि परमेश्वर को जान लिया तो जीवन सफल है, अन्यथा जन्म-जन्मान्तरों में ही चक्कर लगाना पड़ेगा ।

अब ब्रह्मदर्शन की विविधता का कथन करते हैं—

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥
(६।५)

पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (आदर्शे) दर्पण में (परिददृशे) मुखादि अवयव स्पष्ट दिखाई देते हैं (तथा) वैसे ही (आत्मनि) शरीरस्थ शुद्ध अन्तःकरण में ध्यानयोग से परमात्मा दीखता है । (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में इन्द्रियों और वस्तु का सम्बन्ध न होने पर भी जाग्रद् दशा के संस्कारों से (परिददृशे इव) पदार्थ प्रत्यक्ष से दिखाई देते हैं (तथा) वैसे (पितृलोके[१]) कर्म व उपासना में निरत अवस्था में परमात्मा की प्रतीति होती है । (यथा) और जैसे (अप्सु) जलों में (परिददृशे इव) शरीरावयव दिखाई देते हुए भी दर्पणवत् स्पष्ट नहीं दीखते (तथा) वैसे (गन्धर्वलोके[२]) गानविद्या के रसिकों को परमात्मा की प्रतीति आभासमात्र होती है । परन्तु (ब्रह्मलोके) ब्रह्म को जानने की अवस्था=निर्बीज अथवा निर्विकल्प समाधि में (छाया-आतपयोः, इव) छाया और धूप के समान प्रभु के प्रत्यक्ष दर्शन का भेद स्पष्ट प्रतीत हो जाता है।।

भावार्थ—यहां पितृलोक, गन्धर्वलोक व ब्रह्मलोक कोई स्थान विशेष नहीं हैं किन्तु अवस्थाविशेष हैं । क्योंकि लोकविशेष परमात्मा के जानने में हेतु नहीं हो सकता । और जो परमेश्वर का ध्यान शुद्ध मन से करते हैं, अथवा पितृलोक=कर्म व ईश्वर-उपासना में निरत हैं, अथवा गन्धर्वलोक=परमात्मा के गुणगानमात्र में लगे हैं, अथवा ब्रह्म में ही लीन हैं, इन सब अवस्थाओं में ब्रह्मलोक=जिस दशा में ब्रह्म से भिन्न वस्तुओं का ज्ञान न रहे और स्वरूपशून्य सा हो जाता है, जिसे योग में

---

१. 'पितृलोक' किसी स्थानविशेष का नाम नहीं है किन्तु कर्मोपासना के मार्ग को ही पितृलोक कहते हैं । महर्षि दयानन्द ने इस विषय में लिखा है—"जो विद्यामार्ग है, वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है, वह पितृयान कहाता है ।" (ऋ० भू० पितृयज्ञविषयः)

२. 'गन्धर्वलोक' भी कोई स्थानविशेष नहीं है । यहां भोगासक्त या इन्द्रियों के सुख में लिप्त पुरुष को गन्धर्व शब्द से कहा है जैसे महर्षि-दयानन्द ने लिखा है—"भोगाभिज्ञत्वाद् गन्धर्व इति नियुक्तः पतिः ।" (ऋ० भू० नियोगविषयः)

असम्प्रज्ञातयोग कहते हैं, यह अवस्था ही सर्वोत्तम है । योगी पुरुषों को परमात्मा के साक्षात्कार के लिए इस अवस्था को ही प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये ।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६।६॥

***पदार्थ*—**(पृथगुत्पद्यमानानाम्) अपने-अपने शब्दादि विषयों के ग्रहण करने के लिए अपने-अपने आकाशादि कारण से पृथक्-पृथक् उत्पन्न (इन्द्रियाणाम्) श्रोत्रादि इन्द्रियों का (यत्) (जो पृथग्भावम्) नित्य परमेश्वर से पृथक्भाव है, इस को (च) और (यत्) जो (उदयास्तमयौ) उत्पत्ति तथा विनाशधर्म वाले इन्द्रिय शरीरादि पदार्थों को परमेश्वर से पृथक् (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकी पुरुष (न शोचति) शोकादि दुःखों से युक्त नहीं होता है ।

***भावार्थ*—परमेश्वर चेतन, शाश्वत तथा अविकारी सत्ता है। वह कभी शरीर तथा इन्द्रियादि नश्वर पदार्थों से संयुक्त नहीं होता।** जितने भी विनश्वर पदार्थ हैं, परमेश्वर उनसे भिन्न है । जो जीव इस रहस्य को समझ कर परमेश्वर की उपासना करता है, वह दुःखों से मुक्त हो जाता है । वेद में भी इसी भाव को स्पष्ट रूप से कहा है—'तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति' उस परमेश्वर को यथार्थ रूप से जानकर ही जीव दुःखों से मुक्त होता है । और जो इन्द्रियादि (जीव-सम्बन्ध) के उत्पत्ति-विनाश भाव को नहीं जानता और इन्हीं के भोगों में लिप्त रहता है वह कभी भी दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता । क्योंकि उसे अमरणधर्मा आत्मा का तथा इन्द्रियों के कारण भूत आकाशादि तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान नहीं है।

अब परमेश्वर की सूक्ष्मता का वर्णन क्रमशः करते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादपि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥६।७॥

***पदार्थ*—**(इन्द्रियेभ्यः) श्रोत्रादि-इन्द्रियों से (मनः) मन (परम) सूक्ष्म है (मनसः) मन से (सत्त्वम्[१]) बुद्धि अथवा अहङ्कार (उत्तमम्) अतिशय सूक्ष्म है (सत्त्वाद् अधि) बुद्धि अथवा अहङ्कार से अधिक सूक्ष्म

१. प्रायः सभी व्याख्याकार 'सत्त्वम् पद का अर्थ बुद्धि करते हैं । किन्तु बुद्धि मन एक ही वृत्ति है, पृथक् नहीं । महर्षि दयानन्द ने लिखा

(महान् आत्मा) महत्तत्त्व है (महतः) और महत्तत्त्व से (उत्तम) सूक्ष्म (अव्यक्तम्) प्रकृति नामक कारण है ।

भावार्थ—परमात्मा की सूक्ष्मता बताने के लिए उपनिषत्कार ने प्राकृतिक पदार्थों के आश्रय से समझाने का यत्न किया है । नेत्रादि इन्द्रियां बाह्य हैं, इनसे अभौतिक मन सूक्ष्म है, मन से सूक्ष्म सत्त्व=अहङ्कार है । अहङ्कार से सूक्ष्म महत्तत्त्व है और महत्तत्त्व से सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति है । प्रकृति मूलतत्त्व है तथा महत्तत्त्वादि उसके कार्य हैं । प्रकृति किसी का कार्य या विकार नहीं है । सांख्यदर्शन में इसी बात को इस प्रकार प्रकृति-विकृति भाव से समझाया है—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारादुभयमिन्द्रियम् ।' अर्थात् मूलप्रकृति का विकार महत्तत्त्व महत्तत्त्व का विकार अहङ्कार और अहङ्कार का विकार मन व इन्द्रियां हैं ।

परमात्मा की सूक्ष्मता को इसी प्रकार इसी उपनिषत् की तृतीय वल्ली में 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि के द्वारा समझाया गया है ।

फिर परमेश्वर की सूक्ष्मता का वर्णन करते हैं—

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥६।८॥

पदार्थ—(अव्यक्तात्) सब जड़ जगत् के उपादान रूप प्रकृति कारण से (तु) तो (पुरुषः[१]) सब ब्रह्माण्ड में व्यापक रूप से स्थित

है—'अन्तःकरणं बुद्धि-चित्त-मनोऽहङ्कारवृत्तित्वाच्चतुर्विधम्' ।
(य० ३४।३ भाष्ये)

और मन अहङ्कार का विकार है और अहङ्कार महत्तत्त्व का अतः जब मन और महत्तत्त्व का वर्णन किया है तो अहङ्कार को कैसे छोड़ा जा सकता है ? सांख्यदर्शन में भी यह क्रम रक्खा है—प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम्० । और सत् अव्यक्त प्रकृति का नाम है, सतो भावः=सत्=प्रकृति के भाव को सत्त्व कहते हैं, अतः अहङ्कार को जो प्रकृति का ही भाव है, 'सत्त्व' कहना अनुचित नहीं है ।

१. 'पुरुष' शब्द की व्याख्या इस प्रकार समझनी चाहिए—'पूर्वत्वात् पुरि शयनाद्वा पुरुष इति निरुक्तोक्तेः ।। (आर्याभिविनय० २।८)

यः पुरि सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तते, स्वयमिदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात् सः (पुरुषः परमात्मा)।
(ऋ० भू० ११८ पृ० । यजु० ३१।१ मन्त्रार्थ में)

(व्यापकः) व्यापक (च) और (अलिङ्गः) मूर्त्त चिह्नरहित निराकार परब्रह्म (एव) ही (परः) सूक्ष्म है, (यत्) जिस परमसूक्ष्म परब्रह्म को (जन्तुः) जीवात्मा (ज्ञात्वा) जानकर (मुच्यते) मुक्त हो जाता है, दुःखों से छूट जाता है । (च) और (अमृतत्वम्) मुक्ति को (गच्छति) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—यहां मूल प्रकृति से परमात्मा को सूक्ष्म बताया गया है। अर्थात् लोक में जो कुछ दिखाई देता है, परमात्मा उन सब से सूक्ष्म है। योगी पुरुष उसको जानकर मोक्ष को प्राप्त करता है । और यहां जीव-ब्रह्म तथा प्रकृति तीन तत्त्वों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करके त्रैतवाद को स्पष्ट रूप से माना है । प्रकृति परमात्मा से भिन्न तत्त्व है। जन्तु=जीवात्मा परमात्मा को जानने की इच्छा से योगाभ्यासादि उपायों को करता है । अतः प्राप्य-प्रापक के भेद से ये दोनों भी पृथक्-पृथक् हैं । और 'अमृतत्वं च गच्छति' इस वाक्य से यह भी स्पष्ट है कि जीव का मोक्ष में (परमात्मा में) लय कदापि नहीं होता । अन्यथा 'ब्रह्मैव भवति' लिखना चाहिए था और मोक्ष शुभकर्मों का फल है, यदि जीव ब्रह्म में लय हो जाये तो मोक्ष के सुख को कौन भोगेगा ? अतः अद्वैतवाद की सिद्धि कथमपि नहीं हो सकती ।

पहले परमात्मा को अलिङ्ग कहा है, उसका कारण तथा प्राप्ति का प्रकार बताते हुए वह अब परमात्मा को इन्द्रियागोचर कथन करते हैं—

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥६।९॥

पदार्थ—(अस्य) इस (अलिङ्ग=चिह्नरहित परमेश्वर का (सन्दृशे) प्रत्यक्ष में (रूपम्) कोई रूप (न तिष्ठति) नहीं है (एनम्) इस परमेश्वर को (कश्चन) कोई मनुष्य (चक्षुषा) नेत्रादि इन्द्रियों से (न पश्यति) देख या जान नहीं सकता है । उसके जानने का प्रकार बताते हुए कहा है—(हृदा) हृदय देश में स्थित (मनीषा[१]) विज्ञान को प्राप्त कराने वाली (मनसा) अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्तिरूप बुद्धि के द्वारा

१. 'मनीषा' पद में मन और ईषा दो पदों का समास होने पर 'शकन्ध्वादि' से पररूप हो गया है । इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं—'मनो विज्ञानम् ईषते यया प्रज्ञया सा मनीषा ।' (ऋ० भा० १।५४।८)

(अभिक्लृप्तः) परमेश्वर को सर्वथा जाना जा सकता है अथवा परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है। (ये) जो विवेकी योगी पुरुष (एतत्) इस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः, भवन्ति) मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—इस श्लोक में परमात्मा को रूपादि से रहित होने से इन्द्रियागोचर कहा गया है। योगी पुरुष ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा परमात्मा को जानने में समर्थ हो सकता है। इसलिए जो परमात्मा को साकार मानकर पूजा करते हैं, वे सब भ्रान्ति से ग्रस्त होने से पथभ्रष्ट ही हैं। प्रस्तुत श्लोक में 'मनीषा' पद 'मनसा' का विशेषण है और मन की निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि कहते हैं, अतः 'मनसा' पद से बुद्धि का ग्रहण यहां समझना चाहिए। वह परमात्मा परमसूक्ष्म, सर्वव्यापक और लिङ्ग रहित है, उसके यथार्थ स्वरूप को जानने वाले योगी पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।

अब मुक्ति-दशा का वर्णन करते हैं—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥६।१०॥

पदार्थ—(यदा) जब (पञ्च, ज्ञानानि) योगाभ्यास द्वारा अपने-अपने (विषयों से पृथक् की गई श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियां (मनसा, सह) मन के साथ (अवतिष्ठन्ते) परमेश्वर में स्थिर हो जाती हैं (च) और (बुद्धिः) मन की निश्चयात्मक वृत्ति (न, विचेष्टते) ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती, (ताम्) उसको (परमां, गतिम्) सर्वोत्कृष्ट मोक्ष-अवस्था अथवा जीवनमुक्तिदशा (आहुः) ज्ञानी योगीपुरुष कहते हैं।

"(यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रियां परमेश्वर में स्थिर होके उसी में सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं।" (ऋ० भू० १५१, मुक्तिविषयः)

"जब शुद्ध मनयुक्त पांच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं।" (सत्यार्थ० १९७)

भावार्थ—मोक्ष की दो अवस्थाएँ होती हैं—१. जीवन्मुक्तिदशा, २. शरीरादि से पृथक् होकर परमेश्वर के आनन्द को भोगना। यहां दोनों

अवस्थाओं का वर्णन है । जो जीवन्मुक्त होते हैं, उनके स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीरादि होते हुए भी ये उनके (योगी के) अधीन होते हैं । और शरीरादि से पृथक् होने पर मोक्ष में जीवात्मा के स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं, उन से ही देखना सुननादि जीव करता है । योगिराज महर्षि दयानन्द ने इस विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है—"मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं । जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के सङ्कल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, ·····अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और सङ्कल्पमय शरीर होता है । जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है ।" (सत्यार्थप्र० नवम०)

और अशुद्धियों का नाश तथा ज्ञानदीप्ति होने पर भी जीवात्मा तुरन्त शरीर नहीं छोड़ता । वह 'चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः' (सां० ३।८२) जैसे कुम्भकार=कुम्हार चाक को दण्ड से घुमाकर छोड़ देता है और दण्ड न होने पर भी कुछ काल तक चाक चलता रहता है, उसी प्रकार विवेक-ज्ञान से समस्त अविद्या के दूर होने पर भी फलोन्मुख प्रारब्ध कर्मों से जीवन्मुक्त का भी शरीर बना रहता है । प्रस्तुत श्रुति में 'परमगति' (मोक्ष) शब्द से दोनों अवस्थाओं का वर्णन समझना चाहिए। और जीवन्मुक्त पुरुष का दूसरे पुरुषों से क्या भेद हो जाता है, इसका भी स्पष्टीकरण इस श्रुति से हो रहा है अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष की सब इन्द्रियां तथा मन अपने विषयों से उपरत होकर स्थिर हो जाते हैं और बुद्धि-मन की निश्चयात्मक वृत्ति ज्ञान के विरुद्ध चेष्टा से निवृत्त हो जाती है । यहां 'ज्ञानानि' पद से ज्ञानेन्द्रियों का ही प्रकरण के अनुसार ग्रहण करना चाहिए ।

समीक्षा—यहां आचार्य शङ्कर ने "बुद्धिश्च न विचेष्टते= बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टते स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते।" अर्थात् बुद्धि अपना व्यापार मोक्षदशा में बन्द कर देती है । यह शङ्कर स्वामी की भ्रान्ति ही है । क्योंकि बुद्धि जीवन्मुक्त दशा में अपना कार्य तो करती है, किन्तु ज्ञानविरुद्ध आचरण नहीं करती । यह महर्षि दयानन्द ने ही स्पष्ट अर्थ किया है । और मोक्ष में भी बुद्धि (जीव का

स्वाभाविक गुण) अपना कार्य अवश्य करती है । जैसा कि शतपथ ब्राह्मण (का० १४) में लिखा है–'बोधयन् बुद्धिर्भवति ।' यदि बुद्धि आदि अपना-अपना कार्य न करें तो योगी जड़ की भांति निश्चेष्ट बैठा रहे तो उसे आनन्द ही क्या मिल सकता है ? अतः शाङ्कर-व्याख्या सत्यार्थ का प्रकाश नहीं करती ।

अब उपासना योग को ही मोक्ष का साधन कथन करते हैं–

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥६।११॥

पदार्थ—(स्थिराम्) ज्ञानेन्द्रियों की मन के साथ परमेश्वर में स्थिति तथा (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों की धारणा=वश में करने वाली (ताम्) पूर्वोक्त परमगति को विद्वान् योगी पुरुष (योगमिति) योग की सिद्धि या योग की सफलता (मन्यन्ते) मानते हैं । (तदा) उस समय योगी (अप्रमत्तः, भवति) अविद्यादि क्लेशों से रहित होने से प्रमाद-रहित हो जाता है । (हि) क्योंकि (योगः) यह उपासनायोग ही (प्रभवाप्ययौ) प्रभवः=सत्यगुणों का प्रकाश व शुद्धि कराने वाला और अप्ययः=अविद्यादि दोषों तथा अशुद्धि का नाश करने वाला है ।।

"(तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं । जब मनुष्य उपासना योग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है, तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ । वह उपासना योग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करने वाला तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करने वाला है, इसलिए केवल उपासनायोग ही मुक्ति का साधन है ।।" (ऋ० भू० १५२, मुक्तिविषयः)

भावार्थ—यहां उपनिषत्कार ने योग का लक्षण तथा योग से लाभ दोनों बातों पर प्रकाश डाला है । इन्द्रियों का निरोध करके मन के साथ परब्रह्म के स्वरूप में मग्न करना ही योग है । इसी को योगदर्शनकार ने इस प्रकार लिखा है–'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे-ऽवस्थानम् ।' (योग० १।२-३) अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है और वृत्तिनिरोध होने पर परमात्मा के स्वरूप में स्थिति करना । और यहां योग से दो लाभ बताये हैं–अप्ययः=योग से अशुद्धि

अथवा अविद्या का नाश होता है और प्रभवः=ज्ञानदीप्ति या सत्यगुणों का प्रकाश होता है । इसी बात को योगदर्शन में इस प्रकार लिखा है– "योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः" । (योग० २।२८) अर्थात् यम नियमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होता है और विवेकख्याति होने तक ज्ञानदीप्ति होती है । यहां योगदर्शन तथा उपनिषद् में ब्रह्म प्राप्ति का एक ही मार्ग बताया है । उसमें कोई विरोध नहीं है । और यहां 'अप्रमत्तः' शब्द से यह भी स्पष्ट किया है कि योगी को निरन्तर दीर्घकाल पर्यन्त योग का अभ्यास दृढास्था से करना चाहिए ।

मोक्षप्राप्ति के लिए इन्द्रियों का निग्रह करना परमावश्यक है, अब क्योंकि इन्द्रियागोचर परमेश्वर की प्राप्ति इन्द्रियों से सम्भव नहीं । अब यह पुनः स्पष्ट करते हैं–

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥६।१२॥

***पदार्थ*—**वह परमेश्वर (न, एव, वाचा) न तो वाणी[1] आदि कर्मेन्द्रियों से (न मनसा) न मन से और (न चक्षुषा[2]) न नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से (प्राप्तुं शक्यः) प्राप्त हो सकता है । किन्तु (अस्तीति ब्रुवतः) परमेश्वर की सत्ता अवश्य है, ऐसा कहने वाले से (अन्यत्र) भिन्न प्रसङ्ग में (तत्) वह परब्रह्म (कथम्) किस प्रकार (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् इस समस्त जगत् का उत्पत्तिकर्त्ता, नियन्ता, पालक तथा स्वामी कोई अवश्य है, क्योंकि विना कर्त्ता के कोई वस्तु स्वयं नहीं बन सकती । अतः उस परब्रह्म की सत्ता मानकर उसको ध्यानादि योग के अङ्गों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ।

***भावार्थ*—**नेत्रादि समस्त इन्द्रियों के अपने-अपने ग्राह्य रूपादि विषय हैं । उनको वे इन्द्रियां ग्रहण करती हैं । परन्तु परम-सूक्ष्म, निराकार तथा सर्वव्यापक चेतन सत्ता है, वह इन इन्द्रियों का विषय है ही नहीं । अतः इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । परन्तु समस्त जगत् की रचना, नियन्त्रण तथा व्यवस्था को देखकर परब्रह्म की सत्ता

१. 'वाणी' शब्द समस्त कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है ।
२. 'चक्षु' शब्द समस्त ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण समझना चाहिए।

की प्रतीति अवश्य होती है । क्योंकि जो वस्तु संयोग से बनी है वह जड़ जगत् विना कर्ता के स्वयं नहीं बन सकता । अल्पज्ञ जीवात्मा का जगदुत्पत्ति करने का सामर्थ्य हो नहीं सकता, अन्यथा कोई तो जीवात्मा, दूसरा सूर्य, दूसरी पृथ्वी इत्यादि बनाकर दिखाता । अतः उस सर्वज्ञ परब्रह्म की सत्ता में दृढ़ विश्वास करना ही पड़ता है । और उसकी प्राप्ति उपासनादि के विना नहीं हो सकती ।

अब परब्रह्म की सत्ता को मानना अविद्यादि दोषों को दूर करने के लिए परमावश्यक बताते हुए कहते हैं—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥६।१३॥

पदार्थ—(च) और (उभयोः) ईश्वर-विषयक 'अस्ति-नास्ति' इन दोनों पक्षों में (तत्त्वभावेन) प्रकृति से बने पृथिवी आदि पाञ्चभौतिक कार्यों से (अस्तीति एव) परमेश्वर की सत्ता अवश्य ही है, अतः (उपलब्धव्यः) वह प्राप्त करने योग्य है, यह मानना चहिए । अन्यथा ईश्वर की सत्ता के विना सृष्टिरचनादि कार्य सम्भव नहीं है । (अस्ति, इति, एव) वह परमेश्वर है, इस प्रकार (उपलब्धस्य) योग द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करने वाले योगी पुरुष की (तत्त्वभावः) पञ्चतत्त्वों से बने शरीर, इन्द्रियादि (प्रसीदति) प्रसन्न=शुद्ध होकर शोकरहित हो जाती हैं ।

भावार्थ—परब्रह्म अतीव सूक्ष्म होने से इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता । अतः जो योगी नही हैं, उनको परब्रह्म की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः परब्रह्म की सत्ता में दृढ़ विश्वास करके जो परब्रह्म की उपासना करते हैं, उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, क्योंकि वह दुष्कर्मों से पृथक् रहकर श्रेष्ठ कार्यों में ही सदा निरत रहता है । और जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह कभी भी शोकादि दुःखों से नहीं बच सकता । इसीलिए योगदर्शनकार ने 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' कहकर ईश्वरानुग्रह को समाधि में मुख्य कारण बताया है । अतः नास्तिक मनुष्य कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ।

समीक्षा—यहां आचार्य शङ्कर ने 'उभयोः' पद की 'सोपाधिक-निरुपाधिकयोः' व्याख्या असङ्गत की है । क्योंकि मन्त्र में परब्रह्म की सत्ता की महत्ता बताई है, अतः सत्ता मानने वाला तथा दूसरा न मानने

वाला अर्थात् आस्तिक-नास्तिक रूप अर्थ ही करना सङ्गत होता है । अद्वैतवाद के अनुसार परब्रह्म निरुपाधिक है, और जीवात्मा सोपाधिक है। अविद्यादि उपाधि की सत्ता मानकर अद्वैतवाद की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती । और एक ही ब्रह्म को अविद्या से युक्त तथा अविद्या से रहित कहना या मानना भी अविद्या की बात है । क्योंकि व्यवधान या उपाधि दो वस्तुओं में ही सम्भव है, एक में नहीं ।

अब परमात्मा के साक्षात्कार का फल-कथन करते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥६।१४॥

पदार्थ—(यदा) जब परवैराग्यदशा में (अस्य) इस योगी पुरुष के (हृदि[१] श्रिताः) अन्तःकरण में स्थित (ये, कामाः) जो वासनाएँ अथवा विषय-भोगों की इच्छाएँ हैं, (सर्वे) वे सब (प्रमुच्यन्ते) दूर हो जाती हैं । अथवा दग्ध-बीज की भांति होकर प्रसवोन्मुख नहीं रहतीं । (अथ) इसके पश्चात् (मर्त्यः) योगी पुरुष (अमृतः, भवति) मुक्त हो जाता है । (अत्र) इस अवस्था में (ब्रह्म) परमात्मा व परमात्मा के सम्पर्क से होने वाले आनन्द को (समश्नुते) अच्छी प्रकार योगी पुरुष प्राप्त करता है ।

"(यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है, तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है ।

(प्र०) क्या वह मोक्षपद ही स्थानान्तर वा पदार्थ विशेष है ? क्या वह किसी एक जगह में है, वा सब जगह में ?

(उत्तर) नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, वही मोक्षपद कहाता है और मुक्तपुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।"

(ऋ० भू० १५२ पृ०, मुक्तिविषयः)

---

१. यहां 'हृदय' शब्द से अभिप्राय हृदयस्थ अन्तःकरण से ही है। क्योंकि जीवात्मा का स्थान हृदय है, अतः उसका सूक्ष्मशरीर भी उसके ही साथ रहता है और मन आदि सूक्ष्मशरीर के ही सतरह घटक हैं । और समस्त वासनाएँ मन में रहती हैं, जैसा कि महर्षि दयानन्द लिखते हैं— "तदनुगुणा वासना आशयाः ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्ता ।" (ऋ० भू० उपासना०)

***भावार्थ*—**योगदर्शन में कहा है–'तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्' (यो० ४।१०) अर्थात् चित्त में वासनाएँ अनादि हैं, क्योंकि इच्छाएँ नित्य हैं । और जब तक अनादि काल से सञ्चित विषय-भोगों की उत्कण्ठा तथा उनकी वासनाओं की निवृत्ति या दग्ध बीजवत् प्रसव भाव (फलोन्मुख) से शून्य न की जायें, तब तक मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती । यहां हृदय शब्द से मन का ही ग्रहण है। क्योंकि कामनाएँ ही जीवात्मा के बन्धन का कारण होती हैं । योगाभ्यास से चित्त की वृत्तियों का निरोध होकर परमात्मा के स्वरूप में स्थिति हो जाती है, तब योगी मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है ।

समीक्षा—यहां श्रुति में स्पष्ट कहा है कि जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, ब्रह्म नहीं होता । अर्थात् परमात्मा के अपहतपाप्मा आदि गुणों को धारण करके शुद्ध हो जाता है, तब परमात्मा को जानकर ब्रह्मानन्द को भोगता है । परन्तु आचार्य शङ्कर ने यहां पूर्वाग्रह वश "ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म ही हो जाता है, यह उपनिषत् से विरुद्ध व्याख्या की है । क्योंकि जीव-ब्रह्म में यह मुख्य भेद है कि ब्रह्म सदा मुक्त है । जैसा योगभाष्य में कहा है–'स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति' (योगभाष्ये १।२४) यदि ईश्वर भी जन्म-मरणादि के बन्धनों में बंध जाये तो उसे सदामुक्त नहीं कहा जा सकता । परन्तु जीवात्मा बन्धनों में बंधता तथा योगाभ्यासादि करके मुक्त भी होता है । अतः जीव-ब्रह्म में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध ही मानना चाहिए ।

इस उपनिषत् का ब्रह्म के साक्षात्कार का फल कथन ही मुख्य प्रयोजन है । यह कथन करते हैं–

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥६।१५॥

***पदार्थ*—**(यदा) जब पर वैराग्य[१] की दशा में (इह) इसी जन्म

१. 'परवैराग्य' शब्द का स्पष्टीकरण योगदर्शन से होता है। वैराग्य का लक्षण है–ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्' (व्यासभा० १।१६) ज्ञान की पराकाष्ठा=उत्कृष्ट सीमा ही वैराग्य है । और जब असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की समस्त वृत्तियां लीन हो जाती हैं, तब संस्कार रहित चित्त के निरोध का उपाय 'तस्य परवैराग्यमुपायः' (व्यासभा० १।१८) परवैराग्य बताया है । और 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।' (योग० १।१५) देखे या सुने इन्द्रियों के विषयों की वासनारहित प्रतीति=विषयों में न फंसने को वैराग्य कहते हैं ।

में जीवन्मुक्तावस्था में (हृदयस्य) अन्तःकरण की (सर्वे, ग्रन्थयः) सब अविद्यादि क्लेशों की गाठें (प्रभिद्यन्ते) छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो जाती हैं अथवा अविद्या मिथ्याज्ञानादि नष्ट होकर ज्ञान की ज्योति प्रकाशित हो जाती है, (अथ) उसके पश्चात् (मर्त्यः) योगी पुरुष (अमृतः, भवति) मुक्त हो जाता है । (एतावत्) इतनी ही (अनुशासनम्) शास्त्र की शिक्षा या उपदेश है ।।

"(यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न भिन्न होके टूट जाती हैं, तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ।"

(ऋ० भू० १५२ पृ०, मुक्तिविषयः)

भावार्थ—इस श्रुति में भी पूर्वोक्त बात को ही प्रकारान्तर से कहा गया है कि जब तक योगी पुरुष की मन की अविद्यादि के कारण बनी ग्रन्थियां नष्ट नहीं होतीं, तब तक मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः प्रथम मानसिक समस्त कामनाओं से मुक्ति पाना आवश्यक है और तत्पश्चात् संसार के भोगों को भोगते-भोगते मन में जो वासनाएँ बन जाती हैं, जिनके कारण जीवात्मा पुनः विषयों के भोग में प्रवृत्त होता रहता है, उनका दग्धबीज की भांति नष्ट करना भी परमावश्यक है । यह ही योगी पुरुष के लिए शास्त्रों का मुख्य उपदेश है ।

समीक्षा—यहां नवीन वेदान्त के प्रवर्त्तक शङ्कर-स्वामी ने लिखा है कि सब वेदान्तों का यही उपदेश है कि—जब जीवात्मा ब्रह्म हो जाता है, उस के बाद शास्त्रोपदेश की आवश्यकता नहीं रहती परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है । प्रथम तो जीव ब्रह्म नहीं बन सकता । और मोक्ष प्राप्त करके भी ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान के विना मोक्ष के आनन्द को कैसे भोग सकता है ? मोक्ष कोई मूढावस्था के समान नहीं है ।

अब जीवन्मुक्त योगी पुरुष की शरीर से उत्क्रान्ति का इस प्रकार कथन करते हैं—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासाम्मूर्द्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति ।।६।१६।।

पदार्थ—(हृदयस्य) मानव के हृदय[1] की (शतम् च एका) एक

---

१. 'हृदय' को समझने के लिए (कठो० ६।१७) की टिप्पणी पढ़िये ।

सौ एक (नाड्यः) नाड़ियां होती हैं (तासाम्) उनमें से (एका) एक 'सुषुम्णा' नामक नाड़ी (मूर्धानम्) ब्रह्मरन्ध्र में (अभिनिःसृता) जाकर निकली हुई है । (तया) उस सुषुम्णा नाड़ी से (ऊर्ध्वम्) शरीर में ऊर्ध्वदेशस्थ ब्रह्मरन्ध्र को (आयन्) गमन करता हुआ अर्थात् मरण समय में ब्रह्मरन्ध्र से निकलता हुआ योगी पुरुष का आत्मा (अमृतत्वम्, एति) मोक्षपद को प्राप्त करता है । (च) और (अन्याः) उस नाड़ी से दूसरी सौ नाड़ियां (उत्क्रमेण) विपरीत फल देने से (विष्वङ्,[२] भवन्ति) नाना प्रकार की कर्मानुसार विभिन्न योनियों का कारण होती हैं ।

भावार्थ—जीवात्मा की शरीर से उत्क्रान्ति (निकलना) शरीरस्थ छिद्रों (नेत्रादि) से ही होती है । मृत्यु को प्राप्त शरीरों में हम यह स्पष्ट देखते हैं कि किसी का मुंह फटा रहता है, या किसी की आंखादि । परन्तु ये सब मृत्यु निकृष्ट हैं । जीवात्मा इस शरीर में हृदय में रहता है और हृदय में एक सौ एक नाड़ियां यहां बताई हैं । उनमें से जीवन्मुक्त पुरुष की आत्मा का उत्क्रमण 'सुषुम्णा' नामक नाड़ी से होता है, जो हृदय से शिरस्थ ब्रह्मरन्ध्र से मिली हुई है । इसके द्वारा जीवात्मा का शरीर से उत्क्रमण मोक्ष देने वाला होता है, और दूसरी सौ नाड़ियों से जिसका उत्क्रमण होता है, वह साधारण मृत्यु है । वह मरणोत्तर कर्मानुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त करता है । इसलिये मोक्षार्थी को योगाभ्यास अवश्य करना चाहिए । क्योंकि योग की विधियों से ही शरीरस्थ सब नाड़ियों का सूक्ष्म-विज्ञान प्राप्त होता है और प्राणायामादि की विद्या से जीवात्मा ऊर्ध्वगति करने से सामर्थ्य प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी बन जाता है ।

जो योगी नहीं है वह अपनी शरीरस्थ शक्तियों अथवा साधनों को अपने आधीन नहीं रख सकता, अतः मृत्यु के समय दैवाधीन होकर जिस ओर उसकी गति तेज हो जाती है, उसी ओर से आत्मा का निष्क्रमण हो जाता है ।

समीक्षा—इस श्रुति से यह भी स्पष्ट है कि मोक्ष-प्राप्ति केवल ज्ञानजन्य ही नहीं है, प्रत्युत तदनुसार कर्म-जन्य भी है । ज्ञान के अनुसार कर्मानुष्ठान करना भी परमावश्यक है परन्तु नवीन वेदान्त की मान्यता इससे भिन्न है । उनके अनुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्य-ज्ञान से

२. विष्वङ्=यो विषु सर्वत्र विभिन्नयोनिषु अञ्चति प्राप्नोति सः ।

जीव ब्रह्म हो जाता है और योगी पुरुष का उत्क्रमण भी नहीं होता । यह उनकी भ्रान्ति तथा इस उपनिषत् की श्रुति से विरुद्ध होने से मिथ्या मान्यता है । स्वामी शङ्कराचार्य ने इस श्रुति की व्याख्या में लिखा है— "प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यते । ......ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्विपरीताः संसारभाजः तेषामेव गतिविशेष उच्यते ।" अर्थात् जिसकी अविद्यादि समस्त ग्रन्थियां नष्ट हो जाती हैं, उस ब्रह्मभाव को प्राप्त विद्वान् की उत्क्रमणादि कोई गति नहीं होती । यहां जो उत्क्रमण-गति के विषय में कहा है, यह तो जो कम ब्रह्मज्ञान वाले या विद्यान्तर में लगे हुए हैं, उनके विषय में कहा है ।"

यहां शङ्कर-स्वामी ने उपनिषदों से विरुद्ध, मिथ्याग्रह के कारण ही ऐसी व्याख्या लिखी है । उपनिषद् में आत्मा की उत्क्रान्ति सब की मानी है, किन्तु मोक्षार्थी की विशेषगति कही है । 'ऊर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इस वाक्य से स्पष्ट है कि मोक्ष को प्राप्त करने वाले की उर्ध्वगति होती है। और वह योगी मोक्ष को प्राप्त करता है, न कि ज्यों का त्यों ब्रह्म बन जाता है ।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए भौतिक-शरीर से जीवात्मा के उत्क्रमण को उदाहरण देकर समझाते हैं—

अङ्‌गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥६।१७॥

पदार्थ—जो (अङ्‌गुष्ठमात्रः) अङ्‌गुष्ठमात्र स्थान में रहने वाला (पुरुषः) शरीर रूपी नगरी में स्थित (अन्तरात्मा) जीवात्मा (जनानाम्) प्राणियों के (हृदये) हृदय[१] में (सदा, सन्निविष्टः) सदा स्थित रहता है

१. यहां जीवात्मा का शरीर में हृदय में स्थान बताया है । और हृदय शब्द को स्पष्ट करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं.........परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । (ऋ० भू० उपासना०)

इससे स्पष्ट है कि उपासक जीव और उपास्य परमेश्वर दोनों का मिलन हृदय स्थान में ही हो सकता है, हृदय से अन्यत्र परमेश्वर का ध्यान करना भ्रान्ति मात्र है ।"

(तम्) उस जीवात्मा को (मुञ्जाद् इव) जैसे मूञ्ज से (इषीकाम्) सींक को (धैर्येण) प्रमाद-रहित होकर सावधानी से (प्रवृहेत्) पृथक् किया जाता है, वैसे प्रयाण काल में (स्वात्, शरीरात् प्रवृहेत्) अपने इस भौतिक शरीर से धैर्य=विवेकी होकर पृथक् करे । और (तम्) उस जीवात्मा को (शुक्रम्) शुद्ध=रागद्वेषादि दोषों से रहित (अमृतम्) शरीरादि की भांति न मरने वाला शाश्वत (विद्यात्) जानना चाहिए । मूलपाठ के अन्त में द्विरुक्ति उपनिषद् की समाप्ति को बताने के लिए है ।

***भावार्थ*—**उपनिषदादि आध्यात्मिक ग्रन्थों में पुरुष शब्द का प्रयोग जीवात्मा व परमात्मा दोनों के लिए आता है । क्योंकि 'पुरि शेते पुरुषः' इस ब्रह्माण्ड रूपी पुर में शयन=स्थित होने से परमात्मा पुरुष है और इस पाञ्चभौतिक शरीर में निवास करने से जीवात्मा पुरुष है । किन्तु प्रकरणानुसार ही पुरुष शब्द की सङ्गति लगानी चाहिए । कठोपनिषद् के (४।१२-१३) में भी 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' कहा है, किन्तु 'ईशानो भूतभव्यस्य=भूत व भविष्यत् का अध्यक्ष या रचयिता परमेश्वर ही हो सकता है, अतः वहां परमेश्वर परक ही व्याख्या उचित है । और यहां 'तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेत्=उसको अपने शरीर से पृथक् करे इस कथन से जीवात्मा परक ही व्याख्या उचित है । क्योंकि परमात्मा शरीरादि से रहित तथा व्यापक है, उसका पृथक् करना कैसे सम्भव है ? जीवन्मुक्त का शरीर छोड़ना कथन से भी जीवात्मा की ही सङ्गति ठीक है । कुछ विद्वानों ने इस मन्त्र की व्याख्या परमात्मा परक की है, वह उपनिषत्कार के आशय से विपरीत होने से असङ्गत है । और जीवात्मा-परमात्मा का मिलन स्थान अङ्गुष्ठमात्र हृदय ही है, अतः इस शब्द का प्रयोग दोनों के लिए किया गया है । परमात्मा के लिए प्रयुक्त 'अङ्गुष्ठमात्रः' शब्द की व्याख्या "अंगुष्ठ-परिमाणं हृदयं प्राप्तिस्थानं यस्य=अङ्गुष्ठ परिमाण वाला हृदय, जिसको 'ब्रह्मपुर' कहा गया है, जिसकी उपासना या प्राप्ति का स्थान है ।" यह करनी चाहिए और जीवात्मा के लिए प्रयुक्त 'अङ्गुष्ठमात्रः' की व्याख्या-"अङ्गुष्ठमात्रं हृदयं निवासस्थानं यस्य= अङ्गुष्ठमात्र=हृदय जिसका निवास स्थान है ।" यह करनी चाहिए । और जीव-ब्रह्म का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होने से ब्रह्म की उपासना हृदय में ही हो सकती है ।

और इस श्रुति की परमात्मा-परक व्याख्या में दृष्टान्त का भी

विरोध है । मूंज से शलाका के समान शरीरादि के बन्धन से जीवात्मा के पृथक्करण के कथन से जीवात्मा-परक ही व्याख्या इसकी करनी चाहिए । क्योंकि शुद्ध जीवात्मा ही जन्म-मरण से मुक्त होता है परमात्मा नहीं । और यहां 'सदा सन्निविष्टः' पदों से भी यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि परमेश्वर ही सदा सन्निविष्ट होता है, जीव नहीं । क्योंकि यहां 'हृदय में सन्निवेश' कहा है और वे हृदयादि शरीरावस्था में ही हो सकते हैं । अतः यह कहना चाहिए कि शरीर में जीवात्मा की स्थिति हृदय में ही होती है, अन्यत्र नहीं । और यहां जीवात्मा को शुक्रम्=शुद्ध तथा अमृतम्=न मरने वाला' कहा है । यद्यपि ये दोनों पद जीव-ब्रह्म दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं किन्तु यहां शरीरधारी जीवन्मुक्त जीवात्मा के लिए ही प्रयुक्त हैं । उस दशा में जीवात्मा शुद्ध तथा अमृत होता है । अतः इस श्रुति की व्याख्या ब्रह्मपरक कदापि सङ्गत नहीं है। और जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओं के कारण जीवात्मा शरीर को छोड़ना नहीं चाहता । शरीर से पृथक् होने को अविद्यावश बड़ा दुःख मानता है । किन्तु पूर्णज्ञान, वैराग्य तथा ब्रह्म प्राप्ति होने पर अविद्या की सब ग्रन्थियां कट जाती हैं, तब यह शरीरादि का मोह नष्ट हो जाता है और शरीर छोड़ने को जीव दुःख नहीं समझता ।

समीक्षा—इस श्रुति की व्याख्या में शङ्कर स्वामी ने "अमृतम्= यथोक्तं ब्रह्म" लिखकर असङ्गत व्याख्या की है । क्योंकि जिस ब्रह्म को उपनिषदों में 'अकायम्=शरीररहित तथा सर्वत्र व्यापक माना है, उसका प्रथम तो शरीर ही सम्भव नहीं और व्यापक ब्रह्म का पृथक्करण कैसे सम्भव है । वह ब्रह्म तो सब बन्धनों से रहित होने से 'अस्नाविरम्' है, फिर उसका मूंज से सींक के छूटने के समान घटना कैसे सम्भव है ? अतः यहां 'अमृतम् पद का शरीर के साथ नष्ट न होने वाला जीवात्मा ही अर्थ करना उचित है ।

अब ब्रह्मविद्या विषयक यम-नचिकेता के संवाद का फल कथन करते हैं—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥

(६।१८)

पदार्थ—(अथ) इस (ब्रह्मविद्या की प्राप्ति) के पश्चात् (नचिकेतः) नचिकेता (मृत्यु-प्रोक्ताम्) यमाचार्य द्वारा कही गई (एताम्, विद्याम्) इस पूर्वोक्त विद्या को (च) और (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (योग-विधिम्) योग की विधि को (लब्ध्वा) प्राप्त करके=सम्यक् ज्ञान करके (ब्रह्मप्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त हुआ अर्थात् ब्रह्मज्ञान को जान गया (विरजः अभूत्) विवेक पैदा होने से रागादि दोषों से रहित हो गया । (विमृत्युः) और मृत्यु=समस्त दुःखों से मुक्त हो गया । (अन्यः) और (यः) जो कोई (अपि) भी (एवम्) इस प्रकार=नचिकेता की भांति गुरु से (वित्) ब्रह्मविद्या को जानता है, वह (अध्यात्मम्, एव) निश्चय करके अध्यात्म विद्या के फल को प्राप्त कर लेता है ।।

भावार्थ—वेद में मोक्षप्राप्ति का एकमात्र उपाय बताते हुए लिखा है–**"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।"** अर्थात् परमात्मा के सर्वोत्तम मोक्षपद को प्राप्त करने के लिए ब्रह्म का ज्ञान अपरिहार्य है । और रागादि दोषों से छूटकर पूर्ण वैराग्य प्राप्त करने तथा मृत्यु=समस्त दुःखों से छूटने का भी उपाय ब्रह्मज्ञान ही है । जो जीवात्मा मोक्षार्थी है, उसे ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करना ही होगा, अन्यथा कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती । ब्रह्मज्ञान के साथ उपनिषत्कार ने योगविधि की ओर भी ध्यान दिलाया है । क्योंकि ब्रह्मज्ञान तब तक सम्भव नहीं है, जबतक अशुद्धि का नाश व ज्ञान का प्रकाश न हो । इसीलिए योगदर्शन ने कहा–'योगाङ्गानुष्ठानदशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-ख्यातेः ।' अर्थात् योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश और ज्ञान की दीप्ति विवेकख्याति पर्यन्त होती है । अतः योगी पुरुष को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और योगाङ्गों का अनुष्ठान (योगविधि) करना परमावश्यक है ।

समीक्षा—प्रस्तुत श्लोक में कहा है कि नचिकेता ने योगविधि सीख कर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष को प्राप्त किया । यहां 'ब्रह्मप्राप्तः' का अर्थ ब्रह्म को जानना या मोक्ष प्राप्त करना ही है, ब्रह्म होना नहीं । इससे जीव-ब्रह्म के भेद का स्पष्ट वर्णन है । अन्यथा 'ब्रह्म ही हो गया ऐसा लिखा होता इससे अद्वैतवाद की मिथ्या मान्यता का खण्डन हो जाता है ।

अब इस अध्यात्मविद्या की वृद्धि के लिए गुरु-शिष्य दोनों ही

प्रार्थना करते हैं–

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतम् अस्तु मा विद्विषावहै ॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥६।१९॥

***पदार्थ*—**परमेश्वर (नौ) हम दोनों गुरु-शिष्यों की (सह) एक साथ (अवतु) रक्षा करे (नौ) हम दोनों का (सह) एक साथ (भुनक्तु) पालन करे, जिससे हम दोनों (वीर्यम्) ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में आने वाली बाधाओं के सहने आदि रूप सामर्थ्य को (सह) एक साथ (करवावहै) सिद्ध करें (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पढ़ना, पढ़ाना (तेजस्वि) तेजयुक्त हो अर्थात् हमारी विद्या प्रभावशाली और विविध फलों से युक्त हो (मा विद्विषावहै) और पढ़ने-पढ़ाने वाले गुरु शिष्य परस्पर कभी द्वेष न करें (ओ३म्) हे परमेश्वर ! आप हम पर ऐसी कृपा करें कि जिससे हमारे पठन-पाठन में होने वाले (शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः) आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों प्रकार के दुःख शान्त हो जावें और हम निरुपद्रव रूप से ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकें ।

"(सह नाव०) हे सर्वशक्तिमन् हे ईश्वर ! आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें । (सह नौ भु०) और हम सब लोग परस्पर प्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्ति राज्यादि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें । (सह वीर्यं०) हे कृपानिधे ! आपके सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय! हे सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर ! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया इस संसार में प्रकाश को प्राप्त होवे और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे (मा विद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र होके सदा वर्तें । (ओं शान्तिः०) हे भगवान् । आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप एक (आध्यात्मिक) जो कि ज्वर आदि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है । (दूसरा आधिभौतिक) जो दूसरे प्राणियों से होता है और तीसरा (आधिदैविक) जो कि मन और

इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है । इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिए ।"

(ऋ० भू० ईश्वरप्रार्थनाविषयः)

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या संस्कारविधि, आर्याभिविनयादि ग्रन्थों में भी की है ।

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने सब कर्मों के आदि व अन्त में परमेश्वर से प्रार्थना अवश्य करें जिससे उनके कार्य निरुपद्रव व शान्ति से समाप्त हो सकें । विद्या पढ़ने तथा पढ़ाने वाले शिष्य व गुरु दोनों ही इस प्रकार की सम्मिलित प्रार्थना किया करें । उनके मन शुद्ध तथा द्वेषादि से रहित हों, जिससे प्रीति बढ़ने से विद्या-प्राप्ति निर्बाधरूप से हो सके और अध्ययन अध्यापन तेजस्वी बन सके । इसी भाव को निरुक्तकार ने इस प्रकार लिखा है—

'असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्' । अर्थात् जो असूयावृत्ति वाले, कुटिलाचरणयुक्त तथा पुरुषार्थी नहीं हैं, ऐसे शिष्यों को विद्या नहीं पढ़ानी चाहिए । विद्या योग्य शिष्य को पढ़ाने से ही तेजस्विनी होती है ।

❑❑❑

इति कठोपनिषद्भाष्ये षष्ठी वल्ली समाप्ता ।।

ऋतुकालखपक्षाब्दे फाल्गुने च सिते दले ।
नवम्यां रविवासरे भाष्यं पूर्त्तिमगादिदम् ।।

इति गुरुकुलझज्जरेऽधीतविद्येन तत्र भवतामोमानन्दान्तेवासि-
नोत्तरप्रदेशवास्तव्येन श्रीलशिवचरणतातपादानां सुतेन
आचार्योपाधिधारिणा राजवीरशास्त्रिणा व्याख्यातं
कठोपनिषद्-भाष्यम् ।।